आर्यसमाज और उसके निन्दकः एक प्रतिवाद
आर्यसमाज का भविष्य
लॉर्ड मॉर्ले के नाम लिखे गये खुले पत्र का प्राक्कथन
'हत्यारों का इतिहास' की भूमिका

(स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली का दसवां खण्ड)

लेखक

स्वामी श्रद्धानन्द जी

सम्पादक

डॉ. भवानीलाल भारतीय

एम.ए., पी-एच.डी.

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द शोध पीठ,

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डिगढ

1987

प्रकाशक

गोविन्दराम हासानन्द

नई सडक, दिल्ली - ११०००६

ओ३म्

91489

स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली

खण्ड दस

'आर्यसमाज और उसके निन्दक : एक प्रतिवाद'
'आर्यसमाज का भविष्य'
'लॉर्ड मॉर्ले के नाम लिखे गये खुले पत्र का प्राक्कथन'
'हत्यारों के इतिहास की भूमिका'

R081,BHA-S
91489

सम्पादक
० भवानीलाल भारतीय
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द शोध पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

R
871

प्रकाशक

विजय कुमार
गोविन्दराम हासानन्द
नई सड़क, दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९८७

मूल्य : ६० रुपये

मुद्रक

आदर्श प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

विषय-सूची

सम्पादकीय भूमिका	...	५
आर्यसमाज, उसके संस्थान तथा उसके शत्रु और पटियाला अभियोग	...	१७
मिस्टर ग्रे के प्रारम्भिक भाषण का परीक्षण	...	५०
सत्यार्थप्रकाश और षड्यन्त्र	...	५६
स्वामी दयानन्द और अन्य मत	...	७८
श्यामजी कृष्ण वर्मा और आर्यसमाज	...	८६
अंग्रेजी पत्र 'दि टाइम्स' और आर्यसमाज	...	९२
भविष्य की ओर दृष्टि-निरपेक्ष	...	११०
आर्यसमाज का भविष्य	...	११३
आर्यसमाज और राजनीति	...	१२९
वर्तमान परिस्थिति और हमारा कर्तव्य	...	१४४
आर्यसमाज एक राजनैतिक संस्था ?	...	१६४
अंधश्रद्धा पर आधारित धर्म	...	१७०

सम्पादकीय भूमिका

श्रद्धानन्द ग्रन्थावली के इस खण्ड में हम स्वामी श्रद्धानन्द तथा आचार्य रामदेव के संयुक्त लेखन में लिखे गये एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स: ए विण्डिकेशन (आर्यसमाज के निन्दक : एक प्रतिवाद) का संक्षिप्त अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। आर्यसमाज के इतिहास के पाठकों को याद होगा कि १९०९ में भूतपूर्व पटियाला राज्य के एक अंग्रेज अधिकारी वारवर्टन की साजिश से आर्यसमाज पटियाला के अधिकारियों और सभासदों पर भारतीय दण्ड-संहिता की धारा १२४-ए तथा १५३-ए के अन्तर्गत राजद्रोह तथा षड्यन्त्रात्मक गतिविधियों का मुकद्दमा दायर किया गया था। वारवर्टन पटियाला राज्य में एक साथ ही पुलिस तथा जेल के महानिरीक्षक एवं जिला मजिस्ट्रेट जैसे महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य कर रहा था। उसकी आयु सत्तर वर्ष की हो चुकी थी, किन्तु वह अपना कार्यकाल और बढ़ाने की फिराक में था। इसके लिए आवश्यक था कि उसका प्रभाव राज्य में बढ़े। अपने तुच्छ स्वार्थ की पूर्ति के लिए उसने महाराजा पटियाला को स्थानीय आर्यसमाजियों के विरुद्ध यह कहकर भड़काया कि इन लोगों के द्वारा रियासत और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ राजद्रोहात्मक कार्यवाहियाँ की जा रही हैं और ये लोग खतरनाक किस्म के षड्यन्त्रकारी हैं। वारवर्टन को इस दुरभिसंधि में सफलता मिली और ११ अक्टूबर १९०९ को आर्यसमाज पटियाला के प्रधान राय ज्वालाप्रसाद (जो उस समय पटियाला में अधीक्षक अभियन्ता के पद पर कार्यरत थे) सहित ८४ आर्यसमाजियों पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इस अभियोग को निपटाने के लिए महाराजा ने तीन न्यायाधीशों के एक पटल का गठन किया, जिसमें एक सिख, एक हिन्दू और एक मुसलमान न्यायाधीश को रक्खा गया। सरदार भगवानसिंह, लाला रामप्रसाद और मौलवी फजलमतीन के इस न्यायिक ट्रिब्यूनल ने पटियाला षड्यन्त्र केस की सुनवाई आरम्भ की। अभियोजन-पक्ष की ओर से लाहौर के एक प्रसिद्ध वकील एडवर्ड ग्रे की सेवाएँ ली गईं। उनकी सहायता एक पारसी वकील पेस्टनजी दादाभाई तथा एक सिख वकील सरदार नगीनासिंह कर रहे थे। आर्यसमाज के पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए लाहौर के प्रसिद्ध बैरिस्टर रोशनलाल, जालंधर के विख्यात आर्यनेता वकील बद्रीदास (बाद में दीवान बहादुर) तथा लाला चरणदास को कहा गया।

स्वयं महात्मा मुन्शीराम भी गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य-पद को स्वल्पकाल के लिए छोड़कर उक्त वकीलों की सहायता के लिए पटियाला आये थे। पीत वस्त्रधारी आचार्य मुन्शीराम को वकीलों का काला चोगा पहनना पड़ा।

पटियाला-अभियोग के विस्तृत विवरण तथा उसमें आर्यसमाज के पक्ष को प्रस्तुत करनेवाला उक्त ग्रन्थ १९१० ई० में पण्डित अनन्तराम शर्मा के प्रबन्ध से 'सद्धर्मप्रचारक प्रेस' गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित हुआ था। ७७ वर्ष पूर्व प्रकाशित यह ग्रन्थ आर्यसमाज के तत्कालीन इतिहास का एक प्रामाणिक दस्तावेज तो है ही, इसके अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि अंग्रेजी शासन में आर्यसमाज को किस-किस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। आर्यसमाज की लोकप्रियता और उसके देशहितैषी कार्यों से जो लोग सबसे अधिक नाराज थे, उन्हें हम तीन वर्गों में रख सकते हैं। प्रथम तो ईसाई और और मुसलमान धर्मप्रचारक यह अनुभव करने लगे थे कि आर्यसमाज ने अपने धर्मान्दोलन के द्वारा हिन्दू समाज में जो जागृति उत्पन्न की है, उसके कारण अब हिन्दुओं का ईसाई या मुसलमान बनना प्रायः रुक गया है। आर्यसमाज ने हिन्दुओं के अन्य धर्मों में प्रवेश होने को तो रोका ही, साथ ही सैमेटिक मतों की युक्ति, तर्क एवं विज्ञानविरुद्ध मान्यताओं पर जैसा तीखा प्रहार किया, उसके कारण इन मतों के प्रचारक सर्वथा बौखला उठे। ऐसी स्थिति में आर्यसमाज के विरुद्ध उनका हमला बोलना समझ में आनेवाली बात थी। आर्यसमाज के विरुद्ध लेखबद्ध प्रचार करने में ईसाई और मुसलमान पत्रों का भी कम हाथ नहीं था। समय-समय पर आर्यसमाज के मन्तव्यों और कार्यों की तीव्र आलोचना इन पत्रों के माध्यम से की जाती थी। सनातनी प्रेस भी इस काम में किसी से पीछे नहीं था। किन्तु आर्यसमाज पर सर्वाधिक वक्रदृष्टि अंग्रेज नौकरशाही और उसके चापलूस सहवर्गियों की थी। ये लोग आर्यसमाज के प्रत्येक देशभक्तिपूर्ण सिद्धान्त, मन्तव्य तथा कार्यक्रम में राजद्रोह और षड्यंत्र सूंघते थे। उनकी दृष्टि में आर्याभिविनय की निर्दोष प्रार्थनाएँ भी आर्यों को विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करती थीं[1] तथा आर्यसमाज के गुरुकुलों में छात्रों को ब्रिटिश शासन को उलटने के तरीके सिखाये जाते थे।

किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा विपरीत थी। यह तो सत्य है कि स्वामी

---

१. 'आर्याभिविनय' में व्याख्यात यजुर्वेद (३८।१४) के मंत्र 'इषे पिन्वस्व' की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने लिखा था—'अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों, तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।' एडवर्ड ग्रे ने इसी प्रार्थना की ओर संकेत करते हुए कहा था कि ऐसी प्रार्थना करनेवाले आर्य लोग अंग्रेजी सरकार के वफादार कैसे हो सकते हैं? —सम्पादक

दयानन्द की शिक्षाएँ पूर्णतया राष्ट्रभक्ति और स्वराज्य की अर्चना के भावों से ओतप्रोत हैं,[1] किन्तु उन्होंने शस्त्र-बल से विदेशी शासन को तुरन्त हटाने के लिए देशवासियों को प्रेरित किया हो, ऐसा कोई संकेत उनके जीवन या उनके लेखन में हमें नहीं मिलता।[2] इसके विपरीत स्वामी दयानन्द का सुदृढ़ विश्वास था कि स्वराज्य-प्राप्ति से पूर्व इस देश के लोगों को उसके लिए उचित अर्हता प्राप्त करनी होगी। उनकी दृढ़ धारणा थी कि जब तक भारतवासी अपनी सामाजिक बुराइयों से मुक्ति प्राप्त नहीं कर लेते, जब तक हममें पारस्परिक फूट, विद्वेष और कलह रहेगी तथा जब तक एक धर्म, एक भाषा, एक भाव और जीवन-यापन की एक ही पद्धति को हम स्वीकार नहीं कर लेंगे, तब तक हमारा विदेशी पराधीनता से छूट जाना असम्भव ही है।

स्वामी दयानन्द की राजनैतिक दृष्टि दूरदर्शितापूर्ण तथा बहुत गहराई तक जानेवाली थी। उन्होंने यह जान लिया था कि अंग्रेज जाति किन गुणों के कारण संसार में अपने साम्राज्य का विस्तार कर पाई है और भारत के लोग अपने किन अवगुणों और दोषों के कारण पराधीनता के पाश में जकड़े जा चुके हैं।[3] स्वामी जी अंग्रेजों के न तो अंध-प्रशंसक थे और न अंध-निन्दक। उन्हें अंग्रेजी राज्य में एक ही खूबी नजर आई थी और वह उन-जैसे धर्मोपदेष्टा के कार्य में सहायक भी थी। स्वामी जी मानते थे कि अंग्रेजी राज्य में मत-मतान्तरों

---

१. विस्तार के लिए देखें सत्यदेव विद्यालंकार लिखित 'राष्ट्रवादी दयानन्द'।

२. कुछ नये तथाकथित शोधकर्ता बिना किसी ठोस प्रमाण के १८५७ की हलचल में स्वामी दयानन्द की भूमिका की कल्पना कर रहे हैं। —सम्पादक

३. स्वामी दयानन्द ने यूरोपियनों के कतिपय चारित्रिक गुणों की प्रशंसा करते हुए सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—"यूरोपियनों में बाल्यावस्था में विवाह न करना, लड़का-लड़की को विद्या सुशिक्षा करना-कराना, स्वयंवर-विवाह होना, बुरे-बुरे आदमियों का उपदेश नहीं होता, वे विद्वान् होकर जिस किसी के पाखण्ड में नहीं फँसते, जो कुछ करते हैं वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित करके करते हैं, अपनी स्वजाति की उन्नति के लिए तन, मन, धन व्यय करते हैं, आलस्य को छोड़ उद्योग किया करते हैं।" इसी प्रकार भारत-देशवासियों के पतन के कारणों का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया—"विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का पालन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि, कुलक्षण, वेद-विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है।"

की आलोचना करने, अपने मत की विशेषताओं को प्रख्यापित करने तथा धार्मिक प्रश्नों पर निर्भीक होकर वाद-विवाद करने की स्वतन्त्रता तो कम-से-कम हमें प्राप्त ही है।[1] वे इस धार्मिक स्वतन्त्रता की तुलना औरंगजेब जैसे अत्याचारी मुसलमान शासकों के राज्य में बरती जानेवाली धार्मिक असहिष्णुता और धर्म के नाम पर किये जानेवाले अत्याचारों से करते और इस तथ्य को बड़ी खूबी के साथ उजागर करते थे कि यदि आज भी मुसलमानी राज्य होता तो वे धार्मिक शास्त्रार्थ-चर्चा के अधिकार से तो वंचित रहते ही, शायद आर्य धर्मोपदेशकों का गला काट देने में भी मताग्रही इस्लामी शासकों को कोई संकोच नहीं होता। तथापि स्वामी दयानन्द का ओजोदीप्त राष्ट्रवाद और स्वदेश की हित-कामना उनके ग्रन्थों और जीवन-प्रसंगों से पदे-पदे स्पष्ट होती है। वे उस दिन की अत्यन्त उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे जब देश पराधीनता के पाशों से मुक्त होकर सच्चे अर्थ में स्वाधीन होगा। किन्तु उनके विचार में ऐसा होना भी तभी सम्भव हो सकेगा, जब भारतवासी स्वराज्य की प्राप्ति, रक्षण तथा उसके संवर्धन के लिए पूरी पात्रता प्राप्त कर लेंगे। स्वदेशाभिमान, और स्वदेश के गौरव को स्वदेशवासियों में जागृत करने का कोई अवसर वे खोते भी नहीं थे। आर्यावर्त की प्राचीन सांस्कृतिक गरिमा का प्रशस्ति-पाठ करते हुए तथा उसकी वर्तमान अधोगति पर आँसू बहाते हुए स्वामी दयानन्द के अनेक जीवन-प्रसंग एवं उनके ग्रन्थों के शतशः मार्मिक उद्धरणों को पेश करना कठिन नहीं है। सत्यार्थप्रकाश के कुछ ऐसे ही उद्धरण इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं।[2]

उपर्युक्त संदर्भ में जब पाठक स्वामी श्रद्धानन्द और आचार्य रामदेव द्वारा लिखित इस ग्रन्थ को पढ़ेंगे तो उनके मन में निश्चय ही कुछ आशंकाएँ जागृत होंगी, जिनका समाधान इस भूमिका में किया जाना आवश्यक है। आज आर्य-समाज के इतिहास के लेखक और व्याख्याता स्वामी दयानन्द की राष्ट्रवादी शिक्षाओं तथा आर्यसमाज के देशभक्तिपूर्ण समस्त आन्दोलनों को जिस परिप्रेक्ष्य

---

१. सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (१८७५ ई० में प्रकाशित) के प्रथम संस्करण में स्वामी दयानन्द ने लिखा है—"सो आजकाल अंगरेज राज्य होने से उन राजाओं के राज्य से सुख भया है क्योंकि अंगरेज लोग मत-मतान्तर की बात में हाथ नहीं डालते। (११वाँ समुल्लास, पृ० ३२६)

२. यह आर्यावर्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल में कोई दूसरा देश नहीं है। (११ वाँ समुल्लास) अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, चक्रवर्ती, स्वाधीन, निर्भय राज्य नहीं है। (८वाँ समुल्लास)

में प्रस्तुत करते हैं, उससे उक्त लेखकों की चिन्तनसरणि कुछ भिन्न प्रकार की ज्ञात होगी। अतः इसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। बात यह है कि सत्तर वर्ष पूर्व की राजनैतिक परिस्थितियाँ आज की परिस्थितियों से नितान्त भिन्न थीं। उस समय आर्यसमाज मुख्यतया धर्म-प्रचार तथा समाज-सुधार के क्षेत्रों में ही कार्यरत था, तथापि उसकी कट्टर राष्ट्रवादी नीतियों और स्वदेश-भक्ति की दृढ़ अवधारणा के कारण शासकवर्ग की यह प्रबल भावना बन चुकी थी कि आर्यसमाज जिस विचारधारा का प्रचारक है, यदि उसपर रोक नहीं लगाई जाती है, तो आगे चलकर यही संस्था देश को आजाद कराने के लिए एक ऐसी जबरदस्त तहरीक को जन्म देगी, जिसे रोकना विदेशी शासकों के लिए प्रायः असम्भव ही हो जाएगा। फलतः गोरा नौकरशाही ने आर्यसमाजियों पर अन्धाधुन्ध दमन का चक्र चलाया। आर्यसमाज के निर्दोष धर्मप्रचार के कार्यक्रम को किस प्रकार विदेशी शासन की जड़ें उखाड़नेवाला सिद्ध करने का हास्यास्पद प्रयास किया गया, इसके अनेक रोचक उदाहरण पाठक इसी पुस्तक में पढ़ेंगे।[१] यदि उस समय आर्यसमाज के विचारशील और दूरदर्शी नेता अत्यन्त धैर्य और सहनशीलता के साथ उस नीति को नहीं अपनाते, जिसका उल्लेख और विवेचन इस पुस्तक के लेखकों ने किया है, तो इस बात में कोई संदेह नहीं कि शासन आर्यसमाज को पूर्णतया कुचल डालता। अतः यही मानकर चलना होगा कि इस पुस्तक में जो तर्क-प्रणाली अपनाई गई है वह आत्मरक्षा (Self Defence) की नीति का ही अनुसरण करती है। संक्षेप में यदि हम उन बिन्दुओं का उल्लेख करना चाहेंगे, जो इस पुस्तक के लेखक-द्वय ने अपने विवेचन के दौरान प्रस्तुत किये हैं, तो वे निम्न प्रकार होंगे—

१. आर्यसमाज का कार्य धार्मिक और सामाजिक गतिविधियों तक ही सीमित है। वह न तो राजनैतिक संस्था है और न राजनैतिक कामों में उसकी कोई रुचि ही है।

२. उसे षड्यंत्रकारी संस्था तथा राज-विद्रोह का प्रसार करनेवाला आन्दोलन कहना सर्वथा गलत है। आर्यसमाज राजनिष्ठायुक्त है तथा शासक-वर्ग के प्रति पूर्ण वफादार रहा है।

३. यदि लाला लाजपतराय और पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा जैसे लोगों ने भारत की राजनैतिक और आतंकवादी हलचल में किसी प्रकार का भाग भी

---

१. इसी पुस्तक में महात्मा मुन्शीराम के 'आर्यसमाज और राजनीति' शीर्षक व्याख्यान में वर्णित गुलाबचन्द का मामला, करनाल के जैलदार का किस्सा, एक डिप्टी कलेक्टर का प्रसंग, जाट सभा और यज्ञोपवीत, दौलतराम की व्यथा-कथा तथा एक मुसलमान आर्य शीर्षक संदर्भ द्रष्टव्य हैं।—सम्पादक

लिया है, तो केवल निजी हैसियत से । उनकी इन कार्यवाहियों का आर्यसमाज के संस्थागत रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

४. आर्यसमाज को राजनैतिक संस्था बताना अथवा उसे राजद्रोही करार देना ईसाई प्रचारकों, आर्यसमाज के विरोधी पत्रों तथा नौकरशाही अफसरों का घृणित षड्यंत्र है ।

५. स्वामी दयानन्द के किसी कथन या उपदेश का अभिप्राय वह नहीं है, जो पटियाला षड्यंत्र अभियोग के दौरान मिस्टर ग्रे ने अपने भाषण में लिया है। सत्यार्थ प्रकाश तथा आर्याभिविनय के कतिपय उद्धरणों से जो भाव मिस्टर ग्रे निकालना चाहते हैं, वह प्रसंग से सर्वथा विपरीत तथा लेखक के मूल आशय के विरुद्ध है ।

६. स्वामी दयानन्द अंग्रेजी राज्य को इस देश के लिए अच्छा उसी अर्थ में मानते थे कि इस शासन में धर्म-प्रचार और धर्मान्दोलन की पूर्ण स्वतन्त्रता देश--वासियों का प्राप्त है।

७. स्वामी दयानन्द भारत की स्वाधीनता के लिए उत्सुक तो थे, किन्तु उनकी धारणा थी कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व इस देश के निवासियों को धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से सुदृढ़ एकता के सूत्र में बँधना होगा।

८. आर्यसमाज के उपदेशों से देश में जो जागृति पैदा होगी, वही इस देश को स्वतन्त्रता के द्वार तक ले जायगी । आर्यसमाज ने देश में धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर जागरण और नवनिर्माण का यही विधेयात्मक कार्यक्रम अपना रक्खा है। वह एक संन्यासी की भाँति जनता का मार्गदर्शक तो अवश्य है, किन्तु सक्रिय राजनीति से उपराम रहता है । सक्रिय राजनीति गृहस्थों का धर्म का है, संन्यासी का नहीं ।

ग्रन्थावली के इस खण्ड के पाठकों से निवेदन है कि इसे पढ़ते समय वे उपर्युक्त विचारसरणि को अवश्य ध्यान में रक्खें, अन्यथा उन्हें यह भ्रम हो सकता है कि स्वामी श्रद्धानन्द और आचार्य रामदेव ने अंग्रेज अधिकारियों के समक्ष आर्यसमाज के स्वाभिमान को गिराने की कोशिश की है, अथवा उनके इस विवेचन से आर्यसमाज के राष्ट्रवादी विचारों के साथ अन्याय हुआ है। जब तक तत्कालीन परिस्थितियों में आर्यसमाज के समक्ष उत्पन्न चुनौती और उसका निराकरण करने के लिए हमारे नेताओं द्वारा अपनाई गई इस सामयिक नीति को हम वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक संदर्भ में देखने का यत्न नहीं करेंगे, तबतक इस ग्रन्थ को केवल आपाततः पढ़ने से तो भ्रान्ति पैदा होना स्वाभाविक ही है।

मूल ग्रन्थ दो खण्डों में विभक्त ६०० पृष्ठों की एक विशालकाय कृति है। पूर्वार्द्ध के सात अध्याय आचार्य रामदेव की लौह लेखनी से लिखे गये हैं। प्रथम अध्याय में आर्यसमाज के प्रवर्तक के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन करने

के पश्चात् उन्होंने उन तत्त्वों का खुलासा किया है जो स्वामी दयानन्द से अकारण शत्रुता रखते थे तथा उनके मिशन को असफल करने में रात-दिन एक कर देते थे। साथ ही पटियाला-अभियोग की पृष्ठभूमि को भी इसमें स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय अध्याय में अभियोजन-पक्ष के अधिवक्ता मिस्टर ग्रे के प्रारम्भिक अभिभाषण की शव-परीक्षा की गई है। तृतीयाध्याय में सत्यार्थप्रकाश पर लगाये गये उन आरोपों और आक्षेपों का विद्वत्तापूर्ण समाधान किया गया है, जो मिस्टर ग्रे ने पटियाला-केस में जान-बूझकर लगाये थे। लेखक ने स्वामी दयानन्द के इस ग्रन्थ को लिखने के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए खण्डन-मण्डन के पीछे उनकी निष्पक्ष और मताग्रहरहित दृष्टि को स्पष्ट किया है। सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास को प्रशासन-वर्ग के लिए एक आदर्श संहिता सिद्ध करते हुए लेखक ने तत्सम्बन्धी अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया है। अन्य धर्मों की आलोचना करने के कारण जो लोग स्वामी दयानन्द को खण्डन-प्रिय तथा पारस्परिक वैर-विरोध एवं विग्रह का जनक बताते उनकी इस अलीक स्थापना के समाधान में इस ग्रन्थ का चतुर्थ अध्याय लिखा गया है।

आरोपकर्ताओं ने आर्यसमाज को षड्यंत्रकारी संस्था सिद्ध करने हेतु स्वामी दयानन्द के प्रत्यक्ष शिष्य तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा के नाम को उछाला था। श्यामजी ने अपने जीवन का बहुलांश इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा स्विट्जरलैण्ड में व्यतीत किया था,[1] अतः इस देश की आर्यसामाजिक गतिविधियों में उनका योगदान नगण्यप्राय ही था। आचार्य रामदेव को श्यामजी कृष्ण वर्मा पर पूरा अध्याय लिखने की आवश्यकता इसीलिए पड़ी ताकि उनके नाम की आड़ में आर्यसमाज का सम्बन्ध आतंकवादी गतिविधियों से जोड़ा न जा सके। अन्यथा श्यामजी के बारे में कोई निन्दात्मक बात लिखना लेखक का वास्तविक प्रयोजन नहीं था।

लंदन से प्रकाशित होनेवाले पत्र 'टाइम्स' के संवाददाता वेलेण्टाइन शिरोल ने आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक पर कीचड़ उछालने में कोई कसर नहीं रक्खी थी।उसके इन खतरनाक विचारों का खण्डन इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध के छठे अध्याय में किया गया है। शिरोल का आर्यसमाज-विषयक आरोप-पत्र कालान्तर

---

१. श्यामजी कृष्ण वर्मा के बहुविध कार्यकलापों को जानने के लिए अंग्रेजी और हिन्दी में लिखे गये दो जीवनचरित अधिक उपयोगी हैं। अंग्रेजी जीवनी स्वर्गीय इन्दुलाल याज्ञिक ने लिखी, जो सम्प्रति अप्राप्य है। हिन्दी जीवनचरित इस ग्रन्थावली के सम्पादक द्वारा लिखित तथा ग्रन्थावली के प्रकाशक द्वारा ही प्रकाशित है। —सम्पादक

में 'दि इण्डियन अनरेस्ट' नामक एक ग्रन्थ में भी छपा। 'टाइम्स' के इस चतुर संवाददाता को यह भाँपते देर नहीं लगी थी कि आर्यसमाज ब्रिटिश शासन के तो विरुद्ध है ही, वह तो भारतीय जनजीवन पर पड़े पश्चिम के प्रभाव को ही समाप्त करना चाहता है।[1] वास्तविकता यह है कि शिरोल द्वारा लगाई गई आपत्तियों का १९१० में आचार्य रामदेव ने प्रखरता से खण्डन तो किया, किन्तु भारत की स्वतन्त्रता के इतिहास में आर्यसमाज के सक्रिय योगदान का उल्लेख यदि कोई निष्पक्ष लेखक करना चाहेगा, तो इस विदेशी पत्रकार की निम्न धारणाओं को तो अपने पक्ष में ही उद्धृत करेगा, जिसमें कहा गया था कि (१) आर्यसमाज की स्थापना पश्चिमी सभ्यता के घातक प्रभाव से भारत को बचाने के लिए की गई थी तथा (२) श्यामजी कृष्ण वर्मा की साक्षी के अनुसार स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज के माध्यम से भारत के राष्ट्रीय जागरण की प्रथम दीपशिखा प्रज्वलित की थी।

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में पटियाला षड्यंत्र अभियोग का पूरा विवरण दिया गया है। सरकारी वकील एडवर्ड ग्रे का पूरा भाषण आर्यसमाज पर राजद्रोह-विषयक आरोपित लांछनों से भरा हुआ था। मुकद्दमे की सुनवाई के लिए अदालत की कुल १३ बैठकें हुईं। इसी खण्ड में इस अभियोग के विषय में विभिन्न पत्रों में प्रकाशित समाचारों तथा टिप्पणियों को भी संगृहीत किया गया है। वस्तुतः ग्रन्थ का उत्तरार्द्ध आठ परिशिष्टों का ही संग्रह है। प्रथम परिशिष्ट में दोनों पक्षों के वकीलों के अभिभाषण तथा उनपर हुई बहस को संकलित किया गया है। द्वितीय परिशिष्ट में इलाहाबाद के जिला मजिस्ट्रेट मिस्टर पी० हैरिसन का वह प्रख्यात निर्णय शब्दशः उद्धृत किया गया है जिसमें उसने सरकार के द्वारा सनातनी प्रचारक आलाराम के खिलाफ दायर किये गये फौजदारी अभियोग में अपनी राय प्रकट करते हुए स्पष्ट कहा गया था—"The general tenour of Dayanand's preaching seems to me to be rather an exhortation to reform, with perhaps a view to the ultimate restoration of the Government to native hands. It is practically admitted by Dayanand that there are inherent defects in the qualities of the modern Hindus which disable them from governing themselves. His exhortation and prayers are not for the immediate overthrow of foreign rule but for such reformation as may perhaps

१. In the Punjab too the keynote of the unrest is a spirit of revolt not merely against British administrative control but in theory against Western influences.

enable the Hindus in the future to again govern themselves."

अर्थात् "दयानन्द के उपदेशों का सामान्य भाव लोगों को सुधार की ओर प्रवृत्त करने का है, जिसका प्रयोजन अन्ततः शासन को स्थानीय (भारतवासी लोगों के हाथों तक पहुँचाने का ही है। स्वामी दयानन्द ने सामान्यतया यह मान लिया है कि वर्तमान हिन्दू जाति में मूलतः कुछ ऐसे दोष हैं, जो उनको स्वराज्य से वंचित रखते हैं। तथापि वह (न्यायाधीश) यह अनुभव करता है कि उनके उपदेशों और उद्‌बोधनों में ऐसा कुछ नहीं है, जो विदेशी शासन से उन्हें सद्यःमुक्त होने की प्रेरणा करता हो। किन्तु यदि हिन्दू जाति में ऐसे अपेक्षित सुधार हो जाते हैं, तो सम्भवतः निकट भविष्य में वह स्वराज्य की पात्रता प्राप्त कर लेगी।" जो विचार मिस्टर हैरिसन के हैं, वे ही आचार्य रामदेव और स्वामी श्रद्धानन्द के माने जा सकते हैं।

तीसरे परिशिष्ट में लाहौर के पत्र 'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' के १६ जून १९०७ में "एन इण्डियन" के नाम से छपे "लाजपतराय, आर्यसमाज तथा राजनैतिक अस्थिरता" शीर्षक एक पत्र तथा उसके उत्तर में महाशय मुन्शीराम द्वारा लिखे और उसी पत्र में प्रकाशित तीन पत्र संकलित किये गये हैं। चतुर्थ परिशिष्ट में मुन्शीराम जी के दो व्याख्यानों का सारांश दिया गया है जो उन्होंने "आर्यसमाज और राजनीति", "वर्तमान परिस्थिति और हमारा कर्त्तव्य" शीर्षक विषयों पर आर्यसमाज लाहौर के ३१वें और ३२वें वार्षिकोत्सवों पर क्रमशः दिये थे। पाँचवें परिशिष्ट में मुकद्दमे के पूरे विवरण तथा अदालत की सुनवाई को "पंजाबी" पत्र के विशेष संवाददाता द्वारा प्रेषित विवरणों के आधार पर संकलित किया गया है। साथ ही इसमें ट्रिब्यून, लीडर, बंगाली, एडवोकेट, टेलिग्राफ, फोनिक्स, मराठा, युनाइटेड इण्डिया, अमृतबाजार पत्रिका, आर्यप्रकाश तथा आर्य पत्रिका जैसे पत्रों में इस अभियोग की समाप्ति पर लिखी गई सम्पादकीय टिप्पणियों को भी उद्धृत किया गया है। इस अभियोग से सम्बन्धित कुछ अन्य उल्लेखनीय तथ्य अवशिष्ट तीन परिशिष्टों में संगृहीत किये गये हैं।

इससे पूर्व कि हम इस भूमिका को समाप्त करें हमारे लिए यह लिख देना आवश्यक है कि यद्यपि इस ग्रन्थ की समग्र ध्वनि ब्रिटिश राजसत्ता के प्रति आर्यसमाज के निष्ठाभाव को प्रकट करती तथा प्रचलित राजनीति से स्वयं को पृथक् रखने की ही दिखाई देती है, किन्तु यदि हम सूक्ष्मतया देखें तो आचार्य रामदेव और महात्मा मुन्शीराम, दोनों ही अपना विस्तृत स्पष्टीकरण देने के पश्चात् भी आर्यसमाज के गौरव और स्वाभिमान को आँच नहीं आने देने के लिए कृतसंकल्प प्रतीत होते हैं। उनकी इस सुदृढ़ भावना को हृदयंगम करने के लिए हम इस ग्रन्थ के दो संदर्भों को प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. वेलेण्टाइन शिरोल के आरोपों का जवाब देने के पश्चात् आचार्य रामदेव ने उपसंहाररूप में जो कुछ लिखा है उसका सार यही है कि जिस प्रकार गुरु नानक के द्वारा भगवद्भक्ति तथा साम्प्रदायिक सद्भाव की नींव पर स्थापित सिक्ख मत यदि मुसलमानी शासकों के अत्याचारों के कारण गुरु हरगोविन्द द्वारा एक शक्तिशाली, जुझारू तथा लड़ाका खालसा कौम में परिवर्तन होने के लिए मजबूर हुआ, तो इस वात की कौन गारंटी दे सकता है कि यदि आर्यसमाज पर भी उसी प्रकार के अत्याचार होते रहे, और उसे संदेह का शिकार बनाया गया, तो धर्म और समाज के सुधार में समर्पित यह संस्था भी कभी राजनैतिक आन्दोलन का रूप ले सकती है और देशहित के लिए बड़ी-से-वड़ी कुर्बानी भी दे सकती है ।

२. उत्तरप्रदेश के प्रसिद्ध आर्यनेता स्वर्गीय मदनमोहन सेठ ने आर्यसमाज पर राजनीति में लिप्त रहने के आरोपों का प्रतिवाद करते हुए तत्कालीन भारत-मंत्री लॉर्ड मॉर्ले को एक खुला पत्र लिखा था। इसकी भूमिका महात्मा मुन्शी-राम जी ने लिखी थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने इस भूमिका को भी अनूदित रूप में प्रस्तुत किया है। अपने खुले पत्र में आर्यसमाज के पक्ष को पूर्ण तत्परता के साथ प्रस्तुत करने के पश्चात् सुप्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीराबाई के पद का एक अंश उद्धृत कर श्री सेठ ने आर्यसमाज की सामयिक शासन के प्रति अपनी नीति को बहुत ही सशक्त भाषा में निर्भीकता के साथ पेश कर दिया है। मीरा ने चित्तौड़ के राणा को सम्बोधित कर कहा था—

राजा रूठे नगरी राखे, हरि रूठे कंह जाणा।

अर्थात् यदि सांसारिक प्रशासक हमसे नाराज होगा तो ज्यादा-से-ज्यादा वह हमें देशनिकाला दे सकता है, परन्तु यदि परमात्मा ही हमसे रूठ जाये तो उनके इस विशाल ब्रह्माण्डरूपी राज्य को छोड़कर हम कहाँ जायेंगे? आर्यसमाज भी मीरावाई के उक्त स्वर में स्वर मिलाकर अंग्रेज शासकों को स्पष्ट कहना चाहता है कि निर्दोष होने पर भी हम आपके समक्ष अपने निरपराध होने का स्पष्टीकरण दे रहे हैं। हमें इस बात की चिन्ता नहीं है कि आप हमें राजनीति-निरपेक्ष मानते हैं या नहीं, किन्तु हमें अन्ततः परमात्मा की अदालत में ही पेश होना है, और हमें अपनी साधुता के लिए उसी के प्रमाणपत्र की अधिक चिन्ता है। मेरे विचार से इससे अधिक निर्भीक, किन्तु ध्वन्यात्मक स्पष्टीकरण और क्या हो सकता है!

एक वात और भी है, यदि आचार्य रामदेव और स्वामी श्रद्धानन्द की इस पुस्तक में प्रस्तुत की गई धारणाओं को हम रूढ़ अर्थ में ही ग्रहण करें, तो हमारे सामने एक और कठिनाई आ सकती है। इन दोनों महापुरुषों के जीवन पर दृष्टिपात करने से हमें ज्ञात होता है कि समय आने पर इन दोनों ने ही

स्वाधीनता-आन्दोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिया था। स्वामी श्रद्धानन्द तो महात्मा गांधी द्वारा संचालित रॉलेट एक्ट-विरोधी आन्दोलन के अग्रगण्य नेता रहे और उन्होंने चाँदनी चौक में गोरखा सैनिकों की खुली संगीनों को अपनी छाती पर झेलने का अद्वितीय साहस भी प्रदर्शित किया। आचार्य रामदेव ने भी कांग्रेस के एक अनुशासित और निष्ठावान् कार्यकर्ता के रूप में सत्याग्रह-संग्राम में भाग लिया और कारावास का दण्ड भी झेला।

दो शब्द ग्रन्थ की मूल अंग्रेजी के विषय में कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा। आचार्य रामदेव यद्यपि बी०ए० उपाधिकारी ही थे, किन्तु अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य साहित्य, दर्शन, धर्म और राजनीतिविज्ञान पर उनका असाधारण अधिकार था। उनका अध्ययन अत्यन्त विशाल था। उन्होंने धर्मों का तुलनात्मक अनुशीलन विशेष रुचि से किया था। यही कारण है कि उनके लेखन में पश्चिमी लेखकों, धर्माचार्यों, दार्शनिकों, राजनीतिशास्त्रविदों तथा चिन्तकों के उद्धरण भूरिशः आये हैं। हमने ग्रन्थ की दुरूहता को अनुभव कर इसका सार-संक्षेप ही देने का प्रयत्न किया है, तथापि उस व्यक्ति को आचार्य रामदेव और महात्मा मुन्शीराम के अंग्रेजी भाषा के प्रौढ़ ज्ञान का कायल होना ही पड़ेगा, जो इस ग्रन्थ को मूल रूप में पढ़ेगा।

'आर्यसमाज के निंदक : एक प्रतिवाद' का सार-संक्षेप देने के साथ-साथ हमने इस खण्ड में निम्न अन्य सामग्री भी दी है, जो मूलतः अंग्रेजी में ही थी।

१. "आर्यसमाज का भविष्य" शीर्षक महाशय मुन्शीराम के एक लेख का अनुवाद, जो उन्होंने आर्यसमाज लाहौर में २७ जनवरी १८९३ को पढ़ा था।

२. लॉर्ड मॉर्ले के नाम श्री मदनमोहन सेठ द्वारा प्रेषित खुले पत्र की महात्मा मुन्शीराम लिखित भूमिका का अनुवाद।

३. "दि हिस्ट्री ऑफ असेसियन्स" नामक पुस्तक की स्वामी श्रद्धानन्द लिखित भूमिका ध्यातव्य है कि शेवेलियर जोसेफ वॉन हैमर नामक एक जर्मन लेखक ने १७९० ई० में इस ग्रन्थ को अपनी मातृभाषा जर्मन में लिखा था। इसका अंग्रेजी अनुवाद ओस्वाल्ड चार्ल्सवुड एम० डी० ने किया जो १८३५ में इंग्लैण्ड में छपा। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इस दुर्लभ किन्तु ऐतिहासिक ग्रन्थ को उपलब्ध कर १९२६ ई० में ज्ञानमण्डल प्रेस, बनारस से मुद्रित करवाकर प्रकाशित किया। ईसाई और इस्लाम मतानुयायियों ने अपने-अपने मतों का प्रचार करने के लिए संसार में कितना रक्तपात किया है और धर्म के नाम पर मानवता पर कितने क्रूर अत्याचार किये हैं, इसका वस्तुनिष्ठ विवरण इस पुस्तक में दिया गया है। स्वामी जी ने स्वयं इस ग्रन्थ की एक विस्तृत भूमिका लिखी थी। इसी को अनूदित कर हमने प्रस्तुत खण्ड में दिया है। मूल अंग्रेजी पुस्तक का द्वितीय संस्करण दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली से १९८३ में प्रकाशित हुआ था।

श्रद्धानन्द ग्रन्थावली का यह खण्ड पर्याप्त शीघ्रता में तैयार किया गया है। एक-एक अध्याय के तैयार होने के साथ-ही-साथ उसका टंकण भी होता रहा। इस प्रकार टंकित प्रति को सीमित अवधि में तैयार करने में टंकक श्री होशियार-सिंह का परिश्रम प्रशंसनीय रहा। अतः वे मेरे और पाठकों के साधुवाद के पात्र हैं।

पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़

भवानीलाल भारतीय
सम्पादक

अध्याय—१

आर्यसमाज, उसके संस्थापक तथा उसके शत्रु और पटियाला अभियोग

यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि विगत शताब्दी का सातवाँ दशक भारत के धार्मिक इतिहास का अंधकारपूर्ण युग था। पश्चिम की नवप्रसूत सभ्यता का पुरातन प्राच्य संस्कृति पर जो प्रभाव पड़ रहा था, उसके अनिवार्य परिणाम प्रकट हो रहे थे। पश्चिमी विचारों तथा यूरोपीय जीवनादर्शों ने सुप्तप्राय प्राच्य को अपने में पूर्णतया निमज्जित कर दिया था। पाश्चात्य ज्ञान के ध्वजवाहक वे ईसाई प्रचारक थे, जो भारत के मूर्तिपूजक समाज को अपने धर्म में प्रविष्ट कराने के एकमात्र प्रयोजन से स्वशिक्षण-संस्थाओं का संचालन कर रहे थे। उन्होंने अपने हाथों में फावड़े और कुदालें लीं तथा प्राच्य संस्कृति के प्रासाद को ध्वस्त करना आरम्भ किया। शिक्षित व्यक्तियों द्वारा हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों को अंधविश्वासयुक्त, जड़ कर्मकाण्डपूर्ण, ब्राह्मणों के प्रलापों से परिपूर्ण, बालिश वाचालतायुक्त, अश्लील उपाख्यानों से भरे, अवैज्ञानिक सृष्टिवर्णनवाले तथा मूर्खतापूर्ण अतिशयोक्ति-शैली में लिखे गये ग्रन्थ कहकर उन्हें तिरस्कृत किया गया। दुर्भाग्यवश उपर्युक्त आक्षेप पुराणों पर घटित भी होते थे और इन्हीं ग्रन्थों का सर्वाधिक प्रचार भी था। ये ही हिन्दुओं द्वारा पढ़े जाते थे और उन्हीं को आधार बनाकर उपदेश भी दिये जाते थे।

पश्चिम की तीव्र ज्ञानज्योति ने हिन्दू नवयुवकों की दृष्टि को इतना अधिक चकाचौंध से भर दिया कि उसने कभी बाइबिल के पुराने अहदनामे[१] के रूप में लिखे गये यहूदी पुराण की हिन्दू पुराणों से तुलना करने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की। पादरी ने उसके समक्ष ईसा के पर्वतोपदेश[२] का आकर्षक परिदृश्य उपस्थित किया जिसे देखकर हिन्दू युवक को नये अहदनामे[३] में अपूर्व सान्त्वना देनेवाली ऐसी ताजी हवा का झोंका महसूस हुआ, जो पुराणों में

१. Old Testament
२. Surmon on the Mount
३. New Testament

वर्णित लम्पट, झगड़ालू थथा अनैतिक देवताओं और वैसी ही देवियों के घृणोत्पादक वर्णनों से तुलनात्मक दृष्ट्या कहीं अधिक स्फूर्तियुक्त, प्राणदायक तथा आकर्षक था। यदि उन नवशिक्षित हिन्दू युवकों ने थोड़ा भी ध्यान दिया होता तो उन्हें पता चलता कि ये ही पुराण, चाहे वे कितने ही बुरे हैं, किन्तु इनमें महाभारत, गीता तथा उपनिषदों के शतश:, सहस्रश: उद्धरण भी यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। यदि इन उपदेशात्मक उद्धरणों को एक ही ग्रन्थ के रूप में निबद्ध कर दिया जाय तो उनके द्वारा आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षाओं का एक ऐसा स्रोत बह निकलेगा जिसके समक्ष नये अहदनामे की शिक्षाएँ सर्वथा महत्त्वहीन प्रमाणित हो जायेंगी। किन्तु इन नवयुवकों में ऐसे चिन्तन का कभी विकास ही नहीं हुआ। वह युग तो संक्रान्ति, अराजकता, दिग्भ्रम तथा अव्यवस्था का था, जिसमें अनिर्वचनीय उठक-पटक तथा क्रिया-प्रतिक्रिया के घात-प्रतिघात ही लक्षित हो रहे थे।

अन्तत: जब पुराने अहदनामे का अध्ययन किया गया तो समाज में विघटन की प्रक्रिया को रोकने की अपेक्षा उसे एक अन्य दिशा की ओर मोड़-भर दिया गया। पुराणों का तो प्रत्याख्यान हुआ ही, उनके साथ समस्त संस्कृत-साहित्य भी उपेक्षा का पात्र बना दिया गया। प्राचीन शास्त्रीय साहित्य के भूमिस्थ कोष को खोज निकालना समय का अपव्यय मान लिया गया। किसी ने यह सोचने का कष्ट ही नहीं किया कि पुराणों के कूड़े के ढेर और तंत्रों की गंदगी के नीचे कोई बहुमूल्य खजाना भी छिपा हो सकता है। आर्य संस्कृति का शपथपूर्वक परित्याग कर दिया गया। यह जानते हुए भी कि इस देश की जनता को बहुदेवतावाद, नास्तिकवाद, सम्प्रदायवाद तथा अज्ञेयवाद जैसे दोषों ने घेर रक्खा है, भारत का नवयुवक तेज कदम बढ़ाकर दुनिया के गतिशील देशों के साथ चलने का इच्छुक हो रहा था। ब्राह्मसमाज अपने संस्थापक राजा राममोहन राय की मूल धारणाओं के प्रतिकूल विभिन्न मत-सम्प्रदायों की परस्पर भिन्न आस्थाओं से जुड़ गया। फलत: उसके अधिकांश अनुयायी संदेहवादी या नास्तिक बन गये। इससे समाज में कुछ सुगबुगाहट तो पैदा हुई, किन्तु उसका पुरोहित-तंत्र यथावत् शक्तिशाली बना रहा। शुष्क बुद्धिवाद का सर्वोच्च नैतिकता तथा परम सत्य के साथ तालमेल कभी नहीं बैठा है।

ब्राह्मण पुरोहितों को तो रूढ़ियों के पालन तथा जातिगत व्यवस्थाओं से तालमेल रखने से ही मतलब था। उनका अनुशासन तो सहभोजों और अन्तर्-जातीय विवाहों पर प्रतिबन्ध ही लगा सकता था। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग मात्र दोषदर्शी ही थे, अत: वे स्थूलोदर पुरोहितों की स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों को देखकर उनका उपहास भले ही कर लें, उनमें इतना साहस नहीं था कि वे अपने सिद्धान्तों को क्रिया का रूप दे सकें। यद्यपि इन नवयुवकों का बौद्धिक झुकाव मूर्तिभंजक

तथा परम्परा-विरोधी तत्त्वों की ओर ही रहता था, तथापि अवसर आने पर वे ब्राह्मण पुरोहितों के आदेशों को मानते हुए मूर्तिपूजायुक्त विधानों के आगे सिर झुका देते थे और अपठित पुरोहितों के स्वर-में-स्वर मिलाकर अर्थहीन मन्त्रों और स्तोत्रों का उच्चारण करने लगते थे। ऐसा करते हुए भी उनमें बौद्धिक क्षोभ भरा रहता था, जबकि पुरोहित की जीविका की सुरक्षा की भी कोई गारंटी नहीं थी। इसे आप तूफान आने के पहले की शान्ति कह सकते हैं। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि बौद्धिक असन्तोष सामाजिक क्रान्ति का अग्रदूत होता है। जो परिस्थितियों की दार्शनिक पहचान रखते हैं तथा जिनका दृष्टिकोण नितान्त स्पष्ट होता है, वे अपनी पारदर्शी दृष्टि से सामाजिक परिदृश्य के अन्तर्तम को भेदकर देख लेते हैं और समाज की अन्तश्चेतना को प्रभावित करनेवाले भावों एवं विचारों की अन्तर्धाराओं को स्पष्टतया जान भी लेते हैं।

जब इस देश में उपर्युक्त परिस्थितियाँ विद्यमान थीं, उस समय मूलशंकर नामक एक कुलीन ब्राह्मण परम सत्य तथा शाश्वत जीवन की पारसमणि की खोज में भटक रहा था। अपने पर्यटन के दौरान उसे बुभुक्षा, भर्त्सना, अपमान, शारीरिक उत्पीडन तथा मानसिक संताप जैसे कष्ट उठाने पड़े, किन्तु इन कठिनाइयों और बाधाओं को पूर्ण निर्भीकता से झेलते हुए उसने सांसारिक जीवन की मधुर स्वर-लहरी को सर्वथा अनसुना कर दिया तथा समस्त शास्त्रीय विद्याओं को अधिगत करते हुए अन्ततः वह एक वृद्ध और अंध संन्यासी के निकट आया, जिसके पास वही अपूर्व और अमोघ औषध थी, जिसकी कि मूलशंकर को तलाश थी। गुरु ने अपने शिष्य को उन्ही प्राचीन विद्याओं से शिक्षित किया तथा इन्हीं शाश्वत विद्या-स्रोतों के जल का पान कराया।

इस अंध संन्यासी ने अपने जिज्ञासु शिष्य को बताया कि संस्कृत साहित्य को महाभारत-पूर्व काल तथा महाभारत के पश्चात् का काल, इस प्रकार दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। महाभारत-पूर्व के साहित्य में जो सिद्धान्त निबद्ध किये गये, वे पूर्ण सत्य तथा तर्कयुक्त दर्शन पर आधारित थे। उनसे ही उस भारत का निर्माण हुआ, जिसने मानवता को आध्यात्मिकता, नैतिकता और बौद्धिकता का पाठ पढ़ाया। उन ग्रन्थों से ही विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति हुई तथा अनेक देशों में सामाजिक परिवर्तन हुए। ये ग्रन्थ और उनमें निहित सिद्धान्त ही सभ्यता एवं संस्कृति के जनक तथा दर्शनशास्त्र के पोषक थे।

इस प्रकार के विचारों ने दयानन्द के हृदय में ऊष्मा का संचार कर दिया। तभी उसका शिक्षा-सत्र समाप्त हुआ और गुरु से विदा लेने की घड़ी सन्निकट आई। आदरास्पद गुरु ने अपने से विदा लेनेवाले शिष्यों को एकत्र किया और भावनाप्रवण शब्दों में उनसे अनुरोध किया कि वे वेद की शिक्षाओं को समस्त

भूमण्डल में फैला दें। उनके इस अनुरोध को स्वीकार करते हुए दयानन्द ने आदरपूर्वक गुरु-चरणों को स्पर्श किया और कहा कि वे उनके आदेश को पूरा करेंगे। गुरु ने अपने अन्य शिष्यों को भी इसी प्रकार की आशापूर्ण दृष्टि से देखा, किन्तु सम्भवत: वे इतने महान् दायित्व को उठाने की पात्रता स्वयं में नहीं देखते थे। किन्तु उन्होंने इतना अवश्य कहा कि वे अपने-अपने जीवन-क्षेत्रों में यथाशक्य उनके आदेशों का अनुपालन करेंगे। सभी शिष्य पुनः आसनों पर विराजमान हो गये और स्वामी विरजानन्द ने दयानन्द पर पुनः उत्सुकतापूर्वक दृष्टिनिक्षेप किया। दयानन्द पुनः उठ खड़े हुए और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे समस्त पृथ्वी-मण्डल में वेदों को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्न करेंगे। तत्पश्चात् गुरु से विदा लेकर वे लक्ष्यपूर्ति के लिए चल पड़े।

ऐसे थे आर्यसमाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती। उनके समक्ष कितना महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए था! उस अकेले को ही असत्य, अन्याय, अंध-विश्वास, सुप्रतिष्ठित पौरोहित्यवाद, तथा दुर्निवार्य रूढ़िवाद से लड़ना था। उसके विरोधियों को सभी शक्तियाँ प्राप्त थीं जो जन्म, परम्परा तथा विशिष्ट श्रेणी-युक्त होने से प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार धन तथा उससे प्राप्त सुख-सुविधाएँ भी उन्हें ही प्राप्त थीं। पैगम्बर मुहम्मद के विपरीत दयानन्द ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए शारीरिक शक्ति को कभी साधन के रूप में प्रयुक्त नहीं किया। किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्ति ही इतनी प्रबल थी जिससे कि उनकी प्रगति के मार्ग की सभी बाधाएँ स्वतः ही हट गईं। रूढ़िवाद अपनी जड़सहित हिल गया। दयानन्द को सफलता के निकट जिन कारणों ने पहुँचाया, वे थे--उनका अपराजेय तर्क, अंधविश्वासों पर उनका निर्मम प्रहार, उनके तीक्ष्ण व्यंग्य, उनका गम्भीर अध्ययन, दूसरों को प्रभावित करने की उनकी अपूर्व क्षमता, शास्त्रीय अध्ययन से चुने हुए ऐसे प्रबल युक्तिवाद, जो रूढ़िवादिता को पूर्णतया ध्वस्त करने की क्षमता रखते थे, तथा सत्य के प्रति प्रबल आग्रह से उत्पन्न उनकी असत्य को भस्म कर देनेवाली वाग्मिता, और सर्वोपरि—अपने देशवासियों के दुःखों के प्रति उनकी असीम करुणा। उन्होंने अपने प्रत्येक विरोधी के सभी दुर्गों को जीत लिया। इसके पश्चात् उन्होंने रूढ़िवाद के केन्द्रस्थान की ओर प्रस्थान किया। उसके प्राचीरों को घेर लिया तथा पुरोहितवाद से आत्म-समर्पण करने को कहा। उन्होंने अकेले ही गतानुगतिकता का मुकाबिला किया। स्वामी दयानन्द को कार्य करने का बहुत कम अवसर, लगभग १० वर्ष ही मिले और इस बीच उन्होंने अपने-आपको शीर्षस्थ वैदिक सुधारक के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके सभी शत्रुओं ने अपने हथियार डाल दिये और उनके जीवनकाल में ही आर्यसमाज भारत में एक जीवित शक्ति के रूप में उभर आया। उनके निधन के पश्चात् 'पायनियर' ने स्वीकार किया कि आर्यसमाज का भारत में

91489

प्रतिष्ठित स्थान बन गया है।

स्वामी दयानन्द पूर्णतया धार्मिक थे। उनके समकालीन भी ऐसा ही मानते और विश्वास करते थे। इसका प्रमाण हमें उन श्रद्धांजलिपरक लेखों में मिलता है जो उनके देहान्त के पश्चात् सभी मत-सम्प्रदायों के लोगों ने लिखकर विभिन्न पत्रों में प्रकाशित कराये थे।

स्वामी जी की मृत्यु के तुरन्त बाद प्रो० मैक्समूलर ने 'पालमाल गजट' में एक लेख प्रकाशित कर घोषित किया कि एक सुधारक होने के कारण स्वामी दयानन्द को अपने जीवन में नाना प्रकार की निंदा तथा उत्पीड़न सहन करना पड़ा था। यहाँ तक कि उनकी मृत्यु का कारण भी विरोधियों द्वारा उन्हें दिया गया विष ही माना जाता है। स्वामी जी ने उन अनेक बुराइयों का विरोध किया था जो भारत के धार्मिक जीवन में कालान्तर में प्रविष्ट हो गई थीं किन्तु जिनका उल्लेख आर्यों के मान्य ग्रन्थ वेदों में कहीं नहीं मिलता। वे मूर्तिपूजा के विरोधी थे और उन्होंने जन्मगत जातिप्रथा का विरोध किया तथा विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन किया। विद्वान् पण्डितों से किये लगभग सभी शास्त्रार्थों में वे विजयी रहे तथा भारत के प्राचीन धर्माचार्यों की भाँति वे भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार करते थे।

अलीगढ़ आन्दोलन के संस्थापक सर सैयद अहमद ने स्वामी जी के सम्बन्ध में निम्न उद्‌गार व्यक्त किये थे। सुप्रसिद्ध सुधारक, राजनीतिज्ञ तथा सरकार के विश्वासपात्र दीवान बहादुर रघुनाथराव ने 'वैदिक मैगजीन' को दिये अपने एक साक्षात्कार में स्वामी जी के सम्बन्ध में कहा—"अपने धार्मिक और सामाजिक सुधारों की योजना को प्रस्तावित करने से पूर्व स्वामी दयानन्द ने समस्त देश में भ्रमण कर उन लोगों से परामर्श किया, जो इन क्षेत्रों में कार्यरत थे। ऐसे ही भ्रमण के दौरान स्वामी जी मैसूर आये[1] जहाँ कि मैं दीवान के पद पर था। उन दिनों उनके अनुयायियों की संख्या अत्यल्प थी। मैंने उन्हें बड़ौदा के दीवान राजा सर टी० माधवराव तथा अन्य व्यक्तियों के नाम परिचयपत्र दिया। मैंने उन्हें उनके द्वारा लिखित ऋग्वेद-भाष्य को प्रकाशित करने के लिए कुछ आर्थिक सहायता भी दी।

हम परस्पर सामाजिक सुधार के विषय पर विस्तृत वार्तालाप किया करते थे। हमारे समक्ष प्रथम प्रश्न तो यही था कि वेद क्या हैं? स्वामी जी की धारणा थी कि संहिता-भाग ही वेद है और ब्राह्मण-ग्रन्थ उसकी व्याख्यायें हैं। मेरी सम्मति में उनका यह कथन सर्वथा युक्तिपूर्ण था और मैंने भी इससे अपनी

---

१. स्वामी दयानन्द के जीवनचरित्र-लेखकों को उनके मैसूर जाने का प्रमाण अभी तक नहीं मिला है।—सम्पादक

सहमति व्यक्त की। हमने कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर भी बातचीत की।

सायण तथा अन्य वेद-भाष्यकारों की धारणा है कि वेदों का विषय केवल कर्मकाण्ड-निरूपण नहीं है। दयानन्द का मत इससे अधिक औचित्यपूर्ण है, जब वे कहते हैं कि वेद समस्त ज्ञान के विश्वकोश हैं। उनके अनुसार वेदों में समस्त विज्ञानों का बीज है तथा ये ग्रन्थ प्रकृति के रहस्यों तथा कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं। जो कुछ दयानन्द कहते हैं, वह पूर्णतया सत्य है। मैंने उनके द्वारा रचित वेद-भाष्य के अधिकांश को पढ़ा है और मैं यह कह सकता हूँ कि उनके द्वारा किया गया वेदार्थ शुद्ध है तथा प्राचीन अर्थों के अनुकूल है। अतः इस वेद-व्याख्या को सर्वाधिक प्रामाणिक मानना चाहिए।

दयानन्द मुझे असाधारण पुरुष प्रतीत हुए। वे सुगठित शरीर तथा ओजस्वी व्यक्तित्ववाले पुरुष हैं, जो प्रत्येक को प्रभावित करते हैं। वे ईमानदार तथा सच्चे हैं। वे उन सुधारों को प्रचरित करना चाहते हैं जिनका आगे चलकर देश पर प्रभाव पड़ेगा। संक्षेप में, यही कहा जा सकता है कि वे उन सभी गुणों से परिपूर्ण थे, जो किसी मनुष्य को समाज का नेता बनाने की योग्यता प्रदान करते हैं।"

धार्मिक मामलों में स्वामी दयानन्द के शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी श्री ए० ओ० ह्यूम ने इस महान् सन्त की मृत्यु के पश्चात् उनके एक प्रशंसक को निम्न पत्र लिखा था—

प्रिय आर० चन्द,[1]

आपके पत्र के लिए धन्यवाद। मुझे स्वामी दयानन्द के असामयिक निधन का समाचार जानकर अत्यन्त दुःख हुआ है। उनके द्वारा जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था, उनके कुछ अंशों के बारे में चाहे लोगों की धारणा कुछ भी क्यों न हो, यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि वे एक महान् तथा भद्रपुरुष थे। वे अपने देश की इज्जत थे और सभी को उनके निधन में भारत की महती हानि अनुभव होगी।

आपका प्रेमास्पद,
ए० ओ० ह्यूम

एक अन्य अंग्रेज श्री फ्रेड्रिक फेन्थम ने लिखा—

प्रिय महाशय,

स्वामी जी की मृत्यु का समाचार मेरे लिए एक प्रबल आघात तुल्य है। वे घनिष्ठ मित्र थे। उनको खोकर भारत ने एक दार्शनिक खो दिया है, जिसकी

१. पूरा नाम रतनचन्द बेरी—'आर्य मैगजीन' लाहौर के सम्पादक

पूर्ति निकट भविष्य में असम्भव है।

शुभकामनाओं के साथ,

मैं हूँ, आपका विश्वासभाजन

फ्रेड्रिक फेन्यम

यहाँ कुछ समाचारपत्रों की **स्वामी जी के निधन पर लिखी गई टिप्पणियाँ भी दी जा रही हैं—**

स्वामी दयानन्द और ब्रिटिश सरकार

एक धर्मसुधारक भी एक व्यवसायी की भाँति शान्ति का ही इच्छुक होता है। उसके अनुयायी भी थोड़े ही होते हैं और देश के पारम्परिक धर्म तथा रिवाजों को त्याग देने के कारण वे प्रायः उत्पीड़न के शिकार होते हैं। सुधारक की ताकत तो उसकी नैतिकता ही होती है और चूँकि वह पाखण्डों का भण्डा-फोड़ करता है, पुरोहितों की तानाशाही का विरोध करता है, निहित स्वार्थों को चोट पहुँचाता है और धूर्तों का प्रत्याख्यान करता है, अतः उसके विरोधी भी उसे कभी क्षमा नहीं करते। गुरु नानक ने जो सुधार-आन्दोलन प्रवर्तित किया था, उसको सफलता इसलिए नहीं मिली कि गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह के समय में यह देश विक्षोभजनक परिस्थितियों से गुजर रहा था। इसलिये दयानन्द भी यही चाहते थे कि ब्रिटिश शासन के कारण देश में जो शान्ति और स्थिरता का वातावरण बना है, उसी को कायम रक्खा जाना चाहिए ताकि उनके द्वारा प्रवर्तित सुधारकार्यों में कोई व्याघात उत्पन्न न हो सके। उन्होंने ब्रिटिश शासन का अभिनन्दन किया तथा उसे दैवी वरदान ही समझा,[1] क्योंकि उनकी धारणा थी कि भारत को अपने बौद्धिक तथा नैतिक साधनों को संगठित करने तथा आत्म-साक्षात्कार के पथ पर कदम बढ़ाने के लिए शान्त वातावरण की नितान्त आवश्यकता है। उन्होंने अपने अनुयायियों को इस सचाई से अवगत कराने की भरपूर चेष्टा की और उनके विश्वसनीय साथियों के कथन और लेखों में यह धारणा प्रायः अभिव्यक्त भी हुई थी। उनके जीवन-काल में "दि आर्य मैगजीन" आर्यसमाज का मान्य मुखपत्र प्रकाशित होता था। इसका सम्पादन उनके विश्वसनीय अनुयायी श्री रतनचन्द बेरी करते थे। इस पत्र के सितम्बर १८८३ में प्रकाशित एक कविता की कतिपय पंक्तियों से उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है।

दयानन्द के चरित्र की उपर्युक्त विशेषता इतनी सुव्यक्त थी कि कतिपय

१. यह पंक्ति लेखक ने तत्कालीन परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर लिखी है, अतः उसे लेखक का नीतियुक्त कथन ही समझना चाहिए।—सम्पादक

विदेशी भी उनकी इस विचारधारा को भलीभाँति समझ सके थे, चाहे स्वामीजी से उनका सम्पर्क कितना ही अल्पकाल के लिए क्यों न रहा हो। देखिए, थियोसॉफिकल सोसाइटी की संस्थापिका मैडम ब्लैवेट्स्की इस सम्बन्ध में क्या लिखती हैं। यह तो इतिहास का एक तथ्य ही बन चुका है कि आर्यसमाज और थियोसॉफिकल सोसाइटी का सम्बन्ध स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में ही समाप्त हो गया था। "अपने आविर्भाव के दिन से ही स्वामी दयानन्द ने अपना अत्यधिक प्रभाव स्थापित कर लिया था और वे भारत के लूथर[1] के नाम से विख्यात हुए। एक नगर से दूसरे नगर तक भ्रमण करते हुए आज दक्षिण में तो कल उत्तर में, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक उन्होंने अविश्वसनीय शीघ्र-गामिता से भारत के प्रत्येक भाग का भ्रमण किया था—कुमारी अन्तरीप[2] से हिमालय तक और कलकत्ता से बम्बई तक। वे एक ईश्वर का उपदेश देते हैं और वेदों को हाथ में लेकर सिद्ध करते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों में बहुदेवतावाद का प्रतिपादक एक भी शब्द नहीं है। मूर्तिपूजा पर वज्र-निक्षेप करते हुए यह महान् वक्ता अपनी सम्पूर्ण शक्ति से जातिप्रथा, बालविवाह तथा अन्धविश्वासों का विरोध करता है। भारत में आये समस्त दोषों तथा वेदों के मिथ्या अर्थ करने के लिए वे ब्राह्मणों को दोष देते हैं। वे उपस्थित समुदाय के समक्ष स्पष्ट घोषणा करते हैं कि एक समय जो देश महान् तथा स्वतन्त्र रहा, उसके अधःपतन और पराधीनता के लिए उक्त वर्ग ही एकमात्र उत्तरदायी है। इसके उपरान्त भी ग्रेट ब्रिटेन के लिए वह मित्र के तुल्य ही हैं, शत्रुवत् नहीं। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यदि आप अंग्रेजों को इस देश से निकाल बाहर करते हैं, तो मूर्तिपूजा का विरोध करनेवालों के गले, चाहे वे स्वयं हों या कोई अन्य, भेड़-बकरियों के तुल्य काट डाले जायेंगे। पण्डित दयानन्द ने ब्राह्मणों से अनेक शास्त्रार्थ किये हैं, जिनमें वे सदा विजयी रहे हैं। बनारस में उन्हें मारने के लिए गुप्त हत्यारे नियोजित किये गये, किन्तु उनका प्रयत्न असफल रहा। बंगाल के एक छोटे कस्बे में, जहाँ वे ईश्वर से भिन्न वस्तुओं की पूजा का सामान्य से कुछ अधिक कठोर होकर खण्डन कर रहे थे, किसी कट्टरपन्थी ने एक बड़ा साँप उनके पाँव पर फेंका। ब्राह्मणों की देवगाथाओं में दो प्रकार के साँपों को देवता-तुल्य बताया गया है। प्रथम वह जो शिव के गले में माला-तुल्य रहता है। इसका नाम "वासुकि" है। दूसरा "अनन्त" नामवाला सर्प विष्णु की शैयारूप में माना गया है। इसलिये उस शिवपूजक ने, यह जानते हुए कि उसके द्वारा पालित यह

---

१. प्रोटेस्टेंट मतप्रवर्त्तक तथा ईसाइयत में पोपवाद के विरोधी जर्मन सुधारक।
२. स्वामी दयानन्द के कुमारी अन्तरीप तक जाने का प्रमाण जीवनी-लेखकों को अद्यतन नहीं मिला है।—सम्पादक

साँप उसके विश्वास को चोट पहुँचानेवाले के जीवन का अन्त कर देगा, विजय-पूर्ण मुद्रा में आवेशपूर्वक कहा—"भगवान् वासुकि ही इस बात का निर्णय कर देंगे कि हम दोनों में कौन सत्य है ?" दयानन्द ने अपने पाँव से लिपटनेवाले साँप को एक झटके से दूर किया और द्रुतवेग से उसके सिर को कुचलते हुए कहा—"तुम्हारा यह देवता तो बहुत सुस्त प्रतीत होता है। मैंने ही इसके भाग्य का फैसला कर दिया है !" इसके बाद उन्होंने उपस्थित समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा—"आप जाकर लोगों को बतायें कि मिथ्या देवताओं का किस प्रकार नाश हो जाता है।"[1]

वैदिक धर्म के प्रचार से ईसाइयत और इस्लाम में धर्मान्तरण होने की प्रवृत्ति रुकी। दयानन्द के आगमन के पूर्व हिन्दुओं को ईसाई मिश्नरियों द्वारा स्वधर्म में दीक्षित करना तथा मुसलमान मुल्लाओं द्वारा उन्हें इस्लाम की दीक्षा देना सर्वथा वैध माना जाता था। एक हिन्दू जो स्वधर्म त्यागकर ईसाई या मुसलमान हो जाता और किसी विधर्मी के घर का खाना खा लेता या पानी पी लेता, वह सदा-सर्वदा के लिए अपने पूर्वजों के धर्म में पुनः प्रविष्ट होने का अनधिकारी घोषित कर दिया जाता था। ईसाइयत और इस्लाम के अत्यधिक प्रसार का यह एक प्रमुख कारण था। कभी-कभी केवल पाशविक बल से ही गाँव के सारे निवासियों को कलमा पढ़ा दिया जाता था। ऐसे लोग अपने को नौमुस्लिम मानने से इन्कार करते हुए हिन्दू रीति-रिवाजों का ही पालन करते रहते थे, किन्तु हिन्दू धर्म के निष्ठुर पुरोहितों ने उनके अपने धर्म में पुनः प्रविष्ट होने के द्वार बन्द कर दिये। फलतः वे मुस्लिम समाज में पूर्णतया खपा लिये गये। किन्तु भारत के सर्वप्रमुख सुधार आन्दोलन के रूप में आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् इस्लाम और ईसाइयत को ग्रहण कर लेनेवाले हिन्दुओं को हिन्दू समाज मे पुनः प्रविष्ट कराया जाने लगा। इतना ही नहीं, जन्मना ईसाई और मुसलमानों के भी आर्यसमाज में प्रवेश की स्थितियाँ बन गईं।

ऐसा होने से कट्टरपन्थी मुल्ला भड़क उठे और अपने को शान्तिप्रिय कहनेवाले ईसाई भी विचलित हो गये। उन्होंने जी भरकर आर्यसमाज को कोसना आरम्भ किया और उसके संस्थापक को बुरा-भला कहने से भी बाज नहीं आये। हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों के लिए अपमानजनक भाषा का प्रयोग किया जाने लगा। हमारे समादरणीय आचार्य के प्रति इतनी निन्दनीय शब्दावली का प्रयोग किया गया, जिसे कि सहन करना भी कठिन था। दयानन्द को एक कपटी व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया, जिसने वेदमन्त्रों के ऐसे अर्थ किये हैं जो उनकी

---

१. 'From the Caves and Jungles of Hindustan' शीर्षक मैडम ब्लेवेट्स्की की पुस्तक से उद्धृत। —सम्पादक

शब्दावली से कदापि सिद्ध नहीं होते। किन्तु इस प्रकार के आरोपों से भी विरोधियों के लक्ष्य की पूर्ति नहीं हुई। जिन लोगों ने पादरी स्कॉट को स्वामी दयानन्द के समक्ष प्रणत भाव से प्रणिपात करते हुए देखा है तथा जिन्होंने बनारस के पण्डितों को शास्त्रार्थ में उनके सामने पराजित होते देखा है, वे यह समझ जायेंगे कि ईसाई पादरियों की चालें अब किस प्रकार निष्फल होती रहेंगी। अपनी असफलता को देखते हुए उन्होंने दुगुनी शक्ति से हिन्दूओं के अछूत वर्ग को ईसाई बनाने का अभियान चलाया। किन्तु यहाँ भी आर्य प्रचारकों ने उन्हें मात दी। उन्होंने दलितवर्ग के लोगों को आश्वस्त किया कि अपने पूर्वजों के धर्म का पालन करते हुए भी वे अपनी सामाजिक दशा को सुधार सकते हैं। निम्नवर्ग के लोगों ने इन आश्वासनों को ध्यान में रखकर परमत को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और इस प्रकार मिशनरियों के षड्यन्त्र निष्फल हो गये।

किन्तु आर्यसमाज के दुर्निवार शत्रुओं के सभी हथियार अभी भोथरे नहीं हुए थे। उन्होंने आर्यों से लड़ने के लिए नये शस्त्र निकाले। शासकवर्ग पर अपने प्रभाव को अनुभव कर तथा यह जानकर कि सरकार तथा उसके द्वारा शासित जनता का परस्पर सम्पर्क बहुत प्रगाढ़ नहीं है, उन्होंने आर्यों के विरुद्ध राज्याधिकारियों के कान भरना जारी रक्खा। ईसाई प्रचारकों ने यह कहना आरम्भ किया कि आर्यसमाज एक राजनैतिक संस्था है, जिसका लक्ष्य ब्रिटिश राज्य को समाप्त करना है। १८८३ में ईसाई प्रचारकों द्वारा प्रचारित एक पत्र में आर्यसमाज के सदस्यों पर राजनैतिक गतिविधियों में लिप्त रहने का आरोप लगाया गया। इस निराधार आक्षेप का प्रतिवाद करते हुए 'आर्य मैगजीन' ने अपने दिसम्बर १८८३ के अंक में लिखा—

"इस प्रकार की सूचना हमारे लिए सर्वथा नई है। आर्यसमाज धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिए स्थापित की गई है। इसका राजनैतिक मामलों में कोई हाथ नहीं है। अतः इसके प्रकाशित और सर्वत्र प्रसारित सिद्धान्तों के रहते हुए भी जो इसे राजनैतिक संस्था समझता है, वह या तो विद्वेषी है अथवा पागल-खाने में रक्खे जाने योग्य है।"

अपने आक्रामक प्रचारतन्त्र तथा सामरिक ढंग की कार्यप्रणाली के कारण आर्यसमाज ने अपने चारों ओर विरोधी शिविर खड़े कर लिये हैं। आर्यसमाज के अभ्युदय से उसके सभी विरोधियों की हानि हुई, पौराणिक पोपों की जीविका पर आघात हुआ, मुसलमान कट्टरपन्थी काफिरों को इस्लाम में दीक्षित कर उनके लिए बहिश्त के दरवाजे नहीं खुलवा सके, और ईसा के चरवाहे भी अपनी भेड़ों से वंचित हो गये। अब इन सबने मिलकर आर्यसमाज के शिशु-संगठन पर सम्मिलित रूप से धावा बोल दिया। आर्यसमाज के विरोध का इतना विस्तार हुआ कि जब कभी भारत या इंग्लैण्ड में कोई मुल्ला या पादरी अपने

आका अंग्रेज अफसर से मिलता तो आर्यसमाज के खिलाफ उसे भड़काये बिना नहीं रहता। यदि कहीं हिन्दू-मुस्लिम दंगा होता है तो उसकी जड़ में भी आर्यसमाज को ही माना जाता है। यदि कोई बगावत प्रचारित करनेवाला ट्रैक्ट प्रकाशित होता है तो यही कहा जाता है कि इसके पीछे भी किसी आर्य का ही हाथ है। ऐसे कथनों की न तो कभी पुष्टि होती है और न उनका प्रतिवाद ही किया जाता है। किन्तु इनका एक सुनिश्चित परिणाम यह होता है कि सन्देह के विषाणुओं को समाज के शरीर में प्रविष्ट होने और फैल जाने का अवसर मिल जाता है।

स्थापना के कुछ बाद ही आर्यसमाज ने प्रचलित राजनीति के सम्बन्ध में अपनी स्थिति को अत्यन्त निर्भीकता के साथ स्पष्ट किया था। उस समय नेशनल लीग के सचिव ने भारत की प्रधान समाज—आर्यसमाज लाहौर को एक पत्र भेजा, जिसमें प्रार्थना की गई थी कि शाही विधायक सभा में भारतीयों के प्रतिनिधित्व को दृष्टिगत रखते हुए वायसराय को जो प्रार्थनापत्र भेजा जा रहा है, उसमें आर्यसमाज को सहयोग करना चाहिए। आर्यसमाज लाहौर की अन्तरंग सभा ने अपने १२ नवम्बर १८८६ के अधिवेशन में इसपर विचार किया और निम्न प्रस्ताव पारित किया गया—

२६ दिसम्बर १६०१ के ट्रिब्यून में पंजाब के लैफ्टिनेंट गवर्नर सर मेकवर्थ यंग के दीक्षान्त-भाषण के कुछ अंश छपे हैं, जो निम्न प्रकार हैं। ध्यातव्य है कि सर यंग को ही आर्यसमाज के एक शिष्टमण्डल ने सत्यार्थप्रकाश का अंग्रेजी-अनुवाद सर्वप्रथम भेंट किया था। उन्होंने इस शिष्टमण्डल को आश्वस्त करते हुए कहा था कि वह आर्यसमाज के काम से सन्तुष्ट हैं। **उक्त भाषण के प्रासंगिक अंश**—

"जो छात्र अंग्रेजी विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करते हैं उनमें से बहुतेरे सीधे धार्मिक प्रचार-कार्य में लग जाते हैं, किन्तु इस प्रान्त में बहुत कम स्नातक ऐसे हैं, जो अपनी मान्यता के धर्म के प्रचारक बनते हैं। क्या आपमें से कुछ छात्र ऐसे नहीं हैं, जो दयानन्द सरस्वती, केशवचन्द्र सेन तथा सर सैयद अहमद खाँ जैसे पुरुषों के चरण-चिह्नों पर चलकर अपना जीवन व्यतीत करें? ये महापुरुष वे हैं, जिनका भारत के शिक्षित युवकवर्ग पर बहुत उपयोगी तथा स्थायी प्रभाव पड़ा है। ईश्वर के मार्ग पर चलनेवालों का सहकारी बनना एक उच्च आकांक्षा है। इस प्रकार आप अपने सहयोगी व्यक्तियों की आध्यात्मिक मार्ग पर बढ़ने में सहायता कर सकते हैं।"

आर्यसमाज के आदरणीय संस्थापक के जीवनकाल में कतिपय उच्च ब्रिटिश अधिकारियों ने उनसे भेंट की थी, तथा उनका आशीर्वाद माँगा था। कतिपय अन्यों ने उनके भाषण सुने थे तथा उनके विचारों का परिचय प्राप्त किया था।

कुछ अन्य अधिकारियों ने उनके उन शास्त्रार्थों की अध्यक्षता की थी, जो पौराणिक विद्वानों से हुए थे। ये अधिकारी उन्हें भली-भाँति जानते थे, तथा उनके प्रशंसक भी थे। वे उनके प्रति श्रद्धा रखते थे। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त राज-प्रजा-धर्म विषयक एक व्याख्यान के अन्त में एक प्रमुख ब्रिटिश अधिकारी ने, जो इस वक्तृता को पूर्ण रुचि तथा तल्लीनतापूर्वक सुन रहा था, कहा कि यदि स्वामी जी ने यह व्याख्यान सिपाही-विद्रोह के पहले दिया होता, तो शायद राजद्रोह का वह दुःखद प्रसंग सर्वथा टल ही जाता। जब बनारस के जिला मजिस्ट्रेट के द्वारा उनके व्याख्यानों पर रोक लगा दी गई, तो 'पायोनियर' नामक पत्र ने उनके पक्ष में आवाज उठाई। फलतः सर्वोच्च अधिकारियों ने तार भेजकर मजिस्ट्रेट के उक्त आदेश को निरस्त कर दिया। पौराणिक पण्डितों ने स्वामी जी के सम्बन्ध में यह प्रवाद प्रचलित किया कि वे सरकार के एजेण्ट हैं, जिन्हें हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिए नियुक्त किया गया है।

ऐंग्लो-इण्डियनों की वह पीढ़ी, जो स्वामी जी के चरणों में बैठ चुकी है तथा जिसने उन्हें स्वयं देखा है, उनके तथाकथित राजनैतिक षड्यन्त्रों की झूठी अफवाहों पर कभी विश्वास नहीं कर सकती।

१८९१ में पंजाब के प्रान्तीय जनगणना-अधीक्षक श्री ई० एम० मैक्लेगन द्वारा प्रस्तुत पंजाब-जनगणना की रिपोर्ट में आर्यसमाज पर लगाये जानेवाले उन राजनैतिक आरोपों का खण्डन किया गया है, जिनमें यह कहा गया था कि आर्यसमाज संस्थागत रूप में अपने उन सदस्यों का समर्थन करती है, जिनकी राजनीति में दिलचस्पी है।

"आर्यधर्म का आरम्भ एक पुनर्जागरण-आन्दोलन के रूप में हुआ है। यह हमें उस युग में ले चलता है जब कि आर्य जाति का उत्तर भारत पर शासन था। इस धर्म में आर्यावर्त को एक ऐसे देश के रूप में जाना गया है, जिसके उत्तर और दक्षिण की सीमा हिमालय तथा विन्ध्यपर्वत बनाते हैं तथा जो पूर्व में ब्रह्मपुत्र तथा पश्चिम में सिन्धु नदी से घिरा है। इस मत के लोगों की धारणा है कि इसी प्राचीन आर्यावर्त देश में सृष्टि के आदिकाल से आर्य लोगों का निवास रहा है। इस पुनर्जागरण-आन्दोलन का मूल आधार धार्मिक और सामाजिक ही है, किन्तु आर्यसमाज में राजनैतिक अभिरुचिवाले भी कुछ लोग हैं। देश में स्वायत्त शासन के विचार को बढ़ावा देनेवाली संस्थाओं से सहानुभूति रखने के कारण आर्य-समाज कांग्रेस-आन्दोलन का साथ देता प्रतीत होता है। अपने सामाजिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों और मान्यताओं की दृष्टि से आर्यसमाज न तो अंग्रेजी प्रभाव को ही स्वीकार करता है और न अंग्रेजी चिन्तन-प्रणाली को ही, और आर्यसमाज के राजनीतिज्ञ यदा-कदा अपने इसी स्वदेशी सिद्धान्त को राजनीति के क्षेत्र में भी प्रचलित करने के इच्छुक रहते हैं।

अपने सदस्यों के एक वर्ग की राजनैतिक रुचियों के कारण समूचे आर्यसमाज का एक संस्था के रूप में झुकाव है, इस व्यापक धारणा के दो कारण हैं—प्रथम तो यह कि आर्यसमाजी बननेवाले लोग मुख्यत: एक ही वर्ग से इसमें प्रवेश करते हैं, और दूसरा यह कि इस संस्था का संगठन पूर्णतया संशिष्ट तथा छिद्रतारहित है।''

१८६९ में सहारनपुर जिले के गाँव तीतरों के कुछ मुसलमानों ने वहाँ के जाइंट मजिस्ट्रेट को लाला चन्द्रभान के खिलाफ, जो वहाँ की आर्यसमाज के एक सक्रिय व्यक्ति थे, यह कहकर शिकायत की कि उन्हें किसी एक भवन को आर्यसमाज की कार्यवाही के लिए प्रयुक्त करने की इजाजत नहीं दी जानी चाहिए, क्योंकि इस मकान के पड़ोस में कुछ मुसलमान रहते हैं और ऐसा होने से शान्ति को खतरा हो सकता है। उनकी शिकायत का आशय सरकार को यह बताना था कि आर्यसमाज कानून का पालन करनेवाली संस्था नहीं है। अपने आदेश में अंग्रेज मजिस्ट्रेट ने आर्यसमाज को शान्तिप्रिय संस्था बताया। हम यहाँ उक्त आदेश की प्रमाणित प्रतिलिपि पेश कर रहे हैं—

फैजुल्ला खाँ तथा अन्य बनाम चन्द्रभान

यह तीतरों के कुछ मुसलमानों द्वारा भेजी गई एक दर्ख्वास्त है, जिसमें फौजदारी कानून की धारा एस-१४७ के अन्तर्गत यह माँग की गई है कि तीतरों के एक घर को चन्द्रभान तथा कतिपय अन्य लोगों द्वारा आर्यसमाज के भवन के रूप म प्रयुक्त करने से रोका जाय तथा उन्हें इस मकान में कुछ रद्दोबदल करने की भी इजाजत न दी जाय। आज की पेशी पर चन्द्रभान उपस्थित थे, प्रार्थियों की अनुपस्थिति ही इस प्रार्थनापत्र को रद्द कर देने का पर्याप्त कारण है।

मैंने स्वयं तीतरों जाकर दोनों पक्षों के सम्मुख उस विवादास्पद घर का निरीक्षण किया है। इसके समीप के कुछ घर हिन्दुओं के, तो कुछ मुसलमानों के हैं। चन्द्रभान ने एक बेचानपत्र पेश किया, जिससे सिद्ध होता है कि इस स्थान का अधिकारी आर्यसमाज है। इसके पूर्व कि धारा एस-१४७ के अन्तर्गत कोई कार्यवाही की जाय, यह सिद्ध करना आवश्यक है कि इस स्थान पर आर्यसमाज के रहने से शान्ति को खतरा है। मैं सोच भी नहीं सकता कि आर्यसमाज जैसी शान्तिप्रिय तथा कानून को माननेवाली संस्था के द्वारा शान्ति को खतरा हो सकता है। यहाँ कोई ऐसी पूजा-उपासना नहीं की जाती, जिससे मुसलमानों को बुरा लगे। और इसके उपरान्त भी यदि एक कानून का पूर्णतया पालन करनेवाली संस्था द्वारा अपनी ही सम्पत्ति के रूप में प्राप्त स्थान पर कानून के अन्तर्गत की जानेवाली बैठकों पर मुसलमानों को कोई आपत्ति होती है, तो इसके लिए वे स्वयं ही दोषी होंगे।

अत: इस प्रार्थना को पूर्णतया निस्सार समझकर मैं इसे खारिज करता हूँ

तथा प्रार्थियों द्वारा प्रतिवादियों को मुकद्दमे का व्यय देने के आदेश देता हूँ।

२४. १. १८९४　　　　　　　ह० जे० एच० कॉक्स जे० एम०

चुन्नीलाल मुख्य लिपिक द्वारा तैयार प्रमाणित प्रतिलिपि

आलाराम का मुकद्दमा

आलाराम अत्यधिक भद्दी भाषा प्रयुक्त करनेवाला एक सनातनी संन्यासी था। इसने १९०२ में इलाहाबाद में आर्यसमाज और उसके संस्थापक के विरुद्ध अत्यन्त अभद्र तथा अश्लील शब्द प्रयुक्त करते हुए कुछ भाषण दिये। अन्य बातों के अलावा उसने यह भी कहा कि आर्य लोग सरकार के प्रति वफादार नहीं हैं और यह भी कि स्वामी दयानन्द का प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश राजद्रोह से परिपूर्ण है। सरकार ने फौजदारी कानून की धारा १०८ के आधार पर उसपर अभियोग चलाया। उसने अपने कथन की पुष्टि करते हुए कहा कि दयानन्द एक ऐसा षड्यन्त्रकारी था, जिसने लोगों को ब्रिटिश सरकार के खिलाफ विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया। इस अभियोग के निर्णय में विद्वान् जिला मजिस्ट्रेट मिस्टर पी० हैरिसन ने बड़ी योग्यता के साथ स्वामी दयानन्द और सत्यार्थप्रकाश का बचाव किया। यहाँ उनके उस निर्णय से उद्धरण दिये जाते हैं—

"यह कहा गया है कि आर्यसमाजियों ने अथवा खास तौर से दयानन्द ने आलाराम से भी अधिक आपत्तिजनक सामग्री लिखी या प्रकाशित की है। ऐसे प्रकाशकों के कुछ नमूनों को, जो अनुवाद रूप में मेरे समक्ष लाये गये, मैंने उनका मूल से मिलान किया है। इन उद्धरणों में से कुछ ऐसे हैं जो आलाराम द्वारा आर्यों को राजद्रोही सिद्ध करने के समर्थन में पेश किये गये हैं। मैं एक ऐसा ही उद्धरण यहाँ रख रहा हूँ जिसका अभिप्राय निम्न है—"हमारे देश में कभी विदेशी शासक न हों और हम कभी पराधीन न हों।" उद्धरण-संख्या २, ३, ४ तथा ५ साम्राज्य-प्राप्ति हेतु प्रार्थनाएँ हैं। उद्धरण-संख्या ६ भारत में स्वदेशी सरकार के न होने का दुःख प्रकट करता है और उसके अन्त में कहा गया है—"कोई कितना ही करे किन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।" उद्धरण ६ मुझे सर्वथा अप्रासंगिक लगता है। उद्धरण ८ गोरों को अपने वर्ग के प्रति पक्षपात-वृत्ति बताता है और इसमें इस बात का संकेत है कि यदि एक गोरा आदमी किसी काले को मार भी डाले, तो वह दण्ड से बच जाता है।

मुझे यह आरोप ब्रिटिश सरकार की अपेक्षा ईसाइयत के प्रति लगाया गया प्रतीत होता है।

उद्धरण ९ देश की आन्तरिक भिन्नता का कारण विदेशी सत्ता को बताता

है। 'ईश्वर ऐसी कृपा करें कि यह राजरोग आर्यों से दूर हो जाए।' १४वें उद्धरण तक की सामग्री कुछ अधिक महत्त्व की नहीं है। उद्धरण-संख्या १४ में कहा गया है कि जब कि स्वदेशी लोग अपने ही देश में व्यापार करते हैं और विदेशी लोग इन देशों पर राज्य करते तथा इनसे व्यापार करते हैं तो इसका परिणाम दरिद्रता और दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। उद्धरण-संख्या १५ आर्यों की पराधीनता का कारण उनकी अनेक बुराइयों को बताता है और निष्कर्ष रूप में कहता है कि इस दुर्भाग्य के कारण आर्य लोग विदेशियों द्वारा पादाक्रान्त हो रहे हैं। उद्धरण-संख्या १६ आर्यों के बढ़ते हुए कष्टों का कारण उन विदेशियों को बताता है जो मांसाहारी हैं और मद्यपान करते हैं। कुछ अन्य उद्धरण आदर्श राजा या शासक का वर्णन करते हैं तथा गोरक्षा की जोरदार वकालत करते हुए गोहत्यारों के सर्वनाश की कामना करते हैं।

उपर्युक्त सभी उद्धरणों में मुझे कहीं राजद्रोह को उत्तेजित करने का भाव दिखाई नहीं पड़ा, किन्तु उनसे इस पश्चात्ताप की अभिव्यक्ति तो सूचित होती है कि अनेक धार्मिक और नैतिक कारणों से हिन्दू एक पराधीन जाति बन गई है। स्वामी दयानन्द के उपदेशों का सामान्य लक्ष्य मुझे तो यही प्रतीत होता है कि वे सुधार को उत्तेजित करना चाहते हैं, ताकि अन्ततः राज्यशासन स्वदेश के लोगों के अधिकार में आ सकें। स्वामी दयानन्द ने व्यवहारतः यह स्वीकार कर लिया है कि आधुनिक काल के हिन्दुओं में कुछ मौलिक दोष हैं जिनके कारण वे स्वतन्त्रता प्राप्त करने में असमर्थ हैं।

उनके ये प्रबोधन और प्रार्थनाएँ विदेशी सरकार को तुरन्त हटा देने के लिए नहीं हैं, किन्तु उनकी धारणा है कि यदि उनके द्वारा बताये गये सुधार कर लिये जाते हैं तो शायद निकट भविष्य में वे पुनः स्वराज्य प्राप्त कर सकेंगे। यहाँ तक कि उन्होंने गोरक्षा के लिए जो सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, उनमें भी मुझे राजद्रोह के लिए कोई उत्तेजना दिखाई नहीं पड़ती, अपितु वे ऐसे शासक की प्रशंसा करते हैं जो गोवध को बन्द करे। उनके इन कथनों में न तो हथियार उठाने की प्रेरणा है और न युद्ध का कोई घोष।

आलाराम द्वारा प्रस्तुत सामग्री पर विचार करने के पश्चात् मैं उसके परिणामों को लेता हूँ। सारे मामले पर व्यापक रूप से विचार करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आलाराम ने आर्यसमाज पर आक्रमण करते हुए जो प्रचारपत्रक वितरित किये हैं तथा दीवारों पर चिपकाये हैं उनसे उसने आर्यसमाज तथा उच्च वर्ण के हिन्दुओं के बीच मनोमालिन्य बढ़ाने की ही चेष्टा की है, इतना ही नहीं सम्राट् की राजभक्त एवं कानून का परिपालन करनेवाली प्रजा तथा आर्यसमाज के बीच खाई खोदने का भी प्रयास किया है। साक्षियों में यह भी कहा गया है कि आलाराम की सभाओं में पौराणिक हिन्दुओं के अलावा

ईसाई तथा मुसलमान भी उपस्थित रहते थे। इससे सिद्ध होता है कि आलाराम के आरोप मुख्यतः इन हिन्दुओं को ही आर्यसमाज से विरुद्ध करने में कारण नहीं बनते थे, जो सिद्धान्ततः आर्यसमाज के विरोधी हैं, अपितु वह इतर जनता को भी आर्यसमाज का विरोधी बनाना चाहता था।

अन्त में मैं प्रदर्शित वस्तु "ए" के बारे में कहूँगा जिसमें आर्यसमाज के राजद्रोही चरित्र के सम्बन्ध में सरकारी अधिकारियों को गुप्त सूचना देने की बात कही गई है। आलाराम ने यह स्वीकार किया है कि यह प्रमाण उसी के द्वारा गढ़ा गया है और उसी ने इसे अधिकारियों को भेजा है। इस सूचनापत्रक का वर्ण्य-विषय कथमपि धार्मिक नहीं कहा जा सकता। इसका प्रयोजन आर्यसमाज को हानि पहुँचाना और सरकारी अधिकारियों को उसके खिलाफ करना है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि शाहजहाँपुर तथा कानपुर में चेतावनी दिये जाने के उपरान्त भी आलाराम ने इस वर्ष इलाहाबाद में व्याख्यान दिये तथा नोटिस बाँटे। वह अपनी आदत पर अड़ा हुआ है और सारी परिस्थितियों पर विचार करने के पश्चात् मैं उसके इस कार्य को दुर्भावनापूर्ण मानने के लिए विवश हूँ। वह स्वयं किसी समय आर्यसमाज का उपदेशक था, किन्तु किसी कारणवश उसे वहाँ से निकाल दिया गया। यही उसके विद्वेष का कारण बना और उसी बदले की भावना के कारण वह जो कार्य करता है, उससे उसका दुराग्रह स्पष्ट ज्ञात होता है।

अन्त में मैं यह अनुभव करता हूँ कि फौजदारी कानून की धारा १०८ के अन्तर्गत आलाराम को अपने सदाचरण को प्रमाणित करना होगा। अपने द्वारा अपनाये गये गलत मार्ग को त्यागने के लिए उसपर विशेष दबाव डालना होगा। उसका स्वयं की जीविका का कोई साधन नहीं है, अतः उससे माँगी जानेवाली जमानत बराएनाम ही होगी। मैं आदेश देता हूँ कि आलाराम २५ रुपये का अनुबन्धपत्र लिखे और इलाहाबाद के दो प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रत्येक १००० रुपये की उसकी जमानत एक वर्ष तक के अच्छे आचरण के लिए देवें। इस प्रकार की जमानत न देने पर उसे एक वर्ष की साधारण कैद की सजा दी जाती है।"

सरकार के दृष्टिकोण में आंशिक परिवर्तन

किन्तु दुर्भाग्य देखिये कि जिस आलाराम को मि० हैरिसन ने एक खतरनाक तथा दुर्भावनाग्रस्त व्यक्ति बताकर दण्डित किया था, वही अन्त में अधिकारियों को आर्यसमाज के विरुद्ध पूर्वाग्रही बनाने में सफल हो गया। सरकारी सेवा में नवप्रविष्ट व्यक्तियों को ऐंग्लो-इण्डियनों की पुरानी जमात ने तथा प्रभावशाली मिशनरियों ने अन्ततः प्रभावित कर ही दिया। इसके कुछ अतिरिक्त कारण थे, जिनका हम अब वर्णन करेंगे।

हालाँकि यह परस्पर-विरुद्ध दिखाई देनेवाली बात ही है, किन्तु यह भी सत्य है कि अपने-आप में पूर्ण धार्मिक चरित्र रखनेवाली आर्यसमाज को भी राजनीतियुक्त तथा दकियानूसी समझा गया। जब कोई धर्म या मत प्रगति करता है तो उसके अनुयायी जोश में आकर अपने अनुयायियों की संख्या-वृद्धि करने में लग जाते हैं। फलतः वे लौकिक कर्त्तव्यों, सांसारिक मर्यादाओं तथा राजनैतिक हितों के प्रति विमुख हो जाते हैं। उनका सम्प्रदाय ही उनकी कार्य-प्रवृत्तियों का केन्द्रबिन्दु बन जाता है और वे साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को ही आगे रखकर अपना कार्य करते हैं। इससे उनपर संकीर्णता, गुप्त राजनैतिक प्रचार को प्रोत्साहित करने तथा गुप्त कार्यवाही करने के आरोप लगाये जाते हैं।

आर्यों ने अपने राजनैतिक अधिकारों की रक्षा के लिए कोई संस्था नहीं बनाई है। उनकी रुचियाँ तो केवल उनके समाज तक ही सीमित हैं और उनके सभी सार्वजनिक आयोजनों में धार्मिक इतिकर्त्तव्य ही प्रधान रहते हैं। यदि कोई स्थानीय आर्यसमाज अपना वार्षिक उत्सव मनाती है तो सर्वप्रथम हवन किया जाता है। किसी वेदविद् विद्वान् ब्राह्मण को ब्रह्मा का पद प्रदान किया जाता है, अर्थ की दृष्टि से चाहे वह फटेहाल ही क्यों न हो। वेदों पर प्रवचन कराये जाते हैं, और वैदिक धर्म में प्रगाढ़ आस्थावालों को ही अध्यक्षता करने के लिए कहा जाता है। जब कोई बड़ा यज्ञ होता है तो सभी उपस्थित लोग पूर्णाहुति के समय खड़े हो जाते हैं और अवशिष्ट शाकल्य पवित्र अग्नि में छोड़ा जाता है। यदि लड़कों या लड़कियों की किसी पाठशाला में पारितोषिक-वितरण का उत्सव होता है तो सभा की अध्यक्षता ऐसे व्यक्ति को ही सौंपी जाती है जो वेदों में वर्णित आचरण के सिद्धान्तों के आधार पर छात्रों के सम्मुख उपयुक्त प्रवचन कर सके। गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर जो मुख्य समारोह होता है, वह है वेदारम्भ संस्कार। यह पूर्णतया एक धार्मिक संस्कार है और इसका उन लोगों के लिए कोई महत्त्व नहीं है जो वेदों को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानते। एक प्रमुख ईसाई प्रचारक ने, जिसने इस समारोह को देखा था, इसके बारे में निम्न प्रकार से लिखा है। उसके वर्णन से कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं—

"तत्पश्चात् बालकों के अभिभावकों में से एक उन सबका प्रतिनिधि बनकर खड़ा हुआ और उसने ब्रह्मचरियों से तीन प्रतिज्ञाएँ कराईं—सत्रह वर्षों तक वे आज्ञापालन, पवित्रता और अकिंचन जीवन-यापन करेंगे, जबतक कि वे पच्चीस वर्ष के न हो जावें। प्रत्येक प्रतिज्ञा का भाव उन्हें भलीभाँति समझाया गया, तत्पश्चात् ये प्रतिज्ञायें उनसे कराई गईं। यह हो जाने पर उन्हें लकड़ी की खड़ाऊँ दी गईं जो दूसरों की सहायता तथा अन्यों के प्रति कल्याण का प्रतीक हैं। तत्पश्चात् उनका जल से अभिषेक किया गया। प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए यह क्रिया पृथक् रूप से की गई। हाथ, पैर, मुख, नेत्र, कान आदि पर जल-

सिंचन किया गया।

अपने होंठों पर अँगुली रखकर उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अब से वे परमात्मा के प्रति समर्पित हैं। उन्हें स्मरण कराया गया है कि अब उनका मुख पवित्र हो गया है अतः उसका प्रयोग सत्य, पवित्र तथा उदार वाणी में ही होगा। इसी प्रकार उनके कान, जो हाथों से स्पर्श किये गये हैं तथा पवित्र हुए हैं, आगे से स्वस्थ एवं मधुर वाणी ही सुनेंगे। इसके पश्चात् वे अपने आचार्य तथा गुरु को सौंप दिये गये, जो अगले सत्रह वर्षों तक उनके लिए पिता-तुल्य पूज्य होगा। आचार्य ने इन छात्रों के लिए एक अत्यन्त प्रभावशाली तथा प्रिय उपदेश दिया। उसने उन्हें अपना बच्चा ही समझकर अत्यन्त सादगी, प्रेम तथा सचाई के साथ सम्बोधित किया। इस अनुशासनात्मक उपदेश के पश्चात् उन्हें दीक्षासूचक दण्ड प्रदान किया गया तथा उनको कहा गया कि वे इसका प्रयोग आत्मरक्षा, असहायों के रक्षण तथा किसी अन्य धर्मपूर्ण कृत्य में ही करेंगे। इसके पश्चात् उन्हें उपस्थित लोगों से भिक्षा-याचना के लिए भेजा गया जो अकिंचनता, मानवता तथा पवित्र याचनायुक्त जीवन जीने का प्रतीक था। इस प्रकार यह प्रभावशाली संस्कार समाप्त हुआ। इसमें निहित प्रतीक भी उतने ही प्रभावोत्पादक थे, जितनी उसमें निहित भावना धार्मिकता से पूर्ण तथा सच्ची थी। यह विद्यालय प्रधानतः चरित्र को महत्त्व देता है और एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिसका बहुशः अनुकरण किये जाने की आशा है।"

जो समारोह मुख्यतः धार्मिक और वेदों से सम्बन्धित होते हैं, उनकी अध्यक्षता करने के लिए किसी प्रमुख ईसाई अधिकारी को आमन्त्रित नहीं किया जाता। अन्य वर्गों के लोग अपने लौकिक स्वार्थों की रक्षा के लिए प्रदर्शन करते हैं, अतः वे अपने ऐसे समारोहों की अध्यक्षता के लिए धर्मनिरपेक्ष अधिकारी-वर्ग को ही आमन्त्रित करते हैं। आर्यसमाज पूर्णतया धार्मिक संगठन है, अतः कोई ऐसा अवसर अबतक नहीं आया, जबकि उसने सार्वजनिक रूप से ब्रिटिश अधिकारियों को बुलाकर उनका सम्मान किया हो। यह परस्पर-विरुद्ध दिखाई देनेवाला रवैया कभी-कभी अधिकारियों को कोंचता है और आर्यसमाज के विरोधी इसे और हवा देते हैं। तब कोई आश्चर्य नहीं कि इस मामले में आर्यसमाज की यह असहायता गलत ढंग से व्याख्यात की जाती है और राज्याधिकारियों में उसके राजनैतिक जमात होने का सन्देह प्रचारित होता है। इन अधिकारियों के बारे में यह भी कहना होगा कि ये प्रायः सामान्य जनता से न तो कोई सम्पर्क रखते हैं और न उनकी समस्याओं के बारे में ही अधिक जानते हैं। बात इतनी ही है कि विधाता ने ही इन्हें इस प्रजा का शासक बना दिया है और वे उसी बात को मान लेते हैं जो इनके खुशामदी सलाहकार इन्हें बता देते हैं।

इस परिस्थिति में हमें कोई आश्चर्य नहीं होता जब हम देखते हैं कि 'टाइम्स'

पत्रिका का विशेष संवाददाता, जिसे मुख्य रूप से भारतीय समस्याओं का प्रथम दृष्ट्या अध्ययन करने के लिए ही नियुक्त किया गया है, बिजली के दीपों से युक्त अपने सरकारी निवास को छोड़कर जनसाधारण के बीच जाने का भी कष्ट नहीं उठाता। इस संवाददाता ने, हालाँकि वह लाहौर में ही था और उसे आर्यसमाज के बारे में लिखने के लिए कहा गया था, कभी भी डी० ए० वी० कॉलेज तक जाने की तकलीफ भी गवारा नहीं की। तब एक अन्य पत्र के ईमानदार और विचक्षण प्रतिनिधि से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह स्टेशन से तीन मील पैदल चलकर गुरुकुल को देखने आयेगा? वह उस रहस्यपूर्ण अवगुंठन का उद्घाटन कैसे करेगा जिसने कि गुरुकुल को आच्छादित कर दिया है तथा वह उन बंगाली प्रोफेसरों के बारे में जानकारी कैसे प्राप्त करेगा, जो अभी थोड़े दिन पहले ही वहाँ नियुक्त किये गये हैं? जब ब्रिटिश साम्राज्य के प्रमुख पत्र के विशेष संवाददाता ही, जिन्हें इतनी सुविधायें प्राप्त हैं, ऐसा अनर्गल और कूड़ा-कर्कट लिखने लगें, तो इसपर तो किसी को आश्चर्य ही नहीं होना चाहिए यदि एक देशी सम्वाददाता अपने मिथ्या अहंकार और धृष्टता के कारण आर्यसमाज पर संकीर्ण तथा मतान्ध होने का इल्जाम लगाये।

परन्तु क्या अपने धार्मिक आदेशों के अनुपालन के लिए आर्यसमाज ने जो मार्ग चुना है, इसके लिए उसकी निन्दा करना उचित होगा? कदापि नहीं। यदि आर्यसमाज के कोई लौकिक स्वार्थ नहीं हैं, तो वर्तमान समस्या का समाधान करने के लिए उन्हें बनाया भी तो नहीं जा सकता। जो नियम सभा-समाजों के विकास और अभिवृद्धि को नियन्त्रित करते हैं, उन्हें आर्यसमाज या ब्रिटिश सरकार की सुविधा के लिए बदला तो नहीं जा सकता।

निश्चय ही आज आर्यसमाज अनेक प्रकार के संदेहों की घटाओं से घिरा हुआ है। आर्यों द्वारा दिये गये स्पष्टीकरणों, तथा ईमानदारीयुक्त राजभक्ति के आश्वासनों के बावजूद ब्रिटिश अधिकारियों के मन में आर्यसमाज को लेकर अनेक संशय हैं। हमारे द्वारा पेश किये गये स्मरणपत्र, घोषणापत्र तथा सफाई के बयान भी अपने उद्देश्य में असफल रहे हैं।

वैदिक धर्म निश्चय ही एक सार्वभौम धर्म है। इसकी धारणा है कि वेद-ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यमात्र के हित के लिए परमात्मा द्वारा दिया गया था। इसमें न तो किसी ऐसी जाति का उल्लेख है जो परमात्मा द्वारा विशिष्ट आशीर्वाद-प्राप्त हैं, और न ही किसी पैगम्बर के वैवाहिक पचड़ों या उसके दाम्पत्य-जीवन के सुखोपभोगों का वर्णन है। इसमें भौतिक और मनो-वैज्ञानिक सभी प्रकार की विद्याओं का बीज हमें उपलब्ध होता है। किन्तु हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि वैदिक धर्म की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों का काल भारतीय इतिहास का स्वर्णिम युग ही था। जिस समय भारत वैदिक धर्म के

प्रचार का केन्द्र था, उस समय यहाँ से संसार के विभिन्न देशों में धर्मप्रचारक भेजे जाते थे। यही देश संसार के एक बहुत बड़े साम्राज्य का प्रधान पीठस्थान था और भारतीय नरेश अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान तथा तिब्बत आदि पर अपना सीधा नियन्त्रण रखते थे। भारत के उपनिवेश निर्माण करनेवालों ने मिस्र, रोम, यूनान, पीरू तथा मैक्सिको आदि देशों में अपनी बस्तियाँ बसाई थीं। इसलिए जब आर्यसमाज प्राचीन भारत का गौरवगान गाता है, उस देश की गौरवगाथा का वर्णन करता है जहाँ वेदोक्त पद्धतियाँ प्रचलित हुईं, जिस देश में वैदिक दर्शन और वैदिक तत्त्वज्ञान अपने सर्वोच्च विकास पर पहुँचे, जहाँ के निवासियों ने वेद की नैतिक शिक्षाओं को अपने जीवन में उतारा, तो राष्ट्रवादी तत्त्वों को नवीन प्रेरणा मिलती है तथा इस देश के राष्ट्रकर्मी युवक अनुभव करते हैं कि उनकी अब तक की सुप्त राष्ट्रीय अस्मिता को पुनः जगाया जा रहा है और उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को नवस्फूर्ति प्रदान की जा रही है। अब तक तो उनके कानों में यही डाला जाता था कि भारत के इतिहास में निरन्तर प्रतारणा, अधःपतन, विदेशी आधिपत्य और शोषण के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं। यह भी सत्य है कि वैदिक धर्म की भावनाओं से उत्पन्न राष्ट्रवाद भारत की राष्ट्रीय एकता का महत्त्वपूर्ण साधन है। इससे नस्लवादी शत्रुता तथा साम्प्रदायिक कट्टरवाद के उत्पन्न होने की थोड़ी भी सम्भावना नहीं है।

आर्यसमाज हमें भारत के इतिहास के उस युग में ले जाता है जब कि पारसी, बौद्ध, ईसाइयत और इस्लाम का जन्म भी नहीं हुआ था। यदि हम प्रताप या शिवाजी के वीर कृत्यों का बखान करते हैं तो इससे मुसलमानों को चोट पहुँचती है। यदि शाहजहाँ को राष्ट्रीय कलाओं के संरक्षक के रूप में स्मरण किया जाता है तो बहुत-से हिन्दू इसे केवल इसलिए पसन्द नहीं करते क्योंकि वह मुस्लिम आक्रमणकारी तैमूर का वंशज है। किन्तु राम और सीता, कृष्ण और अर्जुन ऐसे राष्ट्रीय वीर पुरुष और वीर नारियाँ हैं, जिनके महान् कारनामों तथा धार्मिक आचरणों पर सभी भारतवासी गर्व कर सकते हैं, चाहे वे किसी जाति, नस्ल अथवा मत के क्यों न हों! उपनिषद् और दर्शनशास्त्र उन सभी भारतवासियों की समान विरासत हैं, जिनकी धमनियों में कपिल, जैमिनि, व्यास और पतंजलि का रक्त प्रवाहित हो रहा है, चाहे वे किसी धर्म को क्यों न मानते हों। यदि संस्कृत आज एक आश्चर्यजनक दृष्टि से पूर्ण भाषा है और उसके विकास की अपार सम्भावनाएँ हैं तो इसका श्रेय भारत के उन प्राचीन निवासियों को ही है, जो धार्मिक विवाद के युग के बहुत पहले के थे।

अतः देशभक्ति की जो भावना वेदों से जन्म लेती है, वह तो अपने-आपमें महान् प्रेरणादायी, सबको एकता के सूत्र में बाँधनेवाली, सबको शान्ति प्रदान करनेवाली तथा आनन्द देनेवाली है। परस्पर में भेद-भाव उत्पन्न करने की

अपेक्षा इससे पारस्परिक प्रेम और एकता की ही वृद्धि होती है। यह भावना भारतवासियों को विदेशी शासकों से घृणा करने की अपेक्षा शासक और शासित को बन्धुत्व के बन्धन में बाँधने की बात सिखाती है। कारण यह है कि वैदिक देशभक्ति की भावना इतिहास के इस मूल्यवान् तथ्य को उजागर करती है कि प्राच्य देशों की कालजयी संस्कृति और आधुनिक यूरोप की विज्ञानप्रधान संस्कृति, इन दोनों का मूल स्रोत भारत ही रहा है। अतः आज के यूरोपीय हमारे ही पूर्वजों के शिष्यों के वंशज हैं और इस भावना के अनुसार वे हमारे भाई ही हैं। उनकी परम्परा और कला का मूल स्रोत और हमारी परम्पराओं और कलाओं के उत्स एक ही रहे हैं। बौद्धिक सहानुभूति और परम्परागत एकता के बन्धन प्रगाढ़ होते हैं और उन्हें क्षणिक भावुकता, थोड़ी देर की गलतफहमी तथा अस्थायी गलत व्याख्याओं के द्वारा नहीं तोड़ा जा सकता।

वैदिक धर्म भारतीय राष्ट्रवाद का समर्थन केवल राष्ट्रवादियों में अतीत गौरव के भाव तथा भविष्य के प्रति आशा को जागृत करके ही नहीं करता, किन्तु यह अभारतीयों में भारत के प्रति आदर की भावना जागृत करके भी इसी लक्ष्य को पूरा करता है। यदि संसार के सारे श्रद्धालु बौद्ध कपिलवस्तु के प्रति सम्मान का भाव रखते हैं, यदि पैलेस्टाइन के नाम का उल्लेखमात्र ईसाइयों में श्रद्धा-स्रोत प्रवाहित कर सकता है, तो एक दिन भारत और विशेषतः वह गुजरात प्रान्त, जहाँ दयानन्द ने जन्म लिया, सारे संसार के आर्यों का तीर्थस्थान बन जाएगा। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, वेद की शिक्षाओं से ही स्वस्थ देश-भक्ति के भावों का उदय होता है। ऐसी स्वस्थ देशभक्ति की प्रशंसा मार्ले और मिण्टो जैसे राजनीतिज्ञों ने भी की है और उसे एक ऐसी शक्ति बताया है, जिसको प्रोत्साहित करने से नियम, व्यवस्था, उन्नति, सार्वत्रिक विकास की क्रमिक प्रक्रिया तथा प्रजातन्त्रिक सिद्धान्तों पर आधारित राजनैतिक उन्नति आदि प्राप्त किये जा सकते हैं। किन्तु कुछ अदूरदर्शी राजनीतिज्ञ, जो देशभक्ति के किसी भी रूप और प्रकार को पसन्द नहीं करते, आर्यसमाज से घृणा करते हैं तथा उसे एक राजनैतिक आन्दोलन मानकर उसका दमन करना चाहते हैं, जब कि सत्य तो यह है कि आर्यसमाज ने ही देशवासियों की महत्त्वाकांक्षाओं को जागृत किया है और उनमें राष्ट्रीय सम्मान का भाव भी पैदा किया है।

इस गलतफहमी का एक अन्य कारण भी है। वैदिक धर्म, संसार के अन्य महान् धर्मों की भाँति, जिन्होंने मानवता पर अपनी छाप छोड़ी है, केवल एक मत या पन्थ ही नहीं है, अपितु यह एक परिपूर्ण चिन्तनप्रणाली है, जीवन के सभी क्षेत्रों और कार्यों में मनुष्यों का मार्गदर्शन करनेवाली एक विधि-संहिता है। यह जीवन जीने की एक व्यवस्था तथा विज्ञान है। संक्षेप में कहें, तो जीवन के प्रति यह एक विशेष दृष्टिकोण है। वेद हमें मनुष्य के व्यष्टिगत तथा समष्टिगत

कर्त्तव्यों का बोध कराते हैं, वे सामाजिक नियन्त्रण तथा राजनीति-विज्ञान की भी शिक्षा देते हैं। सर्वोपरि, वे हमें यह बताते हैं कि प्रगति का सर्वोच्च नियम धार्मिकता का पालन है। इसी धार्मिकता ने राष्ट्रों को उन्नत बनाया है। समाज-व्यवस्था और राजनैतिक सत्ता का मूलाधार भी उनकी धार्मिकता ही है। वेद निरपवाद रूप से घोषणा करते हैं कि संसार में धर्म ही सर्वोच्च नियन्त्रक शक्ति है। इस समस्या का एक अन्य पहलू भी है, जिसपर हमें विचार करना है। वेद सभी जातियों के लिए हैं और उनमें कोई ऐसी शिक्षा नहीं है जो सार्वभौम और सार्वजनीन न हों अथवा उन्हें केवल भारत या भारतीय सन्दर्भों में ही वर्णित किया गया हो। यदि सरकारी कॉलेजों के प्राध्यापक अपने छात्रों को मिल की 'लिबर्टी', बेन्थम की 'थिअरी ऑफ लेजिस्लेशन', स्पेन्सर की 'मेन् वर्सस स्टेट', बेन्जेमिन किड की 'सोशल इवोल्यूशन', हेनरी जार्ज की 'प्रोग्रेस एण्ड पॉवर्टी', वालेस की 'दि वण्डरफुल सेंचुरी', एच०जी० वेल्स की 'अदर वर्ल्ड्स दैन आवर्स', कार्लायल की 'सोशलिज्म : ओल्ड एण्ड न्यू', लॉर्ड एक्टन की 'हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम' जैसी पुस्तकें पढ़ाते हैं तथा इन्हें पढ़ने की संस्तुति करते हैं और ऐसा करके भी यदि वे प्राध्यापक राजनैतिक आन्दोलनकारी नहीं माने जाते, तो कोई कारण नहीं कि उस आर्यसमाज को एक राजनैतिक संस्था समझा जाय, जो अन्य बातों के अलावा सामाजिक पुनर्निर्माण के वैदिक आदर्श, और सामाजिक अभिशासन की प्रणालियों की शिक्षा देता हुआ भी प्रचलित राजनीति से प्रयत्नपूर्वक दूर ही रहता है। सभी महान् धर्मों ने प्रशासन के मूलभूत सिद्धान्तों की शिक्षा दी है, क्योंकि ये धर्म एक व्यवस्थित दर्शन को भी साथ लेकर चलते हैं। इसलिए यदि वैदिक आदर्शों को अपनाने से राष्ट्रों का अभ्युत्थान होता है तो उन्हें हिन्दुओं अथवा किसी अन्य भारतीय समुदाय की ही भाँति अंग्रेजों द्वारा अपनाये जाने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए। दार्शनिक का कार्य सिद्धान्तों को प्रतिष्ठापित करने का होता है, वह सार्वजनिक जीवन की किसी हलचल में नहीं पड़ता, क्योंकि इसमें नैतिकता की क्षति की सम्भावना रहती है। इसी प्रकार आर्यसमाज एक ऐसी संस्था है, जिसका उद्देश्य तत्त्वज्ञान, दर्शन, राजनीतिशास्त्र-विषयक प्राचीन प्रणालियों को प्रचलित करना है। संक्षेप में, वह जीने की एक ऐसी विधि को व्याख्यात करता है, जो अपने-आपमें समग्र है। यह लोगों में विद्यमान तर्क और दलील को अपील करता है, तथा मानवता द्वारा अपने विचारों को स्वीकार कराने के लिए तर्क-शक्ति, समझाने-बुझाने तथा सत्य में निहित गतिशील शक्ति के साधनों का प्रयोग करता है। उसे विश्वास है कि ऐंग्लो-सैक्सन तथा जर्मन आदि अधिक प्रबुद्ध राष्ट्र उसके द्वारा प्रतिपादित दर्शन को अधिक शीघ्रता से स्वीकार कर लेंगे बनिस्बत उन जातियों के, जो अभी अज्ञान के अन्धकार में ही डूबी हुई हैं। तथापि यह पृथ्वी के उस अँधेरे

कोनों में भी अपनी विद्या और ज्ञान की दीपशिखा लेकर जाना अपना कर्त्तव्य समझता है, चाहे इसके लिए उसे कितनी ही यन्त्रणा दी जाय तथा उसपर अभियोग लगाये जायँ। भारत मे तो शान्ति तथा सौहार्द की स्थापना करने के लिए यह एक शक्तिशाली साधन है।

भारत में आर्यसमाज के माध्यम से ही शान्ति और सौहार्द का वातावरण पैदा किया जा सकता है, जैसा कि 'वैदिक मैगजीन' ने अपने एक अंक में लिखा था—

"राजनैतिक आन्दोलन निश्चय ही आर्यसमाज के कार्य की परिधि में नहीं आता। इसलिए नहीं कि आर्यसमाज शिक्षित भारतीयों की उचित आकांक्षाओं का विरोधी है, किन्तु वह यह मानता है कि राजनैतिक अधिकारों की समुचित प्राप्ति और उनकी रक्षा तभी सम्भव है, जबकि उन अधिकारों के लिए संघर्ष करनेवाले लोग चरित्रवान् हों। जबतक भारतवासी यह नहीं समझ लेते कि धार्मिक प्रवृत्ति ही राष्ट्रों की उन्नति का कारण होती है और जबतक दलित जातियों को उनके उचित अधिकार नहीं दिये जाते, जो आज सवर्ण जातियों तथा ब्राह्मण तानाशाहों के पैरों-तले कुचले जा रही हैं, तबतक उस देश के लोगों को आजादी प्रदान करना खतरनाक ही है, क्योंकि इस देश के ६ करोड़ नागरिक तो अछूत होने के कारण ही अपने सामान्य अधिकारों से वंचित हैं।

आर्यसमाज इन निम्नवर्ग के लोगों को ऊँचा उठाकर तथा लोगों को नैतिक और नागरिकोचित गुणों में प्रशिक्षित कर उन्हें स्वराज्य के लिए तैयार कर रहा है। एक प्रकार से वह लॉर्ड मिण्टो, लॉर्ड मार्ले, मि० गोखले तथा बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे राजनैतिक सुधारकों के हाथ ही मजबूत कर रहा है।

एक अन्य बात भी विचारणीय है। राजनैतिक आन्दोलन में उग्रता तथा कटुता आ जाना स्वाभाविक ही है। भारत जैसे देश में तो जहाँ विभिन्न भाषा-भाषी और विभिन्न मत-पन्थों के अनुयायी लोग बसते हैं, अनेक राजनैतिक दलों तथा भिन्न-भिन्न राजनैतिक विचारधाराओं का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। अतः यह आवश्यक है कि देशवासियों को एक ऐसी वेदी उपलब्ध कराई जाय, जहाँ परस्पर-विरोधी विचार रखनेवाले राजनीतिज्ञ भी एक-दूसरे को गले लगाने के लिए आगे आयें और एक-दूसरे के अच्छे गुणों को पहचानने और उन्हें सम्मान देने का अवसर उन्हें मिले। आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज की वेदियाँ ऐसी ही हैं जहाँ श्री गुप्त और श्री सिन्हा, श्री कृष्णकुमार मित्र और श्री रामानन्द चटर्जी के साथ बैठकर प्रार्थना कर सकते हैं तथा ईडर के महाराजा प्रतापसिंह लाला लाजपतराय के प्रति अपने बन्धुत्व-भाव को प्रदर्शित कर सकते हैं।

जो लोग यह मानते हैं कि आर्यसमाज को इस बात की इजाजत नहीं दी जा सकती कि वह अपने प्रिय सम्राट् तथा उसके प्रतिनिधियों को कोई प्रार्थनापत्र

प्रस्तुत कर उनसे किसी प्रकार के अधिकारों की याचना करे, वे शायद यही मानते हैं कि आर्यसमाज द्वारा अपने धर्म में लोगों को प्रविष्ट कराने का कार्य भारत और भारतीयों तक ही सीमित होना चाहिए। किन्तु हमारे विचार में तो यदि सम्राट् एडवर्ड और लॉर्ड मिण्टो भी वैदिक धर्म के अनुयायी बनें और आर्यसमाज में प्रविष्ट होना चाहें तो उनका स्वागत होना चाहिए। क्या वे उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ नहीं हैं, और क्या इसीलिए उन्हें आर्यसमाज में प्रविष्ट होने से रोका जाना चाहिए? हमारे विचार से तो श्री अश्विनीकुमार दत्त, और सर बैम्फाइड फुलर, लॉर्ड कर्जन और सर फिरोजशाह मेहता, महाराजा बर्दवान और कीर हार्डी, ढाका के नवाब और मि० नेविन्सन, मि० एक्विथ और मि० बालफोर, मि० लायड जार्ज और मि० जोसेफ चेम्बरलेन, मि० विन्स्टन चर्चिल और मि० मैक्स, लॉर्ड क्रोमर और लॉर्ड किचनर, मि० रेडमण्ड और मि० ओ० ब्रेम, सर जॉर्ज क्लार्क और मि० केलकर—इन सभी को आर्यसमाज के सदस्य बनने का अधिकार है। क्या इतने व्यापक आधार पर गठित किसी समाज को उसके वास्तविक लक्ष्यों को प्राप्त करने से रोका जा सकता है और किसी राजनैतिक मिथ्या प्रचार का उसे लक्ष्य बनाया जा सकता है?

यह सम्भावना तो है कि कभी आर्यसमाज को भी किसी षड्यंत्रकारी प्रवृत्ति के लिए साधन बनाया जा सकता है, कारण कि कुछ राजनैतिक आन्दोलनकारी भी इसके सदस्य हैं। किन्तु यह ऐसा ही है जैसा कि कुछ लोग चर्च ऑफ इंग्लैण्ड के द्वारा ब्रिटिश संसद के हाउस ऑफ लॉर्ड्स को समाप्त करने का आन्दोलन चलाते हैं।

संसार के सभी धार्मिक नेता, विशेषत: प्राच्य देशों के धार्मिक महापुरुष लौकिक शक्ति-सम्पन्न शासकों के सम्मुख झुकने के लिए कभी तैयार नहीं हुए। प्राय: एकान्तवासी होने और अपनी आदर्शवादी दुनिया में ही विचरण करने के कारण उन्होंने कभी सांसारिक वैभव-विलास की परवाह नहीं की। वे स्वभाव से ही स्पष्टवादी और सत्यप्रिय होते हैं और उनमें चापलूस दरबारियों के गुणों का सर्वथा अभाव ही होता है। इतिहास में जबतक आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न पुरुषों और लौकिक सत्ता के अधीश्वरों के आमने-सामने आने का अवसर आया है, तब-तब या तो सत्ताधीशों की सत्ता को ही धक्का लगा, जैसा कि हम सिकन्दर और दाण्ड्यायन के साक्षात्कार के दृष्टान्त से जान सके हैं, किन्तु यदि इससे विपरीत बात हुई, अर्थात् धार्मिक पुरुषों को राजपुरुषों के समक्ष झुकना पड़ा, तो समझ लीजिये कि सांसारिक वैभव और आकर्षण के समक्ष धर्म की सत्ता ने ही समर्पण कर दिया।

आर्यसमाजी नेता विशेषरूप से संवेदनशील हैं। वे स्वभाव से ही स्वाभिमानी होते हैं और उच्च अधिकारियों से अनावश्यक रूप से भेंट करने में संकोच

करते हैं। उन्हें यह भी अच्छा नहीं लगता कि उनका दृष्टिकोण जाने बिना ही कोई उनकी अनावश्यक आलोचना करे। शासक और शासित-वर्ग के बीच आज जैसे सम्बन्ध हैं, उन्हें देखते हुए यह भी उचित नहीं लगता कि धार्मिक नेता सरकारी अधिकारियों के समीप जाकर उन्हें उनके कर्त्तव्य और जिम्मेवारियाँ समझायें। हमारे देश की वर्तमान स्थिति में शासन-सत्ता के प्रतिनिधियों को दिये जानेवाले धर्म-नेताओं के उपदेश सार्वजनिक रूप में ही दिये जा सकते हैं। अब आर्यसमाजी नेताओं के इस दृष्टिकोण को गलत ढंग से पेश किया गया है। यह समझा जाता है कि आर्य लोग शासन के प्रति वफादार नहीं हैं तथा वे ब्रिटिश अधिकारियों का प्राय: बहिष्कार करते हैं। यह बात एक ब्रिटिश मजिस्ट्रेट ने बातचीत के दौरान एक जिम्मेदार आर्यसमाजी से कही थी। सचाई यह है कि यदि एक आर्यसमाजी नेता अपनी प्रतिष्ठा को दाव पर लगाकर तथा अपनी उच्च स्थिति से थोड़ा नीचे उतर किसी ब्रिटिश मजिस्ट्रेट से भेंट करता है तो इसे एक चालाकी-भरा कदम तथा कूटनीतिक चाल समझा जाता है। इस प्रकार वह एक विचित्र धर्मसंकट में पड़ जाता है और भविष्य में पुन: ऐसा कदम उठाने के पहले दो बार सोचता है।

किन्तु यदि कोई ऐसा तरीका निकाल लिया जाता है जिससे कि ब्रिटिश अधिकारियों और आर्यसमाजी नेताओं के बीच सम्पर्क बन सके, और दोनों पक्षों की प्रतिष्ठा को भी कोई हानि न पहुँचे, तो परस्पर की गलतफहमियों के बादल छँट सकते हैं। इससे उन दोनों ओर की मानसिक दुश्चिन्ताओं से भी छुटकारा मिल सकता है, जो आज विद्यमान हैं। इसका एक लाभ यह भी होगा कि इससे आर्यसमाज के समस्त प्रभाव को, बिना कोई सन्देह पैदा किये, शासक और शासित के बीच सौमनस्य तथा प्रेमभाव स्थापित करने में प्रयोग किया जा सकता है। यदि ऐसा अपेक्षित परिणाम निकलता है तो इससे सबसे अधिक प्रसन्नता उन्हीं को होगी, जो आज आर्यसमाज में सर्वोच्च नेता-पद पर हैं। आर्यसमाज तो सुधार के अपने सुनिर्धारित मार्ग पर बढ़ता ही जायगा। इस मार्ग में आनेवाली वह किसी भी बाधा की कभी चिन्ता नहीं करता। यदि ऐसा करने में दोनों पक्षों को हानि पहुँचानेवाले पारस्परिक अविश्वास से कोई संघर्ष की स्थिति पैदा भी होती है, तो उसे समाप्त किया जा सकता है। क्या ब्रिटिश कूटनीति, जिसने इससे अधिक बड़ी-बड़ी जटिल तथा उलझन-भरी समस्याओं को आसानी से सुलझाया है, यहाँ आकर असफल हो जायगी? हम तो ऐसा नहीं मानते।

गुरुकुल काँगड़ी और संयुक्त प्रान्त सरकार

गुरुकुल काँगड़ी भीड़-भाड़भरी बस्तियों से दूर है तथा इसके संचालकों ने एक ऐसी शिक्षा-पद्धति को लागू किया है जो सरकारी शिक्षण-संस्थाओं की

पद्धतियों से मूलतः भिन्न है। यही कारण है कि समाज द्वारा संचालित अन्य शिक्षण-संस्थाओं की अपेक्षा, जो भारतीय विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित हैं, गुरुकुल संस्था सरकारी अधिकारियों में अधिक सन्देह के भाव पैदा करती है। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों पर आरोप लगाये गये कि वे निष्णात अश्वारोही हैं और बन्दूकचालन में भी कुशल हैं। वे अर्जुन की भाँति एक ही निशाने में लक्ष्य-वेध कर सकते हैं। यह भी कहा गया कि वे तगड़े कसरती जवान हैं जिन्हें चन्द्रमा के प्रकाश में भी लड़ सकने की आधुनिक युद्धप्रणाली का शिक्षण दिया गया है। इसी प्रकार की मिथ्या कथायें उनके बारे में प्रचलित की गईं। बुद्धिमान् जिला-धिकारी श्री फोर्ड तथा संयुक्त प्रान्त के उदार तथा सन्तुलित मस्तिष्कवाले प्रशासक (गवर्नर) सर जॉन हीवेट ने इस नाजुक स्थिति को नहीं सँभाला होता, तो इस बात की पक्की सम्भावना थी कि कुछ लोगों को देशनिकाले की सजा मिलती, गुरुकुल को बल-प्रयोग करके बन्द करा दिया जाता, पत्रों में खूब शोर मचता, जनता में इसकी मौन प्रतिक्रिया भी होती तथा ब्रिटिश शासन के इतिहास में अनिर्वचनीय विक्षोभ फैल जाता। जो एक दुःखान्त त्रासदी होनेवाली थी वह सुखान्त प्रहसन के रूप में परिणत हो गई। इस घटना का परिणाम क्या रहा, इसे मैं इस ग्रन्थ के लेखक द्वारा लाहौर आर्यसमाज के गत वार्षिकोत्सव पर दिये गये अपने भाषण की एक अधिकृत रिपोर्ट के आधार पर प्रस्तुत कर रहा हूँ।

सर जॉन हीवेट से एक साक्षात्कार

यहाँ मैं अपने मूल विषय से थोड़ा हट रहा हूँ क्योंकि मेरी दृष्टि से यह विषयान्तर इसलिए आवश्यक है, ताकि मैं इसके द्वारा एक उपयोगी शिक्षाप्रद बात कह सकूँ। अब मैं पुनः अपनी व्यथा-कथा पर आता हूँ। सर जॉन हीवेट ने मुझे लिखा कि वे मुझसे मिलना चाहते हैं। परम आदरणीय गवर्नर का पत्र मुझे तब मिला, जब मैं एक लम्बी यात्रा से लौटा ही था। उक्त पत्र में प्रदत्त आदेश का अनुपालन करते हुए मैं देहरादून में गवर्नर महोदय के कैम्प में पहुँचा। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि एक देशी राजा ने मुझसे मिलने के लिए इसीलिए इन्कार कर दिया था क्योंकि उस समय मेरे कपड़े उस राजा के शाही दरबार के दरबारियों द्वारा पहने जानेवाले वस्त्रों के तुल्य तड़क-भड़कवाले नहीं थे। किन्तु यह जानते हुए भी कि मैं यात्रा में मैले हुए वस्त्र ही पहने हुए हूँ, सर जॉन ने पूर्ण आत्मीयता के साथ मेरा स्वागत किया। उन्होंने मुझे जो कुछ कहा, उसका सार यही है कि यदि हम अपने वास्तविक शत्रुओं की तलाश करना चाहते हैं तो हमें उन्हें अपने समीप ही तलाशना होगा। मैंने सर जॉन से यह भी कहा कि मुझे तो जो कुछ कहना था, वह मैंने अपने व्याख्यान में कह दिया है

और मैं तो उनका आदेश पालन करने के लिए ही उपस्थित हुआ हूँ। मेरे हृदय में उस समय जो कुछ उमड़ रहा था, उसे व्यक्त कर मैंने अपनी भावनाओं के तीव्र ज्वार को शान्त किया। इस भेंट का कोई लाभदायक परिणाम निकलेगा या नहीं, यह तो ईश्वर ही जानता है। किन्तु मैं इतना तो आपको बता सकता हूँ कि परम आदरणीय गवर्नर ने स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा कि गुरुकुल के बारे में उनको किसी प्रकार का सन्देह या शुब्हा नहीं है।

सर जॉन हीवेट के इन आश्वासनों के बावजूद यह धारणा बनी कि आर्य-समाज पर विपत्ति आनेवाली है। पटियाला का आर्यसमाज उस राज्य का सर्वाधिक जनप्रिय तथा शक्तिशाली समाज था। अनेक प्रमुख सरकारी कर्मचारी इसके सक्रिय सदस्य थे तथा अन्यों को भी इससे सहानुभूति थी। आर्यसमाज के प्रभाव से राज्य के प्रशासन में भी कार्यकुशलता तथा पवित्रता आई। परन्तु यह सब वहाँ के एक प्रमुख उच्चाधिकारी के अनुकूल सिद्ध नहीं हो रहा था। इन महोदय का नाम है मि० वारबर्टन और ये उस समय पटियाला राज्य में सर्व-शक्तिमान् बने हुए थे। हालाँकि उन्होंने आर्यसमाजियों पर षड्यंत्रकारी होने के जो आरोप लगाये, वे सभी असिद्ध रहे, जिसके परिणामस्वरूप स्वयं इनकी ही अपकीर्ति हुई। वास्तव में उस समय इनका कार्यकाल समाप्त हो रहा था, किन्तु अपने सेवाकाल को बढ़वाने के लिए उन्होंने उपयुक्त काण्ड करवाया।

पटियाला-अभियोग का संक्षिप्त इतिहास

११ अक्टूबर को अचानक तार द्वारा यह समाचार आया कि पटियाला-आर्यसमाज के अनेक आर्यसमाजियों को राजद्रोह और षड्यंत्र के आरोप में (भारतीय दण्ड-संहिता की धारा १२४-ए तथा १५३-ए के अन्तर्गत) गिरफ्तार कर लिया गया है। इस खबर ने सारे पंजाब को उत्तेजना से स्तम्भित कर दिया। बहुत दिनों तक तो इस समाचार की सत्यता का पता ही नहीं चला; प्रत्येक अखबार ने इसे अपने ढंग से छापा। कुछ ऐंग्लो-इण्डियन अखबारों ने गिरफ्तार व्यक्तियों की संख्या सैंकड़ों में बताई तो कुछ ने उसे एक सौ से कम बताया। कुछ पत्रों ने लिखा कि गिरफ्तार लोगों में अनेक विद्यार्थी भी हैं तथा एक-दो मुसलमानों और कुछ सिखों को भी पकड़ा गया है। गिरफ्तारियों और तलाशियों को लेकर इस प्रकार की भिन्न-भिन्न बातें कहीं गई। जब "पंजाबी" पत्र में गिरफ्तारियों का सही हाल प्रकाशित हुआ, तो सभी सन्देह समाप्त हो गये तथा सारी अनिश्चितता भी खत्म हो गई। यह सब बैरिस्टर रोशनलाल के प्रयत्नों का परिणाम था, जिन्हें पटियाला-अभियोग के प्रमुख अभियुक्त के मित्रों ने सारे तथ्यों का पता लगाने का भार सौंपा था। उन्होंने जो जाँच की और उसके आधार पर जो निष्कर्ष निकाले, उन्हें संक्षेप में निम्न प्रकार रक्खा जा

सकता है—

१. राज्य में कुछ समय से यह अफवाह गर्म थी कि पटियाला राज्य की शासनपरिषद् (रीजेन्सी कौन्सिल) पंजाब सरकार के पुलिस-विभाग से अवकाश प्राप्त करने के बाद पटियाला राज्य में पुलिस के महानिरीक्षक, जेलों के महा-निरीक्षक और पटियाला के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के तीनों पदों पर एकसाथ काम करनेवाले मिस्टर बारबर्टन की सेवायें समाप्त करने के लिए उत्सुक थी।

२. मिस्टर बारबर्टन कुछ समय से इस बात का प्रचार कर रहे थे कि महा-राजा के प्रदेश में उनके विरुद्ध कुछ राजद्रोही षड्यंत्र तैयार करने में लगे हुए हैं। वे राज्य के उच्च अधिकारियों को इस बात का विश्वास दिलाने में लगे हुए थे कि उनका यह विश्वास निराधार नहीं है और षड्यंत्रकारियों को गिरफ्तार करने की कार्यवाही तुरन्त की जानी चाहिए।

३. ११ अक्टूबर १९०९ को और उसके बाद कुछ दिनों में पटियाला शहर में एवं इस राज्य के अन्य स्थानों में पुलिस द्वारा ८४ व्यक्तियों को बन्दी बनाया गया। इनमें राज्य के लगभग सभी प्रमुख आर्यसमाजी थे। इनमें से कुछ उल्लेखनीय व्यक्तियों के नाम इस प्रकार थे—पटियाला आर्यसमाज के अध्यक्ष तथा एक्जीक्यूटिव इंजीनियर राय ज्वालाप्रसाद, समाज के मन्त्री लाला लक्ष्मण-दास बी० ए०, लोकनिर्माण-विभाग के लेखाकार लाला नन्दलाल, लाला बृजनाथ बी० ए०, बी० टी०, हेडमास्टर स्टेट हाईस्कूल पटियाला। आर्यसमाज के सभी सदस्यों, यहाँ तक कि चपरासी को भी गिरफ्तार कर लिया गया। आर्यसमाज के मन्दिर में ताला लगा दिया गया और इसपर पुलिस का पहरा बिठा दिया गया।

४. गिरफ्तार किये गये व्यक्तियों को उनपर लगाये गये आरोपों के बारे में कोई सूचना नहीं दी गई थी, केवल उनके वारण्ट में राजद्रोह की १२४-ए तथा १५३-ए धाराओं का उल्लेखमात्र था।

५. अभियुक्तों के घरों में जो तलाशियाँ ली गईं, वे सर्वथा अनियमित और अवैध थीं क्योंकि इन्हें लेते हुए फौजदारी जाब्ता कानून में बताये गये आवश्यक नियमों की घोर उपेक्षा की गयी थी। इस बारे में यह भी पता लगा कि ये तलाशियाँ अभियुक्तों के घरों में अपराधवाली सामग्री के बारे में प्राप्त किसी सूचना के आधार पर नहीं ली गई थीं, अपितु इस विचार से ली गयी थीं कि उनमें कोई भी ऐसी चीज ढूँढ निकाली जाय जिनसे उन्हें अपराधी सिद्ध किया जा सके। यह इस बात से स्पष्ट है कि बन्दी बनाये व्यक्तियों के घरों से गाड़ियाँ भरकर जो कागजात और पुस्तकें एकत्र की गयीं, उनमें बाइबल, रामायण और स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थ और चित्र भी थे।

पटियाला के महाराजा ने इन अभियुक्तों का मामला सुनने के लिए एक

विशेष न्यायालय का गठन किया। इसे इन अभियुक्तों पर चलाये गये मामलों पर विचार करने के लिए चीफ कोर्ट के अधिकार दिये गये। जब विशेष न्यायालय के सम्मुख अभियुक्तों की पैरवी के लिए उनका वकील खड़ा हुआ तो उसे यह पता लगा कि न्यायालय के द्वारा आदेश दिये जाने के बावजूद अभी तक अभियुक्तों के विरुद्ध कोई आरोप-पत्र तथा शिकायतें नहीं दी गई हैं, इस विषय में कोई कागजात न्यायालय में नहीं भेजे गये हैं। मिस्टर बारबर्टन ने इस बारे में जो कार्यवाही की थी, उससे यह स्पष्ट था कि उसने गिरफ्तारी के बारे में कानूनी विधि-विधानों का पालन करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और विशेष न्यायालय की सत्ता की उपेक्षा की। अभियुक्तों के वकील मिस्टर रोशनलाल यद्यपि मिस्टर बारबर्टन के पास न्यायालय का लिखित आदेश लेकर गये थे, किन्तु उन्हें अपने मुवक्किलों से मिलने की अनुमति इस विचित्र युक्ति के आधार पर नहीं दी गई कि अभी तक जाँच का काम चल रहा है। न्यायालय ने एक अभियुक्त को जमानत पर रिहा करने का आदेश दिया, किन्तु इस आदेश के पालन में पुलिस के महानिरीक्षक द्वारा काफी समय तक टालमटोल की गई। जब २२ नवम्बर को अभियुक्तों को न्यायालय में लाया गया, तो पुलिस ने उन्हें दुबारा हवालात में रखने की अनुमति देने की प्रार्थना की। बारबर्टन ने न्यायालय का आदेश होते हुए भी चिरंजीलाल को हवालात से मुक्त नहीं किया, किन्तु अपनी वैयक्तिक जान-पहचान के आधार पर अन्य अनेक व्यक्तियों को रिहा कर दिया।

इस अभियोग की सुनवाई २२ नवम्बर से आरम्भ हुई। पुलिस ने अदालत के सामने अपने पक्ष के समर्थन में गाड़ी-भरा "षड्यन्त्रकारी साहित्य" पेश किया जिसमें रामायण, महाभारत, बाइबिल तथा स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों की प्रतियाँ भी थीं। अभियुक्तों के खिलाफ कोई शिकायत तो थी नहीं, और यह भी स्वीकार किया गया कि मुकद्दमे की फाइल में भी ऐसी कोई शिकायत नहीं है। पुलिस ने रिमाण्ड माँगा। अदालत की कार्यवाही २५ नवम्बर तक के लिए उठ गई। उस दिन इस्तगासे की ओर से मिस्टर ग्रे वकील के रूप में हाजिर हुए। इस दिन भी कोई अभियोगपत्र पेश नहीं किया गया। न तो अभियुक्तों को ही अदालत में लाया गया और न आगे कोई कार्यवाही ही हुई। अतः न्यायाधीश तथा अभियुक्तों के वकील देर तक प्रतीक्षा करते रहे। इस बीच मिस्टर ग्रे महाराजा से एकान्त में बातचीत कर रहे थे। एक घण्टे की प्रतीक्षा के बाद महाराजा से आदेश मिला, जिसमें उन्होंने न्यायाधीशों को अपने समक्ष उपस्थित होने के लिए कहा था। लगभग डेढ़ घण्टे बाद न्यायाधीश लौटे और अभियोग की सुनवाई आरम्भ हुई। अभियुक्तों के वकील ने मुकद्दमे की सुनवाई आरम्भ करने के पहले अभियोग चलाने के आदेश तथा लिखित शिकायत पेश करने पर जोर दिया।

मि० ग्रे ने इस माँग का इस हास्यास्पद आधार पर विरोध किया कि फौजदारी दण्ड-संहिता की धारायें राज्य में लागू नहीं होतीं और यह भी कहा कि पटियाला राज्य में तो महाराजा स्वयं ही कानून हैं। अदालत ने ग्रे की इस आपत्ति को नहीं माना। तब उन्होंने लिखित शिकायत पेश करने का वादा किया। इसके बाद अभियुक्तों को रिमाण्ड पर भेजने का सवाल हुआ। अभियुक्तों के वकील ने रिमाण्ड की दख्वास्त का इस आधार पर विरोध किया कि उन्हें हवालात में रखना इसलिए अनुचित है, क्योंकि अदालत के समक्ष उनके अपराध का कोई सबूत नहीं है। जमानत का सवाल भी उठा। बचाव-पक्ष के वकील ने बताया कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि अभियुक्तों ने कोई अपराध किया है। अदालत ने दूसरे दिन फैसला देने की बात कही। हालाँकि पुलिस ने खुली अदालत में यह आश्वासन दिया था कि वकीलों को उनके मुवक्किलों से मिलने में कोई रुकावट नहीं डाली जायगी, तथापि पुलिस-अधीक्षक ने उन्हें मिलने की आज्ञा नहीं दी। इसकी शिकायत अदालत के समक्ष लिखकर की गई। इसपर अदालत ने अपने आदेश का पुनः उल्लेख किया। इसी बीच जमानत की प्रार्थना नामंजूर कर दी गई और पुलिस ने फिर रिमाण्ड माँगा। अगली सुनवाई के लिए १३ दिसम्बर १९०९ का दिन निश्चित किया गया। एक दिसम्बर को महाराजा ने एक आदेश प्रसारित कर कहा कि राज्य का कोई वकील अभियुक्तों की ओर से तबतक खड़ा नहीं हो सकता, जबतक कि वह महाराजा से इसके लिए आज्ञा नहीं ले लेता और जिन वकीलों को इसकी आज्ञा भी दी जाएगी उन्हें उन सारी शर्तों तथा प्रतिबन्धों को मानना होगा, जो अदालत समय-समय पर मुकद्दमे की सुनवाई के दौरान जारी करेगी। १५ नवम्बर को मुकद्दमे की सुनवाई हुई। लिखित शिकायत पेश की गई। अभियुक्तों में से अधिकांश पर यह आरोप लगाया गया कि वे आर्यसमाज के सदस्य हैं और बाकी उनसे सहानुभूति रखते हैं। यह भी कहा गया कि आर्यसमाज की बैठकों में षड्यन्त्रों पर चर्चा होती थी और इनका उद्देश्य भी षड्यन्त्र फैलाना होता था। आगे चलकर यह भी आरोप लगाया गया कि अभियुक्तों ने कुछ अन्यों से मिलकर सम्राट् को ब्रिटिश भारत की सर्वोच्च सत्ता से वंचित करने का षड्यन्त्र किया था। इनपर धारा १२१-ए, १२४-ए, १५३-ए तथा ५०५ के अन्तर्गत अभियोग लगाया गया। मिस्टर ग्रे ने आपत्ति करते हुए कहा कि अभियुक्तों के वकील तबतक अदालत में नहीं आ सकते, जब तक कि महाराजा से आज्ञा प्राप्त न कर लें, जब कि वे मुकद्दमे के आरम्भ से ही अदालत के आदेश से वहाँ उपस्थित हो रहे थे। अदालत ने आदेश किया कि महाराजा का आदेश पिछली तारीख से लागू नहीं हो सकता। अदालत द्वारा अपना निर्णय दे देने के बाद भी मिस्टर ग्रे अपनी माँग पर जोर देते रहे। इस-पर अदालत ने कहा कि उसके आदेश का पालन तो होगा ही। अभियोग चलाने

के लिए महाराजा का कोई अनुदेश भी प्रस्तुत नहीं किया गया और इस्तगासे की ओर से यह तर्क दिया गया कि किसी प्रकार के लिखित आदेश की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अदालत इस बात से सन्तुष्ट है कि अभियोग तो महाराजा की स्वीकृति से ही चलाया गया है। मिस्टर ग्रे ने आगे कहा कि उनके पास जो फाइल है, उसमें महाराजा का आदेश मौजूद है, किन्तु यह एक गुप्त दस्तावेज होने के कारण पेश नहीं किया जा सकता। जब इसपर अदालत ने उनके प्रतिकूल राय दी, तो उन्होंने धमकी देते हुए कहा कि ऐसी स्थिति में वे मुकद्दमे को स्थगित करने और महाराजा के पास अपील करने पर जोर देंगे। १६ तारीख को भी न तो अभियोग चलाने का आदेश और न गवाहों की सूची ही पेश की गई। जब उक्त आदेश के साथ गवाहों की सूची पेश की गई, तो पता चला कि इनमें से पाँच तो गैर-हाजिर हैं और अन्य आठ बाईस दिनों से एकान्त कोठरियों में बन्द कर रक्खे गये हैं। कुछ अभियुक्तों ने अपने प्रति किये गये दुर्व्यवहार की शिकायत भी की। १७ तारीख को मिस्टर ग्रे ने कहा कि एकान्त कोठरियों में बन्द आठ व्यक्ति अदालत के विचार की परिधि से बाहर हैं तथा इसी अदालत से उन्होंने इन व्यक्तियों को भी रिमाण्ड पर भेजने के लिए बार-बार प्रार्थना की है। इसके बाद मिस्टर ग्रे ने अभियोगपत्र पेश किया। उन्होंने कहा कि वे अदालत के सामने ऐसे परोक्ष प्रमाण प्रस्तुत करेंगे जिनसे न्यायाधीशों को अपने निष्कर्ष निकालने होंगे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि आर्यसमाज षड्यन्त्रकारी संस्था है और राजद्रोह के लिए दुरभिसन्धि करती है। सत्यार्थप्रकाश में ऐसे उद्धरण हैं जिनमें अन्य धर्म-संस्थापकों पर अनुचित आक्षेप किये गये हैं। इसके प्रमाण में उन्होंने 'दि रिव्यू ऑफ रिलिजन्स' नामक एक ऐसे पत्र को प्रस्तुत किया जो आर्यसमाज का कट्टर विरोधी था। उन्होंने आगे कहा कि आर्यसमाज का धर्म ही अन्यों की निन्दा पर आधारित है, अतः यह धारा १५३-ए के अन्तर्गत दोषी है। मिस्टर ग्रे की वक्तृता पर विचार करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अभियुक्तों के खिलाफ पेश किये गये साक्ष्य बहुत सबल नहीं थे। उनका तो कुसूर यही था कि वे धर्म से आर्यसमाजी थे तथा अन्य मत-मतान्तरों की आलोचना करते हुए वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार हेतु अत्युत्साही थे। अदालत ने मिस्टर ग्रे से कहा कि वह पुलिस द्वारा पेश की गई रिपोर्ट का सारांश और गवाहों की सूची पेश करे। १८ तारीख को उसने एक बार और जोर देकर कहा कि पुलिस-रिपोर्ट के पेश करने से अभियोग-पक्ष के प्रति अन्याय होगा। आगे की सुनवाई ३ जनवरी १९१० तक के लिए स्थगित हो गई। इस प्रकार बिना किसी आदेश के अभियुक्तों को तीन मास तक के लिए हवालात में रक्खा जाना था और यह भी तब, जब कि उन्हें अपराधों के बारे में कुछ भी स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया था। यह साफ हो गया कि इस्तगासा हर कदम पर

अभियुक्तों को अपने बचाव के लिए कोई कार्यवाही करने में हर प्रकार से बाधा डालेगा। ३ जनवरी को मिस्टर ग्रे ने अदालत को सूचित किया कि अभियुक्तों में से तीन को वे दोषमुक्त करना चाहते हैं और इस आधार पर सुनवाई को स्थगित करने के लिए कहा कि उन्होंने इजलास-खास से इन लोगों के खिलाफ अभियोग वापस लेने के लिए कहा है, और वे आदेशों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ५ जनवरी तक के लिए कार्यवाही ही स्थगित हो गई। ५ जनवरी को भी उक्त आधार पर पुनः अदालत की कार्यवाही नहीं हुई। ६ जनवरी को मिस्टर ग्रे ने ३० अपराधियों के खिलाफ मुकद्दमा उठाने की बात कही, किन्तु यह सूचना देते हुए रहस्यपूर्ण भाषा में यह भी कहा कि इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ये लोग निर्दोष हैं या इन्हें गिरफ्तार करने तथा इनपर दोष लगाने के पर्याप्त कारण नहीं हैं। उसने यह भी कहा कि चार अन्य व्यक्तियों के नाम अभियुक्तों की सूची में जोड़ने के महाराजा के आदेश भी उनके पास हैं। अभियुक्तों के वकील ने कहा कि इसके लिए पृथक् अभियोगपत्र पेश करना आवश्यक है तथा यह भी कहा कि मिस्टर ग्रे का यह तरीका कानून के विपरीत है। इस आपत्ति का उत्तर मिस्टर ग्रे ने यह कह कर दिया कि उनके लिए ऐसा करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि महाराजा ने उन्हें मौखिक रूप में ऐसा करने के लिए कहा था। सात जनवरी को मिस्टर ग्रे ने अपना विषैला अभिभाषण दिया जिसमें उन्होंने सत्यार्थप्रकाश को गलत-सलत उद्धृत कर यह सिद्ध करना चाहा कि स्वामी दयानन्द एक राजनैतिक आन्दोलनकारी थे और इसीलिए उन्होंने अन्य मतों के सम्बन्ध में बहुत कड़ाई से लिखा है। उसने एक और विचित्र बात कही कि चूँकि लाला लाजपतराय आर्य-समाज के सदस्य हैं और उन्होंने एक राजनैतिक पुस्तक लिखी है, अतः वे, न कि सरकार, आर्यसमाज को षड्यन्त्रकारी तथा वैदिक धर्म को राजनैतिक संगठन मानते हैं। इस दिन भी अदालत को यह पुनः बताया गया कि मिस्टर ग्रे अदालत के स्पष्ट आदेशों का पालन नहीं कर रहे हैं क्योंकि उन्होंने पुलिस-केस के सार-संक्षेप को अभी तक पेश नहीं किया है। ८ जनवरी को मिस्टर ग्रे ने अभियुक्तों के खिलाफ साक्ष्यों को संक्षेप में बताया तथा यह कहकर आर्यसमाज की निन्दा की कि अन्य बातों के अलावा आर्यसमाज सेना की राजभक्ति को भी नष्ट करना चाहता है। १८ जनवरी तक के लिए अभियोग की सुनवाई स्थगित कर दी गई।

८ जनवरी को अपने व्याख्यान में मिस्टर ग्रे ने न केवल जीवित आर्य-समाजियों को ही बुरा-भला कहा, अपितु आर्यसमाज के समादरणीय संस्थापक के लिए भी बहुत-कुछ आपत्तिजनक बातें कहीं। इससे सम्पूर्ण देश के आर्यों और उनसे भिन्न लोगों में क्षोभ फैल गया।

१७ जनवरी को अभियुक्तों ने किसी व्यक्ति की सलाह से महाराजा को

—१०

एक प्रार्थनापत्र प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने स्वयं को निर्दोष बताते हुए भविष्य में अतिरिक्त सावधान रहने की बात कही। साथ ही उन्होंने अनुरोध किया कि उनके खिलाफ अभियोग वापस लिया जाय तथा उन्हें अपने पदों पर पुनः नियोजित कर दिया जाय। महाराजा ने १९ जनवरी को प्रार्थना करनेवालों की आशाओं के प्रतिकूल उनके द्वारा प्रदत्त आश्वासनों को तो स्वीकार किया, किन्तु उनके खिलाफ लगाये आरोपों में थोड़ी सत्यता समझते हुए उन्हें अपने राज्य से निष्कासित कर दिया। आगे चलकर निष्कासन का यह आदेश भी पटियाला के मूल निवासियों पर से हटा लिया गया, क्योंकि वे ही उससे मुख्य रूप से प्रभावित होते थे।

अध्याय—२

मिस्टर ग्रे के प्रारम्भिक भाषण का परीक्षण

जब यह घोषित किया गया है कि मिस्टर ग्रे अपना भाषण पटियाला अभियोग से सम्बन्धित साक्षियों का संकेत देते हुए तथा अभियोजन-पक्ष द्वारा ग्रहण की जानेवाली कार्यप्रणाली को निर्दिष्ट करते हुए देंगे, तो उनसे काफी आशाएँ जगीं। लोगों ने सोचा कि पंजाब के वकील-समुदाय का यह प्रतिष्ठित नेता जो कुछ कहेगा वह अदालती प्रक्रिया का एक श्रेष्ठ नमूना तो होगा ही, इसके साथ ही उसकी वक्तृता में निष्पक्षता, तर्कप्रवणता तथा युक्तिसिद्ध वादविवाद के तत्त्व भी रहेंगे।

किन्तु यह आशा ऐतिहासिक निराशा में बदल गई। हमने आज तक ऐसी वक्तृता नहीं सुनी, जो मिस्टर ग्रे की इस वक्तृता की तुलना में साक्ष्यरहित, आधारहीन, व्यर्थ के आरोपों से युक्त तथा हेत्वाभासों से परिपूर्ण हो। इस्तगासे के इस वकील ने यदि कभी आर्यसमाज के प्रति न्याययुक्त होने का आडम्बर भी किया, तो वह इतना दुर्बल सिद्ध हुआ कि उससे इस संस्था को लाभ मिलने का सवाल ही नहीं था। एक बैरिस्टर से यह अपेक्षा की जाती है कि उसके कानूनी व्याख्यान में विधिसम्मत तर्क तथा न्यायप्रणाली के उत्कृष्ट उदाहरण रहेंगे। किन्तु इस विद्वान् बैरिस्टर ने तो कानूनी सन्दर्भों का मानो बहिष्कार ही कर दिया, अतः उसकी वक्तृता को तो किसी न्यायालय में दी गई वक्तृता केवल इसीलिए कहा जा सकता था क्योंकि वह किसी अदालत में एक बैरिस्टर द्वारा दी गई थी। परन्तु इसमें विधि और तर्क का तत्त्व तो इतना न्यून था कि इस वक्तृता को विधिसम्मत कहना मानो कानून का ही अपमान करना था।

अपने व्याख्यान के आरम्भ में ही मिस्टर ग्रे ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश भारत में प्रचलित दण्ड-संहिता को पटियाला राज्य में भी स्वीकृति प्राप्त है किन्तु उसे उसी सीमा तक मान्य किया जायगा, जहाँ तक कि वह इस राज्य के कानून के अनुकूल हो। इस प्रकार यद्यपि अभियोजन-पक्ष ने यह चाहा था कि अपराधियों को ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्धारित न्याय-पद्धति के अनुसार ही दण्ड मिले (ध्यान दीजिए मिस्टर ग्रे ने उन्हें दण्डित करने के लिए कहा, न कि उनके मुकद्दमे की सुनवाई करने के लिए) किन्तु ऐसा करते समय उन्होंने अदालत से कानून को व्यापक अर्थों में प्रयुक्त करने की प्रार्थना की, ताकि वे बचाव-पक्ष के

साथ धाँधली कर सकें। यह तो प्रारम्भ में ही स्पष्ट हो गया था कि इस मुकद्दमे की सुनवाई ब्रिटिश भारत में अथवा अन्य देशों में प्रचलित-न्याय प्रणाली की परिधि में नहीं होगी, बल्कि यहाँ तो विद्वान् अधिवक्ता द्वारा ईजाद किये गये स्वेच्छाचारमूलक विधिनियम ही काम में लाये जायेंगे।

इस बारे में इतना ही कहना पर्याप्त होगा। अब हम उनकी युक्तिप्रणाली की परीक्षा करें। पटियाला के आर्यसमाजियों द्वारा किये गये तथाकथित षड्यन्त्र को ब्रिटिश भारत में स्वीकृत साक्ष्य-कानून के आधार पर मिस्टर ग्रे को सिद्ध थोड़े ही करना था। वे तो चाहते थे कि अदालत परोक्ष साक्षियों के आधार पर ही कुछ निष्कर्ष निकाल ले। उनकी इच्छा थी कि अदालत उन मुखबिरों के कथन को प्रमाणभूत स्वीकार करे, जबकि उनके द्वारा कथित बातें सदा ही सन्देहास्पद रही हैं। वे चाहते थे कि जो घटनाएँ घटी हैं, उनके आधार पर ही कथित अपराध के निष्कर्ष निकाले जायें, चाहे उन घटनाओं से ऐसा कोई अपराध सिद्ध ही न होता हो। मिस्टर ग्रे सिद्ध करना चाहते थे कि गेरिबाल्डी, मेज़िनी तथा शिवाजी जैसे देशभक्तों की जीवनियाँ पटियाला में बेचना खतरनाक साहित्य का वितरण समझा जाय, जबकि इसी प्रकार का साहित्य ब्रिटिश भारत में हजारों की संख्या में बिकता रहा है। वे अभियुक्तों को इसी आधार पर दण्डित कराना चाहते थे क्योंकि उनके पास ऐसे अखबार बरामद हुए, जो उनकी दृष्टि में षड्यन्त्र को प्रोत्साहित करनेवाले चाहे न हों, राजनैतिक प्रवृत्तियुक्त अवश्य थे।

गलतबयानी करने, आधार न होने पर भी सत्य का आभास पैदा करने और उसके लिए वायवीय आधारभूमि तैयार करने में समस्त ब्रिटिश भारत में मिस्टर ग्रे का कोई अन्य प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। निषेधात्मक रुख को प्रस्तुत करने में वे अद्वितीय थे, तथा अपनी धारणा के इतने अन्ध समर्थक, कि उसके लिए वे समस्त संसार को नकार दें और इसके लिए उन्होंने जो नीति अख्त्यार की थी वह यही थी कि जो कुछ सिद्ध हो चुका है, उसे पूर्णतया अस्वीकार कर दो अथवा उसकी उपेक्षा करो। उदाहरण के लिए, वे कहते हैं कि आर्यसमाज ने इस बात का अभी तक तो प्रतिवाद भी नहीं किया था कि वह एक पूर्णतया धार्मिक संस्था के अतिरिक्त भी कुछ है। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में प्रस्तुत सभी साक्ष्यों को उन्होंने पूर्णतया नकार दिया। प्रारम्भ में उन्होंने कहा कि आर्यसमाज की कुछ शाखायें हथियारों के प्रयोग तथा अन्य क्रान्तिकारी प्रणालियों का समर्थन करती हैं और उन्होंने इन आरोपों को अत्यन्त गम्भीरता से पेश किया। यह आक्षेप करते समय उन्होंने पटियाला आर्यसमाज को भी इस आरोप में लपेट लिया था क्योंकि मिस्टर ग्रे के कथनानुसार लुइस डेन के पत्र के प्रकाशित होने से यह सिद्ध हो जाता है कि इस समाज के सम्पूर्ण राजनैतिक क्रियाकलापों की परिणति षड्यन्त्रकारी प्रवृत्तियों में ही होती है।

पुनः मिस्टर ग्रे हमें बतलाते हैं कि आर्यसमाज का संस्थापक तो तपस्वी, योगी ही था, अतः उसकी एक शाखा (सभा) तो पूर्णतया धार्मिक और सुधार-वादी प्रचार के लिए ही कृतप्रतिज्ञ है। परन्तु आगे चलकर वे कहते हैं कि पटियाला आर्यसमाज ने अपने उद्देश्यों को गोपनीय रखने का भरपूर प्रयास किया और यह आभास तक नहीं होने दिया कि उसे संस्था के रूप में राजनैतिक कार्यों में भी थोड़ी रुचि है। इससे सर्वथा विपरीत स्थिति तब उत्पन्न होती है जब हमें बताया जाता है कि आर्यसमाज के सभी कार्य पूर्ण शालीनता तथा मर्यादा से किये जाते हैं और आर्यसमाज के पुस्तकालय में उपलब्ध पुस्तकों में न तो आपत्तिजनक अंश ही पाये गये और न वहाँ प्राप्त समाचारपत्र किसी षड्यन्त्र या राजनैतिक अभिरुचि का द्योतन करते थे। एक छोटी-सी बात वह अवश्य कहते हैं कि लाला नन्दलाल के घर में कागज का एक टुकड़ा मिला था, जिसमें उन समाचारपत्रों की सूची अंकित थी जिन्हें समाज के वाचनालय में भेजने का वादा कुछ सदस्यों ने किया था।

किन्तु इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि आर्यसमाज ने इन पत्रों को अपने वाचनालय में रखना स्वीकार किया था कि नहीं, अथवा वे ऐसे पत्र भी थे कि जिन्हें ब्रिटिश सरकार या पटियाला राज्य ने जब्त किया हो, या उन्हें जब्त किये जाने की कभी चेतावनी भी दी हो। इसी अधकचरे आधार पर मिस्टर ग्रे हवाई किले बनाते हैं और अपनी आश्चर्यकर पटुता प्रमाणित करते हैं। हमें समाज के ऐसे सदस्यों का एक चित्रमय किन्तु काल्पनिक विवरण मिलता है जो इन तथाकथित षड्यन्त्रपूर्ण समाचारपत्रों को पठनार्थ प्राप्त करने के वास्ते एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा लगाये रखते हैं। यहाँ तक कह दिया गया कि एक ही पत्र के दो ग्राहक उस पत्र को वाचनालय में रक्खे जाने के लिए परस्पर प्रतिद्वन्द्वियों का-सा व्यवहार करते हैं।

मि० ग्रे की न्याय-विषयक एक विचित्र अवधारणा यह है कि वे किसी निर्णय पर तो पहले ही पहुँच जाते हैं और उसके पश्चात् उसकी सिद्धि के लिए तथ्य एकत्रित करते हैं, और जब उनकी मान्यता की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं मिलता तो वे सचाई से आँखें मूँद लेते हैं। पटियाला में आर्यसमाज की स्थापना १८८५ में हो गई थी, १९०३ में सुनाम में, तथा नरवाना में उससे भी पहले समाज स्थापित हो चुका था। भवानीपुर (भवानीगढ़) में जून १९०५ में आर्य-समाज स्थापित हुआ। किन्तु मि० ग्रे यह सिद्ध करने पर तुले हुए हैं कि पटियाला में आर्यसमाज का कार्य १९०५ में उस समय आरम्भ हुआ जब लाजपतराय को कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करने के लिए उनके गृह-प्रदेश में भेजा गया, जिसकी परिणति १९०७ की विपदापूर्ण परिस्थितियों तथा निष्कासनों में हुई। उनका यह भी मानना है कि जब ब्रिटिश सरकार ने इस आन्दोलन के खतरनाक पहलू

को अनुभव कर षड्यंत्रकारियों को अपना निशाना बनाना चाहा तो आर्यसमाजी लोग बचने के लिए देशी राज्यों में जा छिपे। इस प्रकार अपने पूर्व-निर्धारित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मि० ग्रे ने सचाई के साथ ज्यादती की, किन्तु इस प्रकार तोड़-मरोड़कर पेश किये गये तथ्यों ने भी उन्हें निराश ही किया। एक मृतप्राय संस्था के १६०५ में पुनर्जीवन प्राप्त करने की बात सच हो सकती है, किन्तु अपनी अत्युत्सुकता में वे यह बात भूल गये कि एक मुमूर्षु संस्था को उस राज्य में इस समय पुनरुज्जीवित हुआ बताना हास्यास्पद है, जिसके लिए कहा गया हो कि वह तो उस कथित घटना के कई वर्ष बाद वहाँ पुनः पनप सकी थी। अपनी स्मरणशक्ति पर बहुत अधिक भरोसा करनेवाले मि० ग्रे यह भी भूल गये कि पटियाला समाज से इन तथाकथित अभियुक्तों का सम्बन्ध तो समाज के स्थापना-काल से ही है। ऐसा लगता है कि विद्वान् अधिवक्ता अपने भारत के इतिहास के ज्ञान की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहता, अन्यथा उसने तथ्यों को जिस प्रकार तोड़ा-मरोड़ा है, उससे ही वह किसी स्वीकार योग्य निष्कर्ष तक पहुँच जाता। ऐसा लगता है कि मि० ग्रे का युक्तिपाटव भी कभी-कभी असफल हो जाता है।

पटियाला में एक आचार सुधारणी सभा की स्थापना हुई थी। इसका उद्देश्य लोगों का चरित्र-सुधार करना था। प्रारम्भ में यह अराजनैतिक संस्था थी और इसकी बैठकें आर्यसमाज मन्दिर में होती थीं। जब उसने राजनीति में चंचुपात करने की कोशिश की, तो उसे समाज से बाहर जाने के लिए कह दिया गया। इसे आर्यसमाज की एक कूटनीति-भरी चालाकी बताया गया है और उपर्युक्त आचार सुधारणी सभा को ही आर्यकुमार सभा के रूप में विकसित और परिवर्तित कहा गया है जबकि आर्यकुमार सभा का धार्मिक रूप एक सर्वस्वीकार्य तथ्य है। आर्यकुमार सभा ने जब स्कूलों के अवकाश में अपनी बैठकें करना बन्द कर दिया, तो यह कहा गया कि इस सभा का आचार सुधारणी सभा में विलय हो गया है जब कि तथ्य यह है कि आचार सुधारणी सभा तो वयस्क युवकों की संस्था थी जब कि आर्यकुमार सभा में स्कूलों के बच्चे आते हैं। दोनों की सदस्यता पृथक्-पृथक् है। हमें बताया गया कि अभियुक्तों में से एक लक्ष्मणदास, जो आर्यकुमार सभा का प्रधान था, उसे आचार सुधारणी सभा में भेज दिया गया। सचाई यह है कि लक्ष्मणदास कुमार-सभा में कभी सदस्य रहा ही नहीं, और उसका आचार सुधारणी सभा से भी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। तथ्य यह है कि उसी ने अधिकारियों का ध्यान रिसले-विज्ञप्ति की ओर आकर्षित कर कपूरचन्द को बर्खास्त करवाया जो कि आचार सुधारणी सभा की एक महत्त्वपूर्ण हस्ती था। दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ठाकुरदास या कपूरचन्द में से कोई भी मि० वारबर्टन के कृपापात्र तथा व्यक्तिगत मित्र रामदास को पटियाला

लाने के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराये जा सकते और न जौहरीलाल ही आर्य-समाजी है, जिसके घर व्याख्यान का दिया जाना बताया जाता है। फिर कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ लोग मि० ग्रे की तर्क-सरणि का ही अनुसरण करते हुए कहें कि पटियाला अभियोग के प्रति अपनाये अपने विलक्षण रवैये के कारण ही उसे पटियाला की बार कौंसिल के अध्यक्ष-पद से हटा दिया गया था तथा उसे इस आधार पर क्रान्तिकारी करार दिया जाय, क्योंकि उसने अपने किसी व्याख्यान में यह कहा था कि कभी-कभी क्रान्ति को भी न्यायपूर्ण कहा जा सकता है। उन्होंने उसे भारतीय प्रजा का शत्रु कहा क्योंकि उसने भारत के एक देशी राज्य को यह कहकर अपमानित किया कि वहाँ न्याय की कैसी विडम्बना होती है तथा वहाँ अपराधी दण्ड का भागी नहीं बन पाता। यह तो सत्य है कि कोई बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसे बयानों को गम्भीरता से नहीं लेता। एक अध्याय की अल्प सीमा में मि० ग्रे की कानूनी बाजीगरी का पर्दाफाश करना कठिन है। पं० मदनमोहन मालवीय ने झाँसीवाले घोटाले में पं० दौलतराम की वकालत की थी। अब उनके बारे में यह कहा गया है कि उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष होने के नाते ऐसा किया जब कि उस समय यह पता भी नहीं था कि लाहौर में कांग्रेस का कोई दूसरा अधिवेशन भी होगा। इसी प्रकार और इसी तर्क का अनुसरण करते हुए यह भी कहा जा सकता है कि ईसाई चर्च के सदस्य के नाते मि० ग्रे ने पटियाला में आर्यों के खिलाफ इस्तगासे की कार्यवाही की है और इस प्रकार वे ईसाई ब्रिटिश सरकार के भी नुमाइँदे सिद्ध होते हैं।

अभियुक्तों के विरुद्ध लगाये गये आरोप नितान्त हास्यास्पद हैं। डॉ० बख्ता-वरसिंह की गिरफ्तारी का कारण है उनका भवानीगढ़ आर्यसमाज का संस्थापक होना तथा यह भी कि उनके घर से कुछ राजनैतिक ग्रन्थ, न कि षड्यंत्रपूर्ण कार्यवाहियोंवाले ग्रन्थ, मिले थे। उमरावचन्द को इसलिए पकड़ा गया क्योंकि वह रामदास के व्याख्यान में उपस्थित था और वह 'इन्द्र' तथा 'सद्धर्मप्रचारक' पत्र मँगाता है। आर्यसमाज के विरुद्ध लगाये गये आरोपों का कारण यही है कि उसके सदस्य व्यक्ति की हैसियत से राजनीति में भाग लेते हैं। अगर यही अपराध है तब तो सभी धर्मों—ईसाई, मुसलमान, ब्राह्म, आदि को एकदम समाप्त कर देना चाहिए, यहाँ तक कि लॉर्ड मॉर्ले और मिण्टो पर भी अभियोग लगाया जाना चाहिए क्योंकि कौन्सिलों का विस्तार कर उन्होंने शासन सभाओं में राज-नैतिक वाद-विवादों को बढ़ावा दिया है। सम्राट् की प्रजा होने के नाते आर्यों को भी नागरिकता के समस्त अधिकार प्राप्त हैं। भारत के दुःखों और कष्टों के प्रति उनकी चिन्ता भी इतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितने उनके मुसलमान या ईसाई सहनागरिकों की। उन्होंने इस देश को अपना पसीना बहाकर हरा-भरा किया है तथा आँसुओं से सींचा है, अतः राजनैतिक उन्नति की सभी प्रकार की

कानूनी बहसों में भाग लेने तथा वैधानिक आन्दोलनों द्वारा अपने कष्टों का समाधान ढूंढने का उन्हें भी समान अधिकार है।

वैदिक चर्च निश्चय ही राजनीति से दूर रहेगा, क्योंकि वह न तो भारतीय है और न ब्रिटिश, अपितु सार्वभौम होने के कारण वह व्यक्ति के सार्वभौम सिद्धान्तों की हिमायत में खड़ा होता है। वह इस या उस राष्ट्र के हितों से स्वयं को जोड़कर अपने व्यापक दृष्टिकोण को न तो संकुचित कर सकता है और न अपने गौरव से समझौता ही कर सकता है। मि० ग्रे द्वारा की गई बहस की सामान्य समीक्षा के पश्चात् हम उनके द्वारा लगाये गये स्पष्ट आरोपों का विश्लेषण करेंगे।

अध्याय—३

सत्यार्थप्रकाश और षड्यन्त्र

मिस्टर ग्रे को जब अपने समर्थन में कोई युक्ति या तर्क नहीं मिला तो वे अपने विरोधियों को बुरा-भला कहने लगे। उन्होंने अभियुक्तों को ही दोषी नहीं ठहराया अपितु आर्यसमाज के आदरास्पद संस्थापक की भी निन्दा करना आरम्भ कर दिया। स्वामी दयानन्दकृत बाइबिल की समीक्षा को राजनीति का रंग दिया गया और यह कहा गया कि उनकी बाइबिल-समीक्षा धार्मिक वादविवाद-युक्त न होकर राजनैतिक प्रयोजन से की गई है। इससे अधिक मूर्खतापूर्ण बात कोई अन्य नहीं हो सकती। यदि स्वामी दयानन्द राजनैतिक अभिरुचिवाले और ब्रिटिशविरोधी प्रचार के इच्छुक होते तो वे हिन्दू और मुसलमानों को अंग्रेजों के विरुद्ध निकट लाने की चेष्टा करते, और यदि वे मुसलमानों और अंग्रेजों के विरुद्ध हिन्दुओं का समर्थन चाहते तो इसके लिए वे हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को ही सन्तुष्ट करते। परन्तु सचाई यह है कि उन्होंने जितनी निर्ममता और निष्पक्षता के साथ हिन्दू पुरोहितवाद की बुराइयों का भण्डाफोड़ किया तथा पौराणिक एवं तान्त्रिक हिन्दू धर्म के दोषों को नंगा करके रख दिया, उसी प्रकार उन्होंने ईसाई तथा मुस्लिम धर्मपद्धतियों की कमजोरियों की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में हम पढ़ते हैं—"पुजारीगण अपनी प्रतिमाओं को बहुत चमकदमक के साथ सजाते हैं। ठगों की भाँति इन्हें आकर्षक रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा इस प्रकार आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे भक्त-जनों को ठगते हैं। न्यायशील सरकार को चाहिए कि इन मूर्ति-पूजकों को अपनी आजीविका कमाने के लिए परिश्रम के कार्यों में लगाये और पत्थर तोड़ने, ईंटें बनाने तथा भवन-निर्माण में काम में आनेवाले माल को ढोने में इन्हें नियोजित करें।"

पुनः देखिये, यदि स्वामी दयानन्द का कोई राजनैतिक लक्ष्य होता तो वे सिखों की प्रशंसा करने का भी कोई मौका तलाश करते। किन्तु वे इतने महान् थे कि उन्हें सत्य के अलावा अन्य किसी से कोई प्रयोजन ही नहीं था। उनके कार्यक्रम में तात्कालिक स्वार्थपूर्ति के लिए कोई स्थान ही नहीं था। उन्होंने ग्रन्थी और पुजारी की समान रूप से आलोचना की। निश्चय ही मिस्टर ग्रे को भी इसका पता है और अपना व्याख्यान देते समय उन्होंने अस्फुट रूप में यह तो

अनुभव किया ही था कि स्वामी दयानन्द कोई राजनीतिज्ञ नहीं थे, अपितु वे एक प्रभावशाली प्रतिमाभंजक, प्रचण्ड शास्त्रार्थ कर्ता, तथा बुराई के कट्टर शत्रु थे। हालाँकि मिस्टर ग्रे ने अपनी आलोचना का आरम्भ करते हुए ही कहा था कि स्वामी दयानन्द अन्य धर्मों की त्रुटियाँ ही नहीं बताते, अपितु वे अत्यन्त निम्न, अशालीन तथा अभद्र भाषा में उन्हें बुरा-भला भी कहते हैं, तथापि अपने इस कथन को प्रमाणित करते हुए उन्होंने स्वामी दयानन्दकृत आलोचना के जो उद्धरण दिये हैं, वे ईसाइयों के मान्य ईश्वर तथा इस्लाम में स्वीकृत ईश्वर-सम्बन्धी धारणाओं की आलोचना के ही हैं। यदि उन्होंने स्वामी दयानन्दकृत पौराणिक मत की आलोचना को उद्धृत किया होता, तो यह स्पष्ट हो जाता कि उनके द्वारा दी गई यह आलोचना कहीं अधिक कठोर तथा उग्र है। किन्तु ऐसा न करने का कारण भी स्पष्ट है। यदि वे ऐसा करते, तो स्वामी दयानन्द को राजनीतिज्ञ सिद्ध करने के उनके सारे सिद्धान्त ही धराध्वस्त हो जाते, क्योंकि कोई भी क्रान्तिकारी, जो विदेशियों को अपने देश से बाहर निकालने को ही अपना प्रथम लक्ष्य मान बैठा है, वह उस देश के सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली वर्ग को चोट पहुँचाकर उसकी शत्रुता हरगिज मोल नहीं लेगा।

तथ्य यह है कि स्वामी दयानन्द को ऐसी सूक्ष्म तथा तीव्र मेधा प्राप्त थी, जिसके द्वारा वे अपने विरोधियों की युक्तियों और प्रमाणों को तार्किक निग्रह-स्थान तक पहुँचा देते थे। अपनी सुदृढ़ स्थिति को पूर्णतया समझते हुए और स्वयं के मन्तव्यों को तर्काधारित मानने के कारण वे अपने विरोधियों के हेत्वाभासों का समुचित युक्तियों से खण्डन करते थे। इसे उनके उसी उद्धरण से स्पष्ट किया जा सकता है, जिसमें मिस्टर ग्रे को षड्यन्त्र की गन्ध आई। बाइबिल में ईसा का कथन है—"यह मत समझो कि मैं धरती पर शान्ति का सन्देश लाया हूँ। मैं शान्ति नहीं बल्कि तलवार लेकर आया हूँ। कारण कि मैं पिता को उसके पुत्र के खिलाफ, बेटी को माँ के खिलाफ, बहू को सास के खिलाफ खड़ा करने के लिए आया हूँ। आदमी के घर के लोग ही उसके शत्रु होंगे।" इसपर टिप्पणी करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं—"ईसा ने आदमी को आदमी के विरोध में खड़ा किया और उन्हें परस्पर लड़ाया। इसमें वह सफल भी हुआ। आज भी आदमी में वही युयुत्सु-वृत्ति दिखाई दे रही है।" यह उदाहरण इस बात को सिद्ध करता है कि अमूर्त और अस्पष्ट उपदेश दुर्बोध आचरण को ही जन्म देता है।

ऐसा लगता है कि मिस्टर ग्रे में हास्य की प्रवृत्ति का तो सर्वथा अभाव ही है। यदि उनमें थोड़ी भी हास्यवृत्ति होती तो वे समझ जाते कि उक्त आलोचना स्वामी दयानन्द उन ईसाई राष्ट्रों को दृष्टि में रखकर ही लिख रहे हैं जो एक तरफ तो एक-दूसरे के विरुद्ध हथियारों से लैस होते रहते हैं किन्तु दूसरी ओर

कूटनीतिक आचरण में एक देश का शासक दूसरे को सम्मानित करने और अलंकरण प्रदान करने में भी संकोच नहीं करता। यूरोप की कूटनीति सत्य पर आधारित नहीं है। उसका कट्टर-से-कट्टर समर्थक भी उसे नीति पर आधारित नहीं कहेगा। स्वामी दयानन्द का यह विचार भूरिशः प्रमाणित हो चुका है कि ईसाई दुनिया आज कलह और फूट की शिकार है।

आगे मिस्टर ग्रे स्वामी दयानन्द को षड्यन्त्रकारी इस आधार पर कहते हैं कि उन्होंने इतिहास के तथ्यों से यह प्रमाणित कर दिया है कि किसी समय आर्य लोग ही समस्त भूमण्डल के एकमात्र शासक थे तथा वे (दयानन्द) इस बात पर भी खेद प्रकट करते हैं कि आज आर्यों की स्वाधीनता नष्ट हो गई है। क्या स्वाधीनता का विनाश किसी जाति के लिए गौरव का सूचक हो सकता है? क्या भारतवासियों की पतनावस्था को देखकर पाश्चात्य लेखकों ने भी शोक प्रकट नहीं किया है? क्या मिस्टर ग्रे सोचते हैं कि भारतवासियों को गर्वपूर्वक घोषित करना चाहिए कि वे इतने अधःपतित हो चुके हैं कि अपनी समस्याओं का खुद समाधान करना उनके वश की बात नहीं रही है तथा यह भी कि यदि विधाता ने उन्हें ब्रिटिश शासन के संरक्षण में नहीं रक्खा होता, तो वे अराजकता और पारस्परिक विग्रह के शिकार होकर सर्वथा नष्ट हो जाते? एक प्रमुख नैतिक दार्शनिक होने के कारण दयानन्द ने किसी देश की नियति के निर्धारण में नैतिक अवधारणाओं की सर्वोच्चता को कभी विस्मृत नहीं किया। इसलिए भारत के नैतिक और धार्मिक अधःपतन पर विचार करते समय उन्होंने यह भी लिख दिया कि इस देश की इस भयंकर पतित अवस्था के कारण ही हमें राजनैतिक पराधीनता का विषय-फल भोगना पड़ा है। वे विदेशी के खिलाफ हथियार उठाने की बात नहीं करते, किन्तु हमें यह कहने में भी संकोच नहीं होता कि दयानन्द ने सदा इस बात को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है कि हमारे उद्धार के लिए ब्रिटिश लोग समय पर आये थे। उनके इस वक्तव्य में कोई राजनैतिक ध्वनि नहीं है। उनका दृष्टिकोण पूर्णतया नीति पर आधारित है। वे इसी भाव को उस समय स्पष्टतया व्यक्त करते हैं, जब कहते हैं कि—"स्वायंभुव राजा से लेकर पांडवपर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो गये क्योंकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत-सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थ-रहितता, ईर्ष्या, द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या, सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं, जैसे कि मद्य-मांस-सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचारादि दोष बढ़ जाते हैं और जब युद्ध-विभाग में युद्धविद्या-कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करने-

वाला भूगोल में दूसरा न हो, तब उन लोगों में पक्षपात, अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है।"

मिस्टर ग्रे इसे क्यों नहीं उद्धृत करते, इसीलिए कि यह उनके अनुकूल नहीं पड़ता। यह हमारी उन राष्ट्रीय त्रुटियों पर एक स्पष्ट टिप्पणी है जिनके कारण हमें राजनैतिक दासता का शिकार होना पड़ा तथा जो हमारे भीतर उत्पन्न गुणों को दूषित कर चुकी है। यदि स्वामी दयानन्द के उपर्युक्त कथन की वर्तमान राजनैतिक आन्दोलनों से कोई प्रासंगिकता है, तो वह इतनी ही है कि जो देश आलस्य, पारस्परिक घृणा, दलबन्दी तथा कामुकता का शिकार हो, जहाँ बाल-विवाह जैसी कुप्रथाएँ प्रचलित हों, उसके लिए स्वराज्य की बात सोचना ही पागलपन है। मानसिक और नैतिक पतन ही आगे चलकर राजनैतिक दासता के कारण बनते हैं। जब तक कारण विद्यमान हों, उनके परिणामों से मुक्ति पाना कठिन होता है। यह तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि जब भारतवासी अपनी राष्ट्रीय बुराइयों से मुक्ति पा लेंगे और अपनी अन्दरूनी त्रुटियों को दूर कर लेंगे, तो वे स्वराज्य प्राप्त करने के अधिकारी हो जायेंगे। इसका प्रतिवाद कौन करता है? कोई भी राजनीतिज्ञ यह नहीं कहता कि इंग्लैण्ड भारत को सदा ही दासता के बन्धनों में बाँध रखना चाहता है। इसके विपरीत, सभी अंग्रेज, मिस्टर ग्रे जैसों को छोड़कर, न्यायोचित बातों को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि यदि भारतवासी अपनी नैतिक शक्ति तथा बौद्धिक क्षमता को बढ़ायें, तो उन्हें शासन में अधिकाधिक भाग प्राप्त होगा। महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र, एडवर्ड सप्तम के प्रेमपूर्ण सन्देश तथा हमारे प्रिय सम्राट् पंचम जार्ज द्वारा अपनी भारतीय प्रजा को लिखे मार्मिक पत्र का भी यही अभिप्राय है। राजनैतिक सुधारों की जो योजना प्रस्तुत की गई है, वह भी इसी लाभदायक नीति को क्रियान्वित करने के लिए ही है। भारत के क्रमिक विकास तथा शान्ति-पूर्ण प्रगति के लिए ब्रिटिश राज्य की आवश्यकता बनी हुई है। इस दैवी सहायता से यदि कभी हमें मुक्त भी होना है तो यह तभी सम्भव होगा, जब हम धार्मिक और सामाजिक सुधारों को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लें और सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन करने में सफल हो जावें। यह कार्य भी शान्तिपूर्ण परिस्थिति में ही हो सकता है, जिसकी गारण्टी हमें वर्तमान शासन से प्राप्त हो चुकी है।

आर्य और दस्यु

अपने मन्तव्यों को निर्धारित करते हुए स्वामी दयानन्द कहते हैं कि उनकी दृष्टि में उच्च सिद्धान्तों और विचारोंवाले व्यक्ति ही 'आर्य' संज्ञा के अधिकारी हैं, जबकि दूषित विचारों और कार्योंवाले लोगों को दुष्ट या दस्यु कहना उचित

है। पता नहीं मिस्टर ग्रे इस धारणा का विरोध क्यों करते हैं? यह तो वैदिक सिद्धान्त का एक निर्दोष प्रतिपादन मात्र ही है, जिसमें कहा गया है कि केवल विश्वास से ही मोक्ष प्राप्त नहीं होता, अपितु उसे प्राप्त करने के लिए शुभ कर्म भी करने पड़ते हैं। मनुष्य के भाग्य का निर्माण उसके कर्म करते हैं, न कि उसके विश्वास। स्वामी दयानन्द की अपने अनुयायियों को यह चेतावनी है कि यदि वे दुष्चरित्र हैं तो उन्हें आर्य नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत कोई व्यक्ति चाहे बाहरी तौर पर वेदों के प्रति श्रद्धा व्यक्त न करे, किन्तु यदि वह वेदों की शिक्षाओं का अनुसरण करता है, तो उसे ही 'आर्य' नाम से सम्बोधित करना अधिक उचित है। किन्तु यदि कोई दैवी ज्ञान वेद के प्रति केवल शाब्दिक आस्था व्यक्त करता है और आचरण से दुष्ट है, तो वह दस्यु कहलाने का ही अधिकारी है। यदि मिस्टर ग्रे ने आप्टे के शब्दकोश को देखा होता तो उन्हें पता चलता कि आर्य का अर्थ आदरणीय, सम्माननीय, कुलीन, उच्चपदस्थ तथा दस्यु का अर्थ चोर, लुटेरा, उचक्का, दुष्ट, तथा आततायी दिया गया है। यह अन्तर एक आर्यसमाजी और गैरआर्यसमाजी के अन्तर से भिन्न है जिसका उल्लेख आर्यसमाज के उपनियमों में किया गया है। इसके अनुसार तो श्यामजी कृष्ण वर्मा या होतीलाल की तुलना में मिस्टर ग्रे को भी 'आर्य' कहा जा सकता है। आर्य और दस्यु का यह भेद निम्न वेदमन्त्र पर आधारित है—

वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रंधया शासदव्रतान्।

—ऋक्० मं० १, सू० ५१, मं० ८

यद्यपि हमारे विश्वास के अनुसार कोई भी व्यक्ति पूर्ण आर्य तथा उत्कृष्ट धर्मात्मा तब तक नहीं बन सकता और न मोक्ष-लाभ ही कर सकता है, जब तक कि वह दैवी उपदेशों (वेद) में व्यक्त सिद्धान्तों पर आचरण न करता हो और ऐसा करने के लिए उसे वेदों के ईश्वरीय ज्ञान में विश्वास करना ही पड़ेगा। यदि इस विश्वास को ही षड्यन्त्रपूर्ण कहा जाता है, तब तो संसार में प्रचलित सभी धर्मों और दार्शनिक मतवादों को उखाड़ फेंकना होगा, ताकि शासन के प्रति वफादारी को बरकरार रखा जा सके।

वेद के अविश्वासियों के प्रति हमारा आचरण

मनुस्मृति के दूसरे अध्याय में जहाँ ब्रह्मचारी की दीक्षा का वर्णन है, एक श्लोक निम्न आशय का मिलता है—

जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्त ग्रन्थों का (तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर) अपमान करे उसको श्रेष्ठ लोग जाति-बाह्य कर दें, क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है वही नास्तिक कहाता है।

इससे पहले निम्न आशय के श्लोक मिलते हैं—

विद्वान् मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार अपने आत्मा के अविरुद्ध (इन सबका) अच्छे प्रकार विचार कर ज्ञान-नेत्र करके श्रुति-प्रमाण से स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे।

क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है, वह इस लोक में कीर्ति और मरकर सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है।

श्रुति वेद को और स्मृति धर्मशास्त्र को कहते हैं। ये सब कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य विषयों में निर्विवाद हैं, क्योंकि इनके द्वारा ही धर्म का भली प्रकार पूर्ण रूप से प्रकाशन हुआ है।

अतः यह स्पष्ट है कि मनु का मत तो इतना ही है कि जो व्यक्ति वेदों के दैवी मूल को अस्वीकार करता है और उसकी निन्दा करता है उसे ब्रह्मचर्य की दीक्षा नहीं दी जा सकती, क्योंकि "ब्रह्मचर्य" शब्द का शब्दार्थ ही इस भाव को द्योतित करता है कि ब्रह्मचारी का वेदों में दृढ़ विश्वास होना चाहिए। यदि ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेने के उपरान्त भी वह वेद का उपहास करे तो गुरु उसे अपने आश्रम से पृथक् कर सकता है। क्या ईसाई लोग ऐसे व्यक्ति को अपने धर्म में प्रविष्ट करेंगे जो बाइबिल का उपहास करता है अथवा यदि कोई व्यक्ति ईसाई शास्त्रों का मजाक बनाये तो क्या ऐसे बप्तिस्मा लिये व्यक्ति को भी वे 'लॉर्ड्स सपर' जैसे ईसाई संस्कार में भाग लेने से वंचित नहीं कर देंगे? यह ध्यातव्य है कि उक्त श्लोक मनुस्मृति के दूसरे अध्याय का है, जिसमें विद्यार्थी की शिक्षा-दीक्षा का उल्लेख है। यह इस ग्रन्थ के ७वें और ८वें अध्याय का नहीं है जिसमें शासन-विधान और दण्ड-विधान की चर्चा है। पुनः यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के तृतीय समुल्लास में इस श्लोक को उद्धृत किया है जो शिक्षा-विषयक है, न कि राजनीति-शास्त्र का विचार करनेवाले छठे समुल्लास में। उद्धृत श्लोकों की जिस शृंखला में यह श्लोक आया है उसका आरम्भ स्वामी दयानन्द ने निम्न वाक्य के साथ किया है—"गुरु अपने शिष्यों को निम्न प्रकार शिक्षित करें।" इसके पश्चात् कहा गया है—"वेदों के अनुसार जिस धर्माचरण का विधान किया है तथा वेदों के अनुकूल स्मृतियों में जिसका उल्लेख मिलता है वही सर्वोच्च धर्म है।"

अतः यह स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द का ध्येय मात्र यह बतलाना ही था कि अध्यापक को अपने शिष्यों के प्रति वेद की सर्वोच्च प्रामाणिकता और पवित्रता को प्रतिपादित करना चाहिए तथा जो वेदों का उपहास करे उसको निन्दित कहना चाहिए। क्या ईसाइयों और मुसलमानों की धार्मिक संस्थाओं में बाइबिल और कुरान की पवित्रता और प्रामाणिकता को इसी प्रकार प्रख्यापित

नहीं किया जाता?

स्वामी दयानन्द ने तो मनु के वाक्य में इतना संशोधन और कर दिया है कि जो व्यक्ति धर्म के मूल स्रोत वेदों का उपहास करता है तथा उन्हें चुनौती देता है, उसे वेदसम्मत कानून और विधि के अन्तर्गत संरक्षण प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि मनु और दयानन्द दोनों का प्रयोजन वेदों को गौरवान्वित करने का है, न कि उनकी अवज्ञा करनेवाले को दण्डित करने का। यह केवल एक नैतिक आचरण-संहिता ही है तथा स्वयं की धारणा की दृढ़ अभिव्यक्ति। इसे, जैसा कि सन्दर्भ से स्पष्ट है, किसी प्रकार का वैधानिक या सामाजिक आदेश नहीं मानना चाहिए। यदि कोई गुरु अपने शिष्यों को कहे कि दम्भी व्यक्ति को अन्धा कर देना चाहिए, तो इसका यह अर्थ नहीं कि उस दम्भी के सहाध्यायी उसकी आँखें फोड़ डालें।

एक-दो अन्य बातें भी विचारणीय हैं। मनुस्मृति पर आर्यसमाज को ही एकाधिकार प्राप्त नहीं है, इसपर करोड़ों हिन्दुओं का विश्वास है तथा ब्रिटिश न्यायालयों में हिन्दू-विधि पर इसे एक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में मान्य किया जाता है। फिर मिस्टर ग्रे को क्या अधिकार है कि इस ग्रन्थ के एक श्लोक के आधार पर वे आर्यसमाज पर मिथ्या आरोप लगायें, जबकि इस श्लोक के वास्तविक अभिप्राय को समझने की योग्यता भी उनमें नहीं है?

पुनः क्या ऐसी प्रत्येक संस्था षड्यन्त्रकारी समझी जायगी, केवल इसलिए कि उसके द्वारा मान्य किन्हीं पुस्तकों के बारे में यह बताया जाता है कि वे असहिष्णुता की शिक्षा देती हैं? यदि ऐसा है तब तो भारत में ईसाई चर्च को भी केवल इसीलिए खत्म कर देना चाहिए क्योंकि बाइबिल में कहा गया है कि ईसाई मत में विश्वास न रखनेवालों को शाश्वत नरक की प्राप्ति होगी। क्या इसीलिए कुरान को भी जब्त कर लिया जायगा, क्योंकि उसने काफिरों से युद्ध करने का आदेश दिया है?

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि मनु के श्लोकों में यदि कहीं असहिष्णुता की झलक मिलती भी है तो यह असहिष्णुता उन्हीं के प्रति है जो जन्मना वैदिक मतानुयायी हैं। कारण कि जिस युग में मनु ने अपना यह ग्रन्थ लिखा था, उस काल में आधुनिक मतों का तो प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था, किन्तु मुहम्मद-प्रदत्त सन्दर्भ तो विशेष रूप से ईसाई और यहूदियों की ओर ही इंगित करते हैं। पैगम्बर साहब अपने अनुयायियों को आदेश देते हैं कि उन्हें तब तक चैन से नहीं बैठना है जब तक कि वे ईसाइयों को नामशेष न कर दें तथा उन्हें जजिया कर देने के लिए विवश न कर दें। उनके ऐसा मानने पर भी हम सरकार को मुसलमानों के खिलाफ कार्यवाही करने के लिए नहीं कहते।

यह एक इतिहास-सम्मत तथ्य है कि इतिहास में आर्य जाति को सर्वाधिक

सहनशील माना गया है। वे ईसाइयों से भी अधिक सहिष्णु रहे हैं। यहाँ तक कि इंग्लैण्ड, जो कि अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए स्वयं पर गर्व करता है, वहाँ भी धार्मिक सहिष्णुता अभी कल की ही उपज है। वैदिक धर्म के अनुयायियों ने अपने विरोधियों पर कभी अत्याचार नहीं किये। वे सदा उन्हें समझा-बुझाकर सन्मार्ग पर लाते रहे। उन्हें उन यज्ञ-वेदियों पर जाने की तो इजाजत नहीं थी, जिनमें उनका विश्वास भी नहीं था, तथा न वे उन पूजास्थानों पर ही जा सकते थे, जहाँ जाकर वे अपने साथी नागरिकों की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँचाते। यह उचित ही था। प्रत्येक समझदार सरकार विभिन्न मतों के मानने-वालों को इतना संरक्षण तो देती ही है, किन्तु इससे आगे नहीं। प्रत्येक को अपने मत को मानने तथा उसे प्रचारित करने की तो स्वतन्त्रता है किन्तु उसी सीमा तक, जहाँ तक वे लोग हिंसा का सहारा लेकर जान-बूझकर गड़बड़ पैदा न करें।

स्वामी दयानन्द और धार्मिक सहिष्णुता

क्या यह भाग्य का विपर्यय नहीं है कि ईसाई विधिवेत्ता एक मुसलमान पत्र "दि रिव्यू ऑफ रिलीजन्स" से संकेत लेकर वैदिक धर्म के माननेवालों पर असहिष्णुता का आरोप लगाये ? ऋषि दयानन्द, जिनकी स्मृति को चरित्रहीन और भ्रष्ट व्यक्तियों द्वारा आज जानबूझकर अत्यन्त निष्ठुरतापूर्वक दूषित किया जा रहा है, आधुनिक युग में सहिष्णुता के सर्वोच्च समर्थक तथा कट्टरता के विरोधी थे। कई लोगों को यह बात आश्चर्यजनक लगेगी, किन्तु उनके महान् ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' पर एक बार दृष्टिपात करने से ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहा जा सकता। वे सुदृढ़ आस्थाओं के व्यक्ति थे, अतः जिन बातों को वे गलत मानते थे उनके खण्डन में गंगा-जमनी भाषा का प्रयोग करना उन्हें पसन्द नहीं था। किन्तु वे अपने विश्वासों को न तो दूसरों पर थोपते ही थे और न वैदिक मान्यताओं को अन्यों से मनवाने के लिए उनपर किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती ही करते थे। उनका अपना जीवन सत्य का चरम उदाहरण है। उन्होंने असाधारण धैर्य से ईंटों और पत्थरों की वर्षा, विष-पान आदि अत्याचारों को झेला। उन्होंने उन लोगों के कदम की सराहना नहीं की जिन्होंने उन्हें इन हिंसात्मक अत्याचारों से बचने के लिए कानून की शरण लेने की सलाह दी। आर्यसमाज का संस्थापक सहिष्णुता का आदर्श तथा क्षमारूपी दैवी गुण का मूर्त रूप था। एक बार जब एक दुष्ट ने इस सन्त को विष देने की चेष्टा की, तो ऋषि के प्रशंसक एक मुसलमान पुलिस-अधिकारी ने उस अपराधी को कारागार में डाल दिया। जब स्वामी दयानन्द के समक्ष यह बात लाई गई तो उन्हें इससे बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने बदले की इस कार्यवाही के लिए अपने भक्त की ही तीव्र भर्त्सना की। इस अवसर पर उन्होंने जो उद्गार प्रकट किये, वे उस भावना

के प्रतीक हैं जिसे धारण कर वे जीवनभर परिश्रम-साध्य धर्मप्रचार का कार्य करते रहे। उन्होंने उस समय कहा था—**यह संसार अंधविश्वास और अज्ञान की शृंखलाओं से बँधा हुआ है। मैं इन शृंखलाओं को तोड़कर उनमें कैद लोगों को आजाद कराने के लिए आया हूँ। लोगों को उनकी आजादी से वंचित रखना मेरे उद्देश्य के प्रतिकूल है।**

स्वामी दयानन्द के हस्तक्षेप से वह अपराधी कारामुक्त कर दिया गया। एक अन्य अवसर पर जब उनके सिर पर जोर से पत्थर का प्रहार किया गया, तो अपनी चोट को एक रूमाल से ढँककर उन्होंने उन्मुक्त वाणी से कहा—"सज्जनो, मेरे उद्देश्य की सफलता का यह जीता-जागता प्रमाण है। मेरे विरोधियों ने यह हरकत कर यह सिद्ध कर दिया है कि वे मेरी युक्तियों का मुकाबिला करने में असमर्थ हैं। इस धार्मिक विवाद में असफल होने के बाद वे इस हिंसा का सहारा लेकर ही मेरा मुँह बन्द करना चाहते हैं।" उन्होंने व्यंग्य-वचनों और अभिशापों का सामना आशीर्वचनों और मंगलाकांक्षाओं को व्यक्त करके दिया। 'सत्यार्थ-प्रकाश' का निम्न उद्धरण इस बात को सिद्ध करता है कि दयानन्द ने सहिष्णुता के सिद्धान्त को न केवल अपने जीवन में चरितार्थ ही किया, अपितु उसे समुचित अवसर पर प्रयोग में लाने के लिए अपने अनुयायियों को प्रेरित भी किया—

"वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है, इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता।

० ० ०

इस ग्रन्थ में जो कहीं-कहीं भूल-चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाय उसको जानने-जनाने पर जैसा वह सत्य होगा, वैसा ही कर दिया जायगा। और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका वा खण्डन-मण्डन करेगा उस-पर ध्यान न दिया जायगा। हाँ, जो वह मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य-सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा। यद्यपि आज-कल बहुत-से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जो-जो बातें सबके अनुकूल सबमें सत्य हैं उनका ग्रहण, और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्तें-वर्तावें, तो जगत् का पूर्ण हित होवे।

० ० ०

इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं वे-वे सबमें अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो-जो मतमतान्तरों में

मिथ्या बातें हैं, उन-उन का खण्डन किया है।

० ० ०

सबसे सबका विचार होकर परस्पर प्रेमी होके एक सत्य-मतस्थ होवें। यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मतमतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर याथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नतिवालों के साथ भी वर्तता हूँ, जैसा स्वदेशवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्तता हूँ वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को भी वर्तना योग्य है।

० ० ०

जो-जो इसमें सत्य मत का मण्डन और असत्य का खण्डन लिखा है, वह सबको जानना ही प्रयोजन समझा गया है। इसमें जैसी मेरी बुद्धि, जितनी विद्या और जितना इन चारों मतों के मूल ग्रन्थ देखने से बोध हुआ है उसको सबके आगे निवेदित कर देना मैंने उत्तम समझा है क्योंकि विज्ञान गुप्त हुए का पुनर्मिलना सहज नहीं है।

० ० ०

बहुत-से हठी और दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मतवाले लोग, क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फँसके नष्ट हो जाती है। इसलिए जैसा मैं पुराणों, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्य-जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करता हूँ, वैसा सबको करना योग्य है।

० ० ०

इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें। क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं किन्तु सत्यासत्य का निर्णय कराने का है। इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्तना अति उचित है। मनुष्य-जन्म का होना सत्यासत्य के निर्णय करने-कराने के लिए है, न कि वाद-विवाद विरोध करने-कराने के लिए। इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे, उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब तक इस मनुष्य-जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़, सत्यासत्य का निर्णय करके, सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध-जाल में फँसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फँसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें

तो अभी ऐक्यमत हो जायँ। इनके होने की युक्ति इस ग्रन्थ की पूर्ति में लिखेंगे। सर्वशक्तिमान् परमात्मा एकमत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करे।

अलमतिविस्तरेण, विपश्चिद्वरशिरोमणिषु।

० ० ०

जब राजा भोज के पश्चात् जैनी लोग अपने मन्दिरों में मूर्तिस्थापन करने और दर्शन-स्पर्शन को आने-जाने लगे तब तो इन पोपों के चेले भी जैनमन्दिर में जाने-आने लगे और उधर पश्चिम में कुछ दूसरों के मत और यवन लोग भी आर्यावर्त में आने-जाने लगे। तब पोपों ने यह श्लोक बनाया—

न वदेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।
हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्॥

चाहे कितना ही दुःख प्राप्त हो और प्राण कण्ठगत अर्थात् मृत्यु का समय भी क्यों न आया हो, तो भी यावनी अर्थात् म्लेच्छभाषा मुख से न बोलनी और उन्मत्त हस्ती मारने को क्यों न दौड़ा आता हो, और जैन के मन्दिर में जाने से प्राण बचता हो, तो भी जैनमन्दिर में प्रवेश कर बचने से हाथी के सामने जाकर मर जाना अच्छा है। ऐसे-ऐसे अपने चेलों को उपदेश करने लगे।

० ० ०

क्योंकि यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिए सब मतों के विषयों का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे, इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक-दूसरे के दोषों का खण्डन कर गुणों का ग्रहण करें। न किसी अन्य मत पर न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई वा भलाई लगाने का प्रयोजन है, किन्तु जो भलाई है वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो वह न माने वा माने। किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता और यही सज्जनों की रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों को ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ-दुराग्रह न्यून करें-करावें। क्योंकि पक्षपात से क्या-क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं। सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंग जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है। इसमें जो कुछ विरुद्ध लिखा गया हो उसको सज्जन लोग विदित कर देंगे, तत्पश्चात् जो उचित होगा तो माना जायगा, क्योंकि यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिए किया गया है न कि इनको बढ़ाने के अर्थ, क्योंकि एक-दूसरे की हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुँचाना हमारा मुख्यकर्म है। अब यह चौदहवें समुल्लास

में मुसलमानों का मतविषय सब सज्जनों के सामने निवेदन करता हूँ, विचारकर इष्ट का ग्रहण अनिष्ट का परित्याग कीजिये।

० ० ०

यह कितने आश्चर्य की बात है कि जिस दयानन्द ने शान्ति और एकता के लिए इतनी चिन्ता दिखाई, जिसने असहिष्णुता को किसी भी रूप में सहन नहीं किया, अन्य धर्मों के बारे में बोलते समय जो सर्वाधिक उदार रहा, तथा जिसने अपने कथन में भी सुधार की सदा गुंजाइश बताई, जिसने अत्यन्त उदारतापूर्वक सभी धर्मों में पाये जानेवाले सत्य के तत्त्व को तो स्वीकार किया, किन्तु उतनी ही निर्भीकता के साथ जिसने मत-सम्प्रदायों की त्रुटियों को भी उद्‌घाटित किया, जिसने मूसा द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का खण्डन किया कि "आँख के बदले आँख" और "दाँत के बदले दाँत" उखाड़ लेना चाहिए और यह उपदेश दिया कि यदि तुम्हारे प्रति अत्यन्त कठोर भाषा भी प्रयुक्त की जाय तो तुम्हें अपने विरोधी को सदा क्षमा ही करना चाहिए, आज वही दयानन्द फूट उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति के रूप में निन्दा का पात्र बनाया जा रहा है और उसके इन उपदेशों का प्रचार करनेवालों पर एक हिन्दू राज्य में भारत की दण्ड-संहिता की धारा १५३-ए के अनुसार अभियोग चलाया जा रहा है।

मि० ग्रे को तथ्यों को विकृत करने तथा उद्धरणों को गलत रूप में पेश करने का इतना शौक है कि यदि वे कभी न्याय की ओर थोड़े झुक भी जाते हैं तो उन्हें पीड़ा होती है। इसलिए वे सचाई को तोड़-मरोड़कर पेश करने का कोई मौका नहीं खोते। स्वामी दयानन्द अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखते हैं—"क्या उस आदमी से भी कोई अधिक बुरा हो सकता है, जो केवल दुराग्रह के कारण ही वैदिक धर्म को स्वीकार नहीं करता ?" मि० ग्रे ने उपर्युक्त उद्धरण को बड़ी चालाकी से पेश किया और रेखांकित शब्दों को जान-बूझकर छोड़ दिया ताकि पूरे वाक्य का अर्थ ही बदल जाय। किसी आदमी को इसलिए बुरा कहना कि वह आपके मत से मेल नहीं खाता, भिन्न बात है, जब कि उसके दुराग्रह और हठ के कारण यदि आप उसे ऐसा कहें, तो भिन्न बात है। मि० ग्रे यह बात जानते हैं, जैसा कि हम भी जानते हैं, किन्तु वे जान-बूझकर उक्त उद्धरण के कतिपय शब्दों को उद्धृत नहीं करते जो कि उसे एक विशिष्ट अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

ईश्वर-विषयक ईसाइयत की अवधारणा निश्चय ही त्रुटिपूर्ण है। इसको मानकर मानवता को न्याय नहीं दिलाया जा सकता। इस हानिकर सिद्धान्त को स्वीकार कर कोई मनुष्य न्यायोचित व्यवहार नहीं कर सकता। स्वामी दयानन्द ने ईसाई मत में मान्य स्वर्ग के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए यही बात लिखी है—"अब यह बात स्पष्ट है कि ईसाइयों का खुदा अन्यायी है, क्योंकि किसी व्यक्ति के कार्यों, गुणों तथा पापों के अनुसार ही उसे पुरस्कृत करना या दण्ड

देना न्याय कहलाता है। मनुष्य के कर्मों के अनुपात को न मानकर किसी को दण्डित या पुरस्कृत करना अन्याय है। जो लोग ऐसे अन्यायी ईश्वर की पूजा करते हैं, वे भला स्वयं अन्यायी क्यों नहीं होंगे ?"

ऐसा लिखकर स्वामी जी ने स्पष्ट कर दिया है कि तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित सिद्धान्त ही मनुष्य के चरित्र को प्रभावित करते हैं, अतः पूज्य सत्ता की गलत अवधारणा व्यक्ति के आचरण में बिगाड़ ला सकती है।

यदि 'सत्यार्थप्रकाश' को ब्रिटिश भारत में षड्यंत्रों को प्रोत्साहन देनेवाला ग्रन्थ माना जाता है और इसके लिए यह कारण दिया जाता है कि इसमें ईसाई मत में स्वीकृत ईश्वर के सिद्धान्त की आलोचना की गई है, तो यह भी मानना होगा कि 'भौतिकी और राजनीति विज्ञान' शीर्षक जो पुस्तक अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों में बी० ए० की पाठ्य-पुस्तक के रूप में निर्धारित की गई है, उसे १५३-ए धारा तथा नये प्रेस-एक्ट के अन्तर्गत षड्यंत्र फैलानेवाली पुस्तक माना जाना चाहिए। इसी प्रकार "मैरिज एण्ड हेरिडिटी" शीर्षक श्री जी० एफ०-निस्बेट लिखित पुस्तक को निजाम हैदराबाद में जब्त कर लेना चाहिए, क्योंकि उसमें इस्लाम की दृष्टि से कुछ आपत्तिजनक बातें हैं।

परन्तु मि० ग्रे तो स्वामी दयानन्द पर यह आरोप लगाने से भी नहीं चूके कि वे हत्या को पाप स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः स्वामी जी ने मनु के दो श्लोकों को 'सत्यार्थप्रकाश' के छठे समुल्लास में उद्धृत किया, जिनमें राजधर्म पर विचार किया गया है। 'मनुस्मृति' के जिन अध्यायों से ये श्लोक लिये गये हैं, उनमें दण्ड-विधान का वर्णन है। मि० ग्रे का कहना है कि इन श्लोकों के पूर्वाग्रही अनुवादक ने मूल के अर्थ को स्वधारणा के अनुसार बदल दिया है, जब कि इन श्लोकों में हत्या का ही प्रतिपादन है। पूर्वाग्रही अनुवादक की बात छोड़िये, यह तो मानना ही होगा कि बूलर और मैक्समूलर न तो हिन्दुस्तानी अराजकतावादी थे और न स्वामी दयानन्द के ही शिष्य। फिर भी आप देखें कि बूलर ने इन श्लोकों का कैसा अनुवाद किया है—"यदि किसी का गुरु, पुत्र, वृद्ध या वेदविद् ब्राह्मण भी किसी की हत्या करने के विचार से आये तो उस आततायी को बिना किसी संकोच मार डालना चाहिए।"

"हत्यारे को मारने से कोई अपराध नहीं लगता, चाहे यह हत्या प्रत्यक्ष या गुप्त रूप में की गई हो।

आप मनु के इस श्लोक में व्यक्त अभिप्राय की तुलना भारतीय दण्ड-संहिता की धारा ९६, ९७, ९८ से करें तो आपको दोनों में अद्भुत समानता मिलेगी। अब यदि मि० ग्रे को भारत का वायसराय बना दिया जाय तो वे सबसे पहले भारतीय दण्ड-संहिता को ही जब्त करने का आदेश देंगे, क्योंकि इसमें लिखा है कि अपने शत्रु या दुष्ट व्यक्ति को मार डालना अपराध नहीं है।

शासन-विधान

'सत्यार्थप्रकाश' में एक पूरा अध्याय ही राजाओं के कर्त्तव्य तथा प्रशासन-तंत्र को लेकर लिखा गया है। इसमें वेद तथा अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित शासन-विधान का उल्लेख है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, वेदों में मानव-जीवन के लिए स्वीकार करने योग्य एक आदर्श विधान उल्लिखित किया गया है और इसीलिए इनमें शासन-विधि का भी वर्णन है। यह शासन-विधान सार्वभौम है और इसका भारत या भारत की विशिष्ट परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम आर्यसमाज पर मिथ्या अपवाद लगानेवालों को चुनौती देकर कहते हैं कि इस अध्याय में 'भारत' या 'भारतीय' शब्द का ही प्रयोग वे हमें बता दें। इस अध्याय में शासन की एक आदर्श प्रणाली का उल्लेख है जिसे पृथ्वी का कोई भी देश अपनी इच्छा से स्वीकार कर सकता है। 'सत्यार्थप्रकाश' कोई गुप्त षड्यंत्रकारी साहित्य नहीं है। प्रतिवर्ष हजारों की संख्या में इसकी बिक्री होती है। यह अनेक भाषाओं में अनूदित हो चुका है तथा इसका हिन्दी का मूल संस्करण हिन्दी ग्रन्थों में तुलसीदास-लिखित रामचरितमानस को छोड़कर सबसे अधिक बिकनेवाला ग्रन्थ है। 'सत्यार्थप्रकाश' के राजधर्म प्रकरण की तुलना मूर के माडर्न यूटोपिया, बेन्थम के थिअरी ऑफ लेजिस्लेशन, तथा मिल की रेप्रेजें-टेटिव-गवर्नमेंट जैसे ग्रन्थों से की जा सकती है। यदि इन पुस्तकों के लेखक षड्यंत्रकारी नहीं थे, तो दयानन्द को भी ऐसा नहीं कहा जा सकता।

यदि ऐंग्लो-इण्डियन समाज शासन के वैदिक आदर्श का अनुमोदन नहीं करता तो वह उसका प्रत्याख्यान कर सकता है, किन्तु राजनीति-विज्ञान पर लिखे गये इस अध्याय पर अनुचित आक्षेप लगाने से समस्त सभ्य संसार में उत्ते-जना फैलना अवश्यम्भावी है। यदि ऐसा किया जाता है तो फिर सरकार को मनुस्मृति, मिताक्षरा, मिल की लिबर्टी, स्पेन्सर की मेन् वर्सस स्टेट, तथा प्लेटो की रिपब्लिक पर भी प्रतिबन्ध लगाना होगा। इस प्रकार की योजना हास्यास्पद ही होगी। किन्तु यदि मि० ग्रे वायसराय की कौंसिल में विधि-मंत्री बन जाते हैं तो ऐसा होना सम्भव भी है।

यदि मि० ग्रे यह कहकर ही सन्तोष कर लेते कि आर्यसमाज एक राजनैतिक संस्था है, इसलिए कि 'सत्यार्थप्रकाश' में राजनीति पर एक अध्याय लिखा गया है, तो लोग उनके इस परिश्रम का भी उपहास करते। वे स्वयं इस तथ्य से परि-चित हैं, इसलिए वे अपने उन्हीं पूर्व-प्रयुक्त अस्त्रों को काम में लाते हैं—तथ्यों को तोड़-मरोड़कर पेश करना, गलत उद्धरण देना तथा किसी ग्रन्थ के अंशों को विकृत करना, आदि। स्वामी दयानन्द मनु का निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं—मनुष्य को चाहिए कि वह वेदविद्या से हीन व्यक्ति के बनाये कानून को न माने, क्योंकि जो मूर्खों और अज्ञानियों द्वारा निर्मित कानून को मानेगा वह हजारों

प्रकार के पाप और दोषों से ग्रस्त हो जायगा।

इसके पूर्व के श्लोकों का अभिप्राय इस प्रकार है—यदि एक-अकेला सब वेदों का जाननेहारा, द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे, वही श्रेष्ठ धर्म है। क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, क्रोड़ों मिलके जो कुछ व्यवस्था करें उसको कभी न मानना चाहिए। जो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि व्रत, वेदविद्या वा विचार से रहित जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्तमान है, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती।

अब यह स्पष्ट है कि मनु राजाओं को परामर्श देते हैं कि वे अज्ञानी, मूर्खों द्वारा मार्गदर्शन न लें, जो सर्वथा अशिक्षित होते हैं। मनु ने यह बात उस समय लिखी थी, जब कि वैदिक संस्कृति को विधि-व्यवस्था का मूल स्रोत समझा जाता था। इसीलिए वे कहते हैं कि राजाओं के परामर्शदाता वेद के विद्वान् होने चाहिएँ। दयानन्द भी मनु के विचारों के सहभागी बनकर वेदों के सर्वविद्या-मयत्व तथा ईश्वर-प्रदत्त होने की धारणा को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि एक आदर्श राज्य के मंत्री का वेदज्ञान से युक्त होना आवश्यक है। जहाँ तक वेद-विश्वासी हिन्दुओं का ब्रिटिश शासन से ताल्लुक है, आज भी मनु की राय को माना जाता है और जब हिन्दू-विधि के सम्बन्ध में कोई विवादास्पद बिन्दु उभरता है तो न्यायालयों और विधायक सभाओं द्वारा वेदविद् पण्डितों से ही परामर्श किया जाता है, न कि शेखी बघारनेवाले मि० ग्रे जैसे वकीलों से।

मनु और दयानन्द के कथनों का यही अभिप्राय है कि सरकार के कामों में अज्ञानी और अशिक्षित व्यक्तियों का कोई दखल नहीं होना चाहिए। मि० ग्रे इन शब्दों को जान-बूझकर छोड़ जाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि भारत-मंत्री, भारत के वायसराय तथा उनके सलाहकार सुसंस्कृत व्यक्ति हैं। वे अपठित या अज्ञानी नहीं हैं। अतः दयानन्द की टिप्पणियाँ उनपर लागू नहीं होतीं। इस-लिए अत्यन्त चतुराई के साथ मि० ग्रे मनु के इस निर्दोष श्लोक को, जो ब्रिटेन में अंग्रेजी शासन की स्थापना के हजारों वर्ष पूर्व लिखा गया था, भारत में ब्रिटिश सत्ता के विरोध में विद्रोह उभारने के प्रमाणरूप में पेश करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि ब्रिटिश शासक वेदों में विश्वास नहीं रखते। मनु ने राजाओं को जो उपदेश दिया है उसे प्रजा को भड़कानेवाली बातें कहकर प्रस्तुत किया जाता है। सत्यार्थ-प्रकाश के पृष्ठ १६० पर राजा को यह भी परामर्श दिया गया है कि वह स्वदेशी लोगों को ही अपने सचिव-पद पर नियुक्त करें। यह एक विचारपूर्ण परामर्श है जिसे प्रत्येक प्रबुद्ध सरकार स्वीकार करती है। आज, जब कि भारतवासी अपनी क्षमता को बढ़ा रहे हैं तो ब्रिटिश सरकार भी गोरे लोगों के स्थान पर भारतीय प्रशासकों को नियुक्त कर रही है। मि० ग्रे "स्वराज्य" शब्द का बहुत अधिक दुरुपयोग करते हैं जब कि इस शब्द का अभिप्राय स्वयं का शासन ही है। मनु के

कथन का अभिप्राय तो इतना ही है कि राजा को अपने देश की प्रतिभाओं को आगे बढ़ने का अवसर देना चाहिए, अतः उसे उच्च पदों पर अपनी प्रजा के ही लोगों को नियुक्त करना चाहिए।

मनुस्मृति में प्रयुक्त मूलशब्द "कुलोद्भवान्" है।[1] बूलर ने इसका अनुवाद किया है—"वह व्यक्ति जिसके पूर्वज राजा के यहाँ सेवा-कार्य में रहे हैं।" दयानन्द ने इसका अर्थ "स्वदेश में उत्पन्न" किया है। मि० ग्रे 'स्वराज्य' की स्वयंकृत परिभाषा पर अनावश्यक रूप से जोर देते हैं, किन्तु वह यह भूल जाते हैं कि यह शब्द तो संस्कृत भाषा जितना ही पुराना है। आज के युग में तो इस शब्द को उस दिन से महत्त्व मिलना आरम्भ हुआ जब दिसम्बर १९०९ में श्री दादाभाई नौरोजी ने इसे 'औपनिवेशिक स्वायत्त शासन' के अर्थ में प्रयुक्त किया। तब से यह प्रचलित राजनीति की शब्दावली में एक नारे के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। इससे पूर्व इसका अर्थ "स्वयं का राज्य" ही समझा जाता था। भारतीय इतिहास के मराठा-युग में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। न्यायमूर्ति रानडे ने अपने ग्रन्थ 'मराठा शक्ति का विकास'[2] में लिखा है—"शिवाजी ने स्वराज्य तथा मुगलाई के बीच स्पष्ट अन्तर किया था।" सत्यार्थप्रकाश पहली बार १८८२ में प्रकाशित हुआ था।[3] उस समय तक तो राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म भी नहीं हुआ था और इस ग्रन्थ के लेखक ने यह कल्पना भी नहीं की थी कि आगे चलकर स्वराज्य-आन्दोलन का क्या रूप होगा ?

राजनीतिशास्त्र पर लिखे गये अपने अध्याय को स्वामी दयानन्द एक प्रेरणादायक प्रार्थना लिखकर समाप्त करते हैं। इसमें राजाओं से कहा गया है कि वे सदा इस बात का ध्यान रखें कि शक्ति का अन्तिम स्रोत तो ईश्वर ही है, इसलिए उन्हें ईश्वरीय नियमों से कभी विलग नहीं होना चाहिए। उन्हें न्यायपूर्वक शासन करना चाहिए और यह नहीं भूलना चाहिए कि वे अपनी शासन-नीति और कार्य-प्रणाली के लिए ब्रह्माण्ड के अधिपति परमात्मा के समक्ष जवाबदेह हैं। यह प्रार्थना यजुर्वेद से ली गई है जो इस प्रकार है—"**वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम** (यजु० १८।२९) हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।"

मि० ग्रे चूँकि उच्चतर भावनाओं से शून्य जीव हैं और प्रार्थना में भी उनका

---

१. मौलान् शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्।—मनु० ७/५४

२. 'Rise of the Maratha Power' by M.G. Ranade.

३. १८८२ में सत्यार्थप्रकाश का संशोधित (द्वितीय) संस्करण मुद्रणार्थ प्रेस में दिया गया था।

विश्वास नहीं है, इसलिए वे इसके समक्ष नतमस्तक होने और "आमीन" कहने की अपेक्षा इस प्रार्थना में ही षड्यंत्र की गंध पाते हैं। क्या वह यह इंगित करना चाहते हैं कि ब्रिटिश सरकार का विधान न्याय, लोकहित तथा दया जैसे ईश्वरीय गुणों से युक्त नहीं है, अतः इसे निन्दित ठहराया जाय ? यह मि० ग्रे की राय हो सकती है, किन्तु स्वामी दयानन्द का यह दृष्टिकोण कभी नहीं रहा, क्योंकि उनके विचारानुसार तो ब्रिटिश राज्य की तुलना में विगत शताब्दियों में अन्य कोई उपकारी शासन रहा ही नहीं।

दयानन्द कहते हैं—राजा तथा उसके सचिवों को चाहिए कि वह यथाशक्य बालविवाह को प्रतिबन्धित करे, वयस्कों का विवाह भी परस्पर की सहमति से होना चाहिए। राजा को चाहिए कि ब्रह्मचर्य-प्रणाली को प्रोत्साहित करे। उसे वेश्यावृत्ति तथा बहुविवाह को रोकना चाहिए ताकि लोगों का शरीर और आत्मा पूर्ण शक्ति प्राप्त कर सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दयानन्द के अनुयायियों और उन लोगों में बहुत-कुछ समानता है, जिन्होंने सहवास की उचित आयु का कानून[1] पास किया है तथा जिन्होंने बालविधवाओं के पुनर्विवाह को वैध ठहराने जैसे अन्य भी अनेक लोकोपकारी कार्य किये हैं।

पृ० ३०२ पर दयानन्द हमें बताते हैं कि वैदिक परिभाषा में "आर्य" नाम धार्मिक, निस्स्वार्थ, तथा पवित्र व्यक्ति का है और इससे विपरीत प्रकृति के डाकू, दुष्ट, पापी तथा मूर्ख व्यक्ति दस्यु कहलाते हैं। हमें आश्चर्य है कि मि० ग्रे ने इस वाक्य को क्यों उद्धृत किया ? यह उद्धरण तो वैदिक धर्म के सार्वभौम स्वरूप को ही प्रकट करता है तथा बताता है कि इस विचारधारा को जाति, नस्ल तथा किसी भौगोलिक सीमा में बाँधना उचित नहीं है। निःस्वार्थ तथा धार्मिक व्यक्ति, चाहे वे किसी भी रंग या मत के हों, आर्य कहलायेंगे, जब कि उनके विपरीत दस्यु। अच्छा होता यदि मि० ग्रे इसे न्यायालय में लाने की अपेक्षा स्वयं ही एकान्त में इस प्रेरणोत्पादक मंत्र पर विचार करते तथा आर्य और दस्यु की परिभाषाओं के सन्दर्भ में स्वयं की स्थिति निर्धारित करते। निश्चय ही उनका आश्चर्यजनक अज्ञान तथा सत्यार्थप्रकाश पर अन्यायपूर्ण आक्षेप उनकी दस्युवृत्ति का ही सूचक है, न कि आर्यवृत्ति का। पृ० ३६८ पर स्वामी दयानन्द गोवध को देश की आर्थिक दुर्दशा का कारण बताते हुए इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि विदेशी शासन के अन्तर्गत गोवध में बढ़ोतरी ही हुई है। उनका कथन है कि जब किसी वृक्ष की जड़ ही काट दी जायगी, तो उससे फूलों और फलों की प्राप्ति कैसे होगी ?

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि एक अर्थशास्त्री की दृष्टि में गोवध देश के

---

१. Age of Consent Bill.

विनाश का कारण होता है। मुसलमान शासकों ने हिन्दू भावनाओं की सर्वथा उपेक्षा कर जो निर्बाध गोवध किया, उसे कभी श्लाघा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। ब्रिटिश सरकार भी गोवध के मामले में दोषी है। उपर्युक्त उद्धरण गोरक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार के समक्ष प्रस्तुत एक अपील है और इसमे इस बात पर शोक ही व्यक्त किया गया है कि गोरक्षक आर्यों का इस समय राज्य नहीं है। एक अर्थशास्त्री की दृष्टि से यह विचार पूर्णतया सही है, क्योंकि वह भी दयानन्द की ही भाँति गोरक्षा के महत्त्व को अनुभव करता है। स्वामी जी का प्रयोजन तो गोरक्षा के आर्थिक लाभ ो को उजागर करना है, न कि लोगों को सरकार के विरुद्ध भड़काना।

दयानन्द ने आर्यों के पतन के लिए चाहे कितना ही शोक व्यक्त किया, किन्तु जैसा कि हम बता चुके हैं, वे यह जानते थे कि हम आज ब्रिटिश सहायता की उपेक्षा करने की स्थिति में नहीं हैं और यह भी कि ब्रिटिश शासन ही आज की परिस्थिति में भारत के लिए एकमात्र आशा है। दयानन्द कहते हैं—"क्या आप नहीं जानते कि आज हमारे योग-क्षेम को देखनेवाली सरकार कितनी न्यायशीला है? यदि आप किसी को पीट देते हैं तो आप पकड़े जायेंगे, जेल भेज दिये जायेंगे तथा कोड़ों की सजा पायेंगे।"

दयानन्द द्वारा स्थापित गोरक्षिणी सभा का अन्तिम नियम इस प्रकार है—"जो-जो जन राजनीति वा प्रजा के अभीष्ट से विरुद्ध, स्वार्थी, क्रोधी और अविद्यादि दोषों से प्रमत्त होकर राजा और प्रजा के लिए अनिष्ट कर्म करें, वह-वह इस सभा का सम्बन्धी न समझा जावे।"

पृ० २०६ पर प्राचीन आर्यों के सैनिक संगठन का परिचय देने के लिए स्वामी दयानन्द ने मनु के कुछ श्लोकों को उद्धृत कर अनूदित किया है। उन्होंने किसी अंग्रेजी में लिखी कवायद की पुस्तक की ही नकल नहीं उतारी, अपितु मनु को उद्धृत किया। मि० ग्रे का भारत के पुरातन इतिहास का ज्ञान इतना छिछला और अधूरा है कि वे इस बात का अनुमान भी नहीं लगा सकते कि प्राचीन आर्यों को सैनिक संगठन का कैसा ज्ञान था। किन्तु क्या प्राचीन भारत के सैनिक मामलों का वर्णन करना ही षड्यंत्र है? यदि ऐसा ही माना जाय, तब तो इतिहास की प्रत्येक पाठ्यपुस्तक को जब्त किया जाना चाहिए क्योंकि अकेले दयानन्द ही ऐसे इतिहासकार नहीं हैं, जिन्होंने इस विषय की चर्चा की है।

मि० ग्रे शायद नहीं जानते कि पटियाला राज्य के पुस्तकालय में उर्दू पुस्तकों के रजिस्टर में संख्या १०८४ पर 'महेन्द्रसागर' नामक एक पुस्तक अंकित है। यह संस्कृत के कामन्दकीय राजनीति नामक १२०० श्लोकों के एक ग्रन्थ का अनुवाद और व्याख्यान है जिसे स्व० मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी ने तैयार किया था तथा जो वर्तमान महाराज के पितामह स्व० महाराजा महेन्द्रसिंह को

समर्पित किया गया था। इस पुस्तक के १७वें अध्याय में सेना के अनुशासन, सैनिक चौकियों के निरीक्षण तथा युद्ध की कला पर बुद्धिमत्तापूर्वक विचार किया गया है। इस पुस्तक के अन्त में उन लोगों की सूची है, जिनके अनुरोध पर इसकी प्रतियाँ उन्हें प्रदान की गईं। इस सूची में बलरामपुर के महाराजा दिग्विजयसिंह सी० एस० आई०, कोटला के नवाब मोहम्मद इब्राहिम, भदौर के सरदार सर अतरसिंह के० सी० एस० आई० तथा डुमराँव के दीवान जयप्रकाशलाल सी०-एस० आई० के नाम अंकित हैं।

पृ० ३६२ पर स्वामी दयानन्द उन लोगों की आलोचना करते हैं जो विदेश-यात्रा के निंदक हैं और कहते हैं कि विदेशियों से वाणिज्य-व्यवसाय तथा अन्य सद्गुण सीखने में कोई दोष नहीं है। क्या यहाँ भी मि० ग्रे को षड्यंत्र की गंध आती है? तो क्या वे यह मानते हैं कि जो लोग विदेशों से वाणिज्य-व्यवसाय में जुड़े हैं तथा जो यूरोपियन शैली के स्कूल चलाते हैं, वे सभी षड्यंत्रकारी हैं? यदि ऐसा है, तब तो उन्हें लॉर्ड मॉर्ले और मिण्टो तथा हमारे सर्वशक्तिमान् सम्राट् को भी चुनौती देनी चाहिए, क्योंकि वे सभी उक्त प्रसंग में दयानन्द का ही पक्ष लेते हैं।

स्वदेशी राज्य सर्वोपरि उत्तम

स्वामी दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के ८वें समुल्लास में लिखते हैं—"कोई कितना ही करे किन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुख-दायक नहीं है।"

यह उद्धरण आर्यसमाज के विरोधियों के द्वारा बहुत बार उद्धृत किया गया है और यदि मि० ग्रे ने इसका अपने पक्ष को दृढ़ करने में लाभ नहीं लिया, तो हम उन्हें अपने प्रति सच्चा नहीं कहेंगे। किन्तु तनिक इस वाक्य का विश्लेषण करें, और देखें कि इसका अभिप्राय क्या है? इसका अर्थ यह नहीं है कि विदेशी शासन सदा ही यकायक उत्पन्न हो जाता है और एक ही प्रहार में उसे खत्म भी किया जा सकता है। वे स्वीकार करते हैं कि भारत में विदेशी राज्य स्थापित होने के कारण हैं—आपस की फूट, मत-मतान्तरों का भेद, जीवन में पवित्रता का अभाव, अशिक्षा, बाल-विवाह, स्वयंवर विवाह का न होना, सांसारिक विलासों की तृप्ति में लोगों का लीन रहना, मिथ्याचार और अन्य दुर्गुण, वेदों के पठन-पाठन का छूट जाना तथा अन्य बुराइयाँ। यह विदेशी शासन तबतक रहेगा जबतक कि हम उपर्युक्त बुराइयों से मुक्त नहीं हो जाते। वे एक विख्यात इतिहासकार की भाँति यह नहीं कहते कि उनका देश शक्तिशाली, सम्पन्न,

किन्तु गुलाम रहने की अपेक्षा दरिद्र और दुर्बल होकर भी स्वतंत्र रहे, क्योंकि उनकी तो धारणा है कि अहंकारी, अन्यायी और अज्ञानी का राज्य चिरस्थायी नहीं होता, और उनके अनुसार भारतवासियों में अभी ये सब दुर्गुण विद्यमान हैं। वे तो यह मानते हैं कि "उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-हत्यारे, स्वदेश-विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोक अबतक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं।"

वे लॉर्ड एक्टन और मिल की इस धारणा से असहमत नहीं हैं कि कभी-कभी किसी देश में जो परिवर्तन आता है, उसका कारण विदेशी शासन ही होता है। इसीलिए सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ५३६ पर वे भारत के इन विदेशी शासकों के श्रेष्ठ सामाजिक गुणों, बेहतर सामाजिक संस्थानों, आत्मत्याग, लोकहित की भावना, परिश्रम, आज्ञाकारिता तथा देशभक्ति जैसे गुणों की प्रशंसा करते हैं तथा अपने देशवासियों से कहते हैं—"इन्हीं उत्तम गुणों तथा श्रेष्ठ कार्यों के कारण यूरोपियनों की इतनी उन्नति हुई है।"

उनका यह अभिप्राय नहीं है कि अच्छे विदेशियों की तुलना में निकृष्ट स्वदेशियों का राज्य अच्छा होता है। वे विदेशी राज्य के सर्वथा बहिष्कार के लिए नहीं कहते, क्योंकि वे मानते हैं कि ऐसा राज्य धार्मिक पूर्वाग्रहों से मुक्त, सभी के प्रति निष्पक्ष-भावयुक्त, हितकारी, न्यायपूर्ण तथा वात्सल्यमय हो सकता है। वह भारत में वर्तमान में स्थापित किये जानेवाले किसी सम्भावित स्वदेशी शासन की तुलना में भी श्रेष्ठ हो सकता है। जहाँ तक भारत का सवाल है, वे यह मानते हैं कि साम्प्रतिक काल में विदेशी शासन अत्यावश्यक है क्योंकि अंग्रेजों में प्रशासन-क्षमता हमसे कहीं अधिक है और वे उन गुणों से भी युक्त हैं, जो एक आदर्श राजा में होने चाहिएँ तथा जिनका उल्लेख वे स्वयं सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में कर चुके हैं। किन्तु उनका यह भी मानना है कि विदेशी शासन अपवादरूप में ही न्यायोचित ठहराया जा सकता है, जैसा कि वर्तमान में भारत में। अन्यथा आदर्श शासन तो तभी कहलायगा जब वह पूर्णतया स्वदेशी होगा।

अतः यह स्पष्ट है कि दयानन्द द्वारा निरूपित सिद्धान्त पूर्ण सुदृढ़ हैं। अब यदि आर्यसमाज को षड्यन्त्रकारी तथा राजनैतिक जमात महज इसलिए कहा जाता है, क्योंकि उसके संस्थापक ने उपर्युक्त सिद्धान्त का निरूपण किया, तो मुझे यह कहने की आज्ञा दीजिये कि उन सभी सरकारी कॉलेजों को षड्यन्त्रकारियों को जन्म देनेवाले स्थान कहना चाहिए जहाँ सीले, स्पेन्सर, मिल, मैकॉले और बेन्थम के विचार पढ़ाये जाते हैं तथा इन कॉलेजों को बन्दी-गृहों का रूप दे देना चाहिए। सारे प्राध्यापकों, सिण्डिकेट के सदस्यों तथा कुलपतियों को, जो इन लेखकों की पुस्तकों को पाठ्यक्रम में रखते हैं तथा इनके आधार पर उनकी परीक्षा लेते हैं, देश से निष्कासित कर देना चाहिए। सरकार के ये वफादार सलाहकार, जो षड्यन्त्र की बातों को ही सूँघते फिरते हैं, उन्हें मैं

परामर्श दूंगा कि वे एक कदम आगे बढ़कर वायसराय को अर्जी पेश कर उनसे अनुरोध करें कि वे इंग्लैण्ड के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री तथा भारतमन्त्री के भाषणों का अध्ययन भी प्रतिबन्धित कर दें, क्योंकि भूतपूर्व प्रधानमन्त्री ने तो स्वामी दयानन्द के उपर्युक्त सिद्धान्त के प्रति अपनी स्पष्ट आस्था प्रकट की है और दूसरे महानुभाव ने अपने एक बजट-भाषण में स्वयं को मिल का शिष्य घोषित किया है। यह कहा जा सकता है कि यद्यपि उपर्युक्त प्रतिपादित सिद्धान्त तो ठीक हैं, किन्तु स्वामी दयानन्द को तब भी अपराधी ही माना जायगा क्योंकि उन्होंने भारतवासियों को विद्रोह करने के लिए उकसाया। किन्तु तथ्य यह है कि उन्होंने यही तो नहीं किया! इसके विपरीत सचाई यह है कि उन्हें न तो वैधानिक आन्दोलन में ही विश्वास था और न क्रान्तिकारियों की प्रचारात्मक कार्यवाही में। उन्होंने तो चरित्र-निर्माण पर जोर दिया। उनका विश्वास था कि सामाजिक सुधार और आत्मिक उन्नति ही किसी देश को राजनैतिक दृष्टि से उच्चता प्रदान कराती है और इसे उस देश के लोग स्वयं के प्रयत्नों से ही प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इसके लिए भी आवश्यक शर्त यह है कि कोई भी सरकार चाहे वह स्वदेशी हो या विदेशी, सामाजिक सुधारों के लिए शान्ति और व्यवस्था का वातावरण बनाये और धार्मिक तटस्थता का दृष्टिकोण भी रक्खे। भारत की वर्तमान ब्रिटिश सरकार यह सब-कुछ कर ही रही है।

महापुरुषों के चिन्तन की धाराएँ प्रायः समान होती हैं। जेम्स स्टुअर्ट मिल का भारत के प्रति जो सच्चा प्रेम था, उसपर किसी को शंका नहीं हो सकती। ऐंग्लो-इण्डियन लोगों को इससे आश्चर्य होगा कि भारत की आजादी के प्रश्न पर मिल और दयानन्द के विचार प्रायः समान हैं। वे भी दयानन्द की ही भाँति यह मानते हैं कि एक सीमा तक भारत पर इंग्लैण्ड का शासन न्यायोचित है और हिन्दुओं की चरित्रगत त्रुटियाँ ही इसका कारण हैं।

निष्कर्ष

अतः यह स्पष्ट है कि आर्यसमाज कोई ऐसी राजनैतिक संस्था नहीं है जो ब्रिटिश राज्य को उखाड़ फेंकने के लिए प्रयत्नशील हो। इसके विपरीत यह एक ऐसा सार्वभौम धर्म है जो धार्मिक बुराइयों को उखाड़ फेंकने और धार्मिक सुधारों को लाने के लिए कृतप्रतिज्ञ है। इसका यह भी प्रयास है कि व्यक्ति और समाज के सामूहिक आचरण में वैदिक आदर्शों का प्रतिफलन हो। इसने किसी भी प्रकार के राजनैतिक आन्दोलन में अपना विश्वास प्रकट नहीं किया, क्योंकि वह उसकी निस्सारता को भी समझता है। जो जाति यह अनुभव नहीं करती और इससे भयभीत नहीं होती कि उसका अर्धांश तो आज तक शृंखलाबद्ध ही है, उसे आजादी की चर्चा करने का भी अधिकार नहीं है। जिस देश में करोड़ों

व्यक्ति अछूत समझे जाते हैं तथा जिनका संसर्ग ही सवर्णों को दूषित करनेवाला बताया जाता है, उसे स्वतन्त्रता, बन्धुत्व तथा प्रजातन्त्र की बात करने का भी अधिकार नहीं है। आर्यसमाज ने अराजकता को सदा ही घृणा की दृष्टि से देखा है क्योंकि उसके विचारानुसार यह विदेशों से आयातित विचार है तथा राम, बुद्ध और दयानन्द के देश में उसका कोई स्थान नहीं है।

अध्याय—४

स्वामी दयानन्द और अन्य मत

जिन लोगों ने संसार के विख्यात सुधारकों के ग्रन्थ पढ़े हैं वे जानते हैं कि उनकी अनुभूतियाँ कितनी अधिक गहन होती हैं और इसीलिए वे अपनी भावनाओं को भी सुदृढ़ भाषा में व्यक्त करते हैं। जीवन में उनका एक निश्चित ध्येय होता है, इसलिए वे बुराइयों का खण्डन अत्यन्त तीव्र और प्रखर भाषा में करते हैं। वे व्यक्तियों और परिस्थितियों से समझौता करनेवाले लोग नहीं हैं। उनमें एक ही आदर्श की प्रधानता होती है और उसे ही चरितार्थ करने के लिए वे सम्पूर्ण रीत्या प्रयत्नशील होते हैं। ऐसे असाधारण युगपुरुषों को सामान्य पैमाने से नापना अपनी नैतिक अक्षमता, बौद्धिक दिवालियापन तथा इतिहास-बोध के अभाव को ही चरितार्थ करना है। इन महापुरुषों का संसार के प्रति अपार प्रेम था। यदि उन्होंने कभी-कभी कटु भाषा, तथा तीखे व्यंग्य का प्रयोग किया है तो उसका कारण भी यही था कि वे संसार में व्याप्त मानवता के दुःखों और क्लेशों को देखकर अत्यन्त उद्विग्न हो जाते थे और जनता पर अत्याचार करनेवालों के प्रति उनका रुख कठोर हो जाता था।

स्वामी दयानन्द भी इसी वर्ग में आते हैं। उन्होंने सभी अवैदिक मतों पर तीव्र प्रहार किये हैं। उनके द्वारा आहत साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लोग अभी भी उन कठोर प्रहारों से स्वयं को पीड़ित और जर्जरित अनुभव करते हैं। ऐसे कुछ लोग जो उनके खण्डन के प्रहार को सहन कर पुनः प्रबोधित हुए हैं, उनपर असहिष्णु होने का आरोप लगाते हैं। ईसाई प्रचारक तो अत्यन्त ऊँची आवाज में इस बात की शिकायत करते हैं, क्योंकि आर्यसमाज के आविर्भाव-काल से ही उनके मत में प्रविष्ट होनेवालों की संख्या कम हो गई है। खास तौर से उच्च जातियों के हिन्दुओं का ईसाई बनना तो प्रायः समाप्त ही हो गया है। आक्षेपकर्ता यह भूल जाते हैं कि सभी प्रकार के पुरोहितवाद और धर्माडम्बरों के खिलाफ आवाज उठाने के कारण यदि दयानन्द को असहिष्णु कहा जायगा तब तो लूथर को उनसे हजार गुना अधिक असहिष्णु कहना होगा, क्योंकि उसने न केवल पाखण्डों और बुराइयों के सूत्रधारों को ही बुरा-भला कहा, अपितु कभी-कभी तो उसने वादविवाद के प्रसंग में अपने विरोधियों से अकारण ही

गाली-गलौच तक किया। एक बार उसने पोप के सम्बन्ध में कहा था—"यदि तुर्क लोग हमपर अधिकार कर लेंगे तो हम मानो शैतान के अधीन हो जायेंगे किन्तु यदि पोप के साथ रहें तो साक्षात् नरक में ही रहेंगे।"[१]

प्रत्येक महापुरुष, जो संसार को कोई दिव्य सन्देश देने के लिए आता है, उत्साह और क्षमता से भरपूर होता है। अत्याचार, अन्याय और पाप को देखकर वह जल उठता है। उसका अत्यधिक संवेदनशील हृदय अनाचार को देखकर द्रवित हो जाता है और तब उसकी जिह्वा से ज्वालामुखी के लावा की भाँति जो आक्रोशयुक्त वाणी फूट पड़ती है, उससे असत्य और अधर्म भस्मसात् हो जाते हैं। ईसा, जिसे उसके अनुयायी शान्ति का मसीहा कहते हैं, जब उस उपासना-मन्दिर में प्रविष्ट हुआ जिसे धन्धेबाज लोगों ने खरीद-फरोख्त का बाजार बना दिया था, तो उसके मुख से यही कठोर शब्द निकले थे—"मेरा यह घर जो प्रार्थना के लिए बना था, इसे तुम लोगों ने चोरों का अड्डा बना दिया है।" स्वामी दयानन्द ने भी पुरोहितवाद की निन्दा करते हुए स्वार्थी पण्डे-पुजारियों को "पोप" कहा था। यदि मिस्टर ग्रे हैरोड की अदालत में इस्तगासे से वकील होते, तो वे ईसा पर भी धारा १५३-ए के अन्तर्गत अभियोग दायर करने से नहीं चूकते। सच तो यह है कि सत्य कहनेवालों को सदा ही आलोचना का पात्र बनना पड़ा है। सुकरात को विष का प्याला क्यों पीना पड़ा? क्राइस्ट को सूली पर क्यों चढ़ाया गया? बैप्टिस्ट जॉन की गर्दन क्यों उतारी गई, और अब दयानन्द निन्दा का पात्र क्यों बनाया जा रहा है? इसीलिए कि इन सब लोगों ने सत्य और न्याय का पक्ष क्यों लिया था?

किन्तु हमारा निवेदन तो इतना ही है कि स्वामी दयानन्द की आलोचना का स्वर इतना तीखा और प्रखर नहीं है जैसा कि कुछ अन्य समालोचक लेखकों का रहा है। मिस्टर ग्रे ने इस बात पर बड़ा जोर दिया है कि स्वामी दयानन्द ने कुँवारी मेरी के सम्बन्ध में, जिसे ईसाई लोग अपने खुदा (ईसा) की माँ समझते हैं, आपत्तिजनक टिप्पणियाँ की हैं तथा इस्लामी स्वर्ग का आपत्तिजनक चित्रण किया है। किन्तु हम यह कहना चाहते हैं कि कठोरता में स्वामी दयानन्दकृत ईसाई मत की आलोचना यूरोपियन आलोचकों द्वारा प्रस्तुत खण्डन की तुलना में कहीं नहीं ठहरती। इस कथन को सिद्ध करने के लिए हम पाठकों से स्वामी दयानन्दकृत ईसाई मत की आलोचना और थॉमस पेन लिखित ग्रन्थ "एज ऑफ रीजन" में उपलब्ध ईसाई विश्वासों के खण्डन का तुलनात्मक अध्ययन करने का अनुरोध करते हैं। जहाँ तक इस्लामी बहिश्त का प्रश्न है, हम यह कहना चाहेंगे

---

१. If the Turks lay hold of us, then we shall be in the hands of devil, but if we remain with the Pope, we shall be in hell.

कि स्वामी दयानन्द ने इस स्वर्ग की जैसी समीक्षा की है उसकी तुलना में सर सैयद अहमद द्वारा इस्लामी बहिश्त पर किये गये कटाक्ष अधिक तीखे तथा चुभने वाले हैं।[१] यह कहना अनावश्यक ही है कि सर सैयद उन्नीसवीं सदी के महानतम भारतीय मुसलमान नेता थे।

पश्चिम के ही अनेक लेखकों ने ईसाइयत का कितना तीव्र खण्डन किया है, इसे प्रमाणित करने के लिए निम्न उदाहरण दिये जा सकते हैं--

१. चार्ल्स बियर्ड ने अपनी पुस्तक "मार्टिन लूथर एण्ड दि रेफ़र्मेशन इन जर्मनी" में लूथर द्वारा की गई पोप की आलोचना के अनेक उदाहरण दिये हैं।

एक धर्म-सुधारक को मानवता के सामान्य मापदण्ड से परखना न्यायोचित नहीं है क्योंकि धार्मिक विश्वासों में पैदा हुई बुराइयों को दूर करने के लिए उसके हृदय में उत्साह की प्रचण्ड ज्वाला जलती रहती है।

२. अमेरिका के सुप्रसिद्ध ईसाई समीक्षक थॉमस पेन ने ईसा मसीह के जीवन के साथ जुड़े अनेक अन्धविश्वासपूर्ण और चमत्कारयुक्त प्रसंगों को सृष्टिक्रम के विरुद्ध सिद्ध किया है।

३. प्रसिद्ध विचारक इंगरसोल के व्याख्यानों और निबन्धों में ईसाई मत की तीखी समीक्षा की गई है।

४. अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक सर फिलिप सिडनी ने अपनी पुस्तक "दि ट्रूथ एबाउट जीसस ऑफ नाजरथ" में ईसाई विश्वासों की कठोर टीका की है।

५. आर्थर बी० मॉस की पुस्तक "क्रिश्चिएनिटी एण्ड इवॉल्यूशन" में ईसाई-मत के आदिम प्रचारकों को मिथ्यावादी कहा गया है।

६. जोसेफ मेकाबे नामक लेखक ने "दि रिलिजन ऑफ वुमेन" शीर्षक ग्रन्थ लिखा, जिसकी भूमिका लेडी फ्लोरेंस डिक्सी द्वारा लिखी गई थी। इसमें बाइबिल को मनुष्यकृत रचना घोषित करते हुए कहा गया है कि इस पुस्तक में नारी को दासी के तुल्य बताया गया है। इसी लेखक ने "दि बाइबिल इन यूरोप" नामक एक अन्य पुस्तक लिखी। इसमें ईसाइयत द्वारा यूरोप में किये गये अनर्थों का वस्तुनिष्ठ वर्णन दिया गया है। साथ ही ईसाई मठों और धर्म-स्थानों मे मानवता के प्रति कियेजाने वाले पाप और अन्याय का भण्डाफोड़ किया गया है।

इस्लाम की आलोचना करने में भी पश्चिमी लेखकों ने कोई कसर नहीं रक्खी है। वाशिंगटन इर्विंग, सर विलियम मूर, जॉन ऑर्नाल्ड आदि लेखकों ने इस्लाम की कटु आलोचना में जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, वह

१. "If this is paradise, our brothels are without exaggeration a thousand times more decent," (Tafsirul-Koran, p.39)

सत्यार्थ प्रकाशकृत आलोचना से कहीं अधिक तीखी तथा कटु है।

पौराणिक और वैदिक धर्म की आलोचना करने में ईसाई प्रचारक भी पीछे नहीं रहे। विशप काल्डवेल ने अपनी पुस्तक "भगवद्गीता की धार्मिक और नैतिक शिक्षाओं की परीक्षा" में लिखा है—"कृष्ण के जीवन के साथ जुड़ी कथाओं ने हिन्दू युवकों के नैतिक आचरण को दूषित करने में सर्वाधिक सशक्त भूमिका निभाई है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के गुसाईं लोग जो महाराजा कहलाते हैं, सारे भारत में फैले हुए हैं। ये अपने-आपको कृष्ण का अवतार मानते हैं। इस सम्प्रदाय के स्त्री और पुरुष इनके समक्ष दण्डवत् प्रणाम करते हैं तथा इन्हें धूप, फल, फूल, नैवेद्य आदि भेंट कर इनकी आरती करते हैं। इनमे यह मान्यता है कि भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने का सबसे अच्छा तरीका इन महाराजों की काम-वासना को सन्तुष्ट करना ही है। अतः इस सम्प्रदाय में गुसाइयों के आगे तन, मन, धन अर्पण करने का विधान है। इस सम्प्रदाय में स्त्रियों को सिखाया जाता है कि यदि वे महाराजा के साथ संभोग करें तो उन्हें सर्वोच्च आध्यात्मिक आनन्द उपलब्ध होगा।

हिन्दू धर्म की आलोचना करते हुए विशप काल्डवेल लिखते हैं—"हिन्दू धर्म के द्वारा सामाजिक एकता की स्थापना असम्भव है। इसमें विद्यमान जातियों की असंख्य शाखा-प्रशाखाओं के कारण यह धर्म लोगों को एक-दूसरे से अलग करता है और बाँटता है। इसमें उनमें एकता और सहकार स्थापित करने की शक्ति नहीं है। हिन्दू धर्म के पुनर्जागरण का अर्थ होगा समाज में और अधिक बिखराव, अनेकता तथा जाति-जाति के बीच विरोध के भावों का प्रसार। इसीलिए शिक्षित भारतीयों को हिन्दू नवजागरणवादियों से सावधान रहना चाहिए।"

ईसाई लेखकों ने केवल हिन्दू धर्म की निन्दा ही की हो, सो बात नहीं। उन्होंने इस बात का भी दावा किया है कि यदि भारत ईसाइयत को स्वीकार कर लेता है, तो उसे सभी प्रकार के राजनैतिक अधिकार भी प्राप्त हो सकेंगे। निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है—"ईसाइयत ने यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्रों के लिए जो कुछ किया है, उसने संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए भी जो कुछ किया है, वही सब भारत के लिए भी किया जा सकता है। राजनैतिक अधिकार, प्रशासन के व्यापक अधिकार, लोकतन्त्र पर आधारित वैधानिक सरकार, समानता, एकता, बन्धुत्व-भाव आदि श्रेष्ठ बातें वहाँ अपने-आप पहुँची हैं जहाँ के लोगों ने ईसाइयत को स्वीकार किया है। इसलिए ईसाइयत की ओर आपका ध्यान जाना आवश्यक है।"

गीता और वेदान्त के दर्शन का उपहास करते हुए ईसाई लेखक भारतवासियों से पूछता है—"क्या आपके इस दर्शन ने शिक्षा, सभ्यता और अच्छे

प्रशासन को बढ़ावा दिया है ? क्या इससे लोगों में उदार भावों की वृद्धि हुई है ? क्या इससे जातिप्रथा के दोष दूर अथवा कम हुए हैं ? क्या इससे विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुज्ञा मिली है ? क्या इससे मन्दिरों में प्रचलित देवदासी-प्रथा का उन्मूलन हुआ है ? क्या इससे बहुविवाह की प्रथा पर रोक लगी है ? क्या इससे दोषों का उन्मूलन और सदाचार का विकास हुआ है ? क्या इससे कन्याओं की हत्या, नरबलि तथा विश्वदाह जैसी कुप्रथाएँ नष्ट हुई हैं ? क्या आपके इस दर्शन से भारतवासियों में सुधार और उद्यम के भावों का प्रसार हुआ है ? निश्चय ही ऐसा नहीं हुआ है। विगत दो हजार वर्षों से आपके देशवासी इसी दर्शन को मान्य करते रहे हैं। यदि आपका यह ज्ञान और दर्शन ईश्वर से निकला है, तो इसके ईश्वरप्रदत्त होने के प्रमाण अब तक मिल जाने चाहिएँ। किन्तु सच तो यह है कि आपके इस दर्शन में आत्मा के द्वारा आत्मा (परमात्मा) के साक्षात्कार पर ही इतना अधिक जोर दिया है कि सांसारिक उन्नति के लिए तो आपके पास समय बचता ही नहीं। संसार के प्रति तटस्थता और विरक्ति के इस दर्शन का तो यही परिणाम निकलेगा कि आप सब चीजों को भाग्य के भरोसे छोड़ दें। आज भारत में सचाई को बतलाने, बुराइयों को दूर करने तथा लोक-हित के कार्यों को करने की आवश्यकता है, परन्तु यह कार्य आपके वेदान्तवादी दर्शन के द्वारा नहीं हो सकता। यह तो यूरोप के ईसाइयों द्वारा ही होगा जिनका सर्वोच्च दर्शन अच्छे काम करना ही है। यही कार्य वे भारतवासी भी कर सकेंगे जो यूरोप का उदाहरण लेकर तथा वहीं से प्रेरणा प्राप्त कर हिन्दुओं से भिन्न ईसाई दर्शन को स्वीकार करेंगे।"

क्रिश्चियन ट्रेक्ट सोसाइटी द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक में हिन्दुओं की जाति-प्रथा पर निम्न कटाक्षयुक्त टिप्पणी की गई है—"अन्य धर्मों का स्थान लोगों के दिल, दिमाग और आत्मा में होता है, किन्तु हिन्दू धर्म का स्थान तो पेट है। सभी प्रकार की युक्तियों और आचरणों के प्रति सहनशीलता का भाव रखने-वाले हिन्दू के भोजन में यदि गोमांस का एक टुकड़ा मिला दिया जाय तो उसका धर्म नष्ट हो जाता है। ऐसा नहीं कि वह व्यक्ति ही अपने धर्म को त्यागता है, अपितु उसका धर्म ही उसको त्याग देता है। यदि पाँच-छः आदमी जबरन अपनी ही जाति के किसी व्यक्ति को जोर-जबरदस्ती से कोई अखाद्य पदार्थ खिला दें, तो वह व्यक्ति धर्म से पतित होकर इस लोक और परलोक में सर्वथा निन्द्य हो जायगा।"

रेवरेण्ड जे० मर्रे मिटचेल, एम० ए०, एल० एल० डी० मद्रास ने १८९४ में "लैटर्स टु इण्डियन यूथ" नामक अपनी पुस्तक में हिन्दू धर्म के बारे में लिखा—

१. हिन्दुओं के देवताओं की उत्पत्ति सर्वोच्च ब्रह्म से बताई गई है किन्तु ये झूठे, व्यभिचारी, ईर्ष्यालु, बदले की भावना से युक्त तथा दोषों से भरे हैं।

२. ब्रह्मा, इन्द्र, कृष्ण तथा अन्य देवताओं की कथाएँ जो पुराणों में वर्णित है, उन्हें पढ़कर एक पवित्र व्यक्ति के हृदय में घृणा ही उत्पन्न होती है। मैं उनके दुष्कर्मों का उल्लेख कर अपनी पुस्तक के पन्नों को दूषित नहीं करूँगा। यदि ऐसे कर्म, जो इन देवताओं द्वारा किये बताये जाते हैं, साधारण मनुष्यों द्वारा किये जायँ, तो हम में से प्रत्येक संत्रस्त और भयभीत हो जाएगा।

भारत के दर्शन पर कटाक्ष करते हुए यही लेखक लिखता है—"यहाँ दर्शन के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हैं, जिनमें से प्रत्येक मिथ्या, मूर्खतापूर्ण तथा परस्पर-विरोधयुक्त हैं। ये सभी ऊष्मारहित, उल्लासशून्य तथा संसार के विनाश की बातें करते हैं। भारत का दर्शन निराशा का दर्शन है।" प्रचलित हिन्दू धर्म के अतिरिक्त इन ईसाई लेखकों ने केशवचन्द्र सेन जैसे ब्राह्म नेता के मन्तव्यों की भी आलोचना की। इसी पुस्तक में लिखा है—"केशवचन्द्र सेन कल्पनाशील और स्वप्नदर्शी थे। हमारी धारणा है कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उनकी विचारशक्ति सर्वथा कुण्ठित हो गई थी। उनके विचारों की निरंकुशता तथा सामंजस्यहीनता के लिए और कोई कारण नहीं बताया जा सकता। उनके द्वारा स्थापित नवविधान को तर्क की ओर लौट आना चाहिए अन्यथा वह नष्ट हो जायगा। लोग उसे छोड़ जायेंगे। केशव के इन पश्चात्वर्ती कार्यों के बारे में हमें दुःख तथा विषाद के साथ यह सब कहना पड़ रहा है, क्योंकि हम इस बात को नहीं भूल सकते कि अपने जीवन के आरम्भिक वर्षों में उन्होंने धार्मिक और सामाजिक सुधार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये थे तथा उन्होंने ईसा के प्रति अत्यन्त प्रशंसापूर्ण उद्‌गार भी व्यक्त किये थे।"

हिन्दू पुरोहितवाद की आलोचना करने में सरकारी प्रचार-माध्यम भी पीछे नहीं रहा है। एक सरकारी गजेटियर के निम्न अंश द्रष्टव्य हैं—

"काँगड़ा तथा ज्वालामुखी के मन्दिरों पर लालची और लुटेरे पुजारियों का अधिकार है जो भोजक कहलाते हैं तथा जो अभागे दर्शनार्थियों को निर्ममता से लूटते हैं। ज्वालामुखी तथा देवी के अन्य मन्दिरों में हजारों की संख्या में बकरों तथा भेड़ों की बलि दी जाती है। देवी का पेट भी इन बलिरूप में प्रदत्त मांस को खाते-खाते अजीर्ण का शिकार हो जाता है और तब भक्तों को सूचित किया जाता है कि अब वह और अधिक प्रसाद ग्रहण करने की इच्छुक नहीं है। चढ़ावे को निकटवर्ती बाजारों में बेच दिया जाता है। वहाँ से भक्तगण उसे पुनः खरीद लेते हैं। इस प्रकार एक ही प्रसाद को बार-बार खरीदा और बेचा जाता है। काँगड़ा और शिमला की पहाड़ियों में स्थित मन्दिरों के पुजारियों ने अब एक अलग जाति का रूप अख्त्यार कर लिया है जिसके बारे में कहा जाता है कि यह जाति नाई, ब्राह्मण, राजपूत तथा जोगियों के मिश्रण और अन्तर्विवाह से बनी है। ये सभी देवी के पुजारी कहलाते हैं। मिस्टर बारनेस के अनुसार भोजक

लोग ब्राह्मण नहीं हैं, हालाँकि वे ही इन गौरवशाली मन्दिरों के पुजारी हैं। ये सब जनेऊ पहनते हैं, आपस में विवाह कर लेते हैं, मद्यपान करते हैं, मांस खाते हैं तथा सीमातीत रूप में लम्पट तथा दुश्चरित्र होते हैं। इनका पुरुषवर्ग अदालतों में जाकर मुकद्दमेबाजी करता है और स्त्रियाँ अपनी आचरणहीनता के लिए कुख्यात हैं।"

ईसाई लेखकों ने हिन्दू धर्म पर ही कटाक्ष किये हों, सो बात नहीं। उन्होंने बौद्ध, जैन और पारसी मत की भी आलोचना की है। बौद्ध मत के बारे में उन्होंने लिखा—"बौद्धों के ग्रन्थ घृणित और अनैतिक बातों से युक्त हैं। प्रसिद्ध प्राच्य विद्याविद् बारनफ को उनसे इसीलिए घृणा हो गई थी, क्योंकि वे उन्हें कुत्सित और निंदास्पद प्रतीत हुए।"

जैन मत की आलोचना

"जैन तीर्थंकरों के बारे में जो बातें कही गई हैं वे सर्वथा काल्पनिक और अविश्वसनीय हैं। उन्हें पढ़कर यह नहीं लगता कि ऐसे लोग कभी सचमुच धरती पर रहे होंगे।" किन्तु न्याय का तकाजा हमें यह स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है कि यद्यपि जैनियों के निज के धार्मिक ग्रन्थ बिलकुल बेकार हैं, किन्तु जब उन्होंने संस्कृत भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया तो उनके द्वारा साहित्य और विज्ञान की अपूर्व सेवा हुई। उनका संस्कृतग्रन्थ-लेखन लगभग ९०० वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था।

पारसी मत के बारे में ईसाई समीक्षक कहता है—"यह मत भी नितान्त त्रुटिपूर्ण है। अहुरमज्दा, जिसे पारसी लोग पूजते हैं पूर्णतया आध्यात्मिक सत्ता नहीं है। उसके कार्यों को अथवा उसे स्वयं पूजा का पात्र बनाया जा सकता है। इस मत में पाप की अवधारणा भी अपूर्ण है। यहाँ बहुत-कुछ महत्त्व संस्कारों को दिया जाता है और इनमें से अनेक न केवल मूर्खतापूर्ण, अपितु घृणित भी हैं।"

उपर्युक्त विवेचन पर दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वामी दयानन्द पर मत-मतान्तरों की कठोर और अविचारपूर्ण आलोचना करने का आरोप सर्वथा निर्मूल और निराधार है। हमारे ही देश के कुछ लोग जो धार्मिक वाद-विवादों में आर्यसमाज से परास्त हो चुके हैं, आज आर्यसमाज के बारे में ऐसे मिथ्या प्रवाद फैलाते हैं। विदेशी ब्रिटिश सरकार को तो दयानन्द से शिकायत का कोई मौका नहीं मिला, अन्यथा वह उनके खिलाफ बहुत पहले ही कदम उठा चुकी होती। परन्तु आश्चर्य है कि दयानन्द के ही देशवासी आज उसके अनुयायियों के खून के प्यासे हो रहे हैं, जिनके लिए उसने घोर परिश्रम किया, कष्ट उठाये, रक्त बहाया, यहाँ तक कि अपना बलिदान भी कर दिया। ईसा के युग के यहूदी धर्मशास्त्रियों ने तो शायद सोचा होगा कि ईसा की मृत्यु के पश्चात्

ईसाइयत समाप्त हो जायगी, किन्तु आज हम देखते हैं कि यहूदी धर्म ही संसार से प्रायः लुप्त हो गया है जब कि ईसाइयत सभ्य संसार के अनेक देशों में मान्य स्थान प्राप्त कर चुकी है। इसके उपरान्त भी कुछ ईसाई प्रचारक एक बार और ईसा को सूली पर लटकाना चाहते हैं और वे कट्टरपंथी मुल्लाओं तथा अनीश्वरवादी और ढोंगी देवसमाजियों से मिलकर आर्यसमाज को दबाना और उसके साहित्य को जब्त कराना चाहते हैं। कोई भी विचारशील मनुष्य यह नहीं मानेगा कि वे अपने इस कार्य में सफल हो सकेंगे, क्योंकि ब्रिटिश कूटनीति इतनी गई-गुजरी नहीं है। वह दुराग्रहपूर्ण माँगों को ठुकराने का साहस भी रखती है, चाहे वह कितनी ही ताकत के साथ पेश की जायें, क्योंकि उनके अन्यायपूर्ण होने का उसे परिज्ञान है। किन्तु यदि उन्हें सफलता मिली तो क्या होगा? उनकी धारणा है कि जिस शक्ति ने उनके पाखण्ड-शिविरों में हलचल मचाई है, उसे नष्ट कर दिया जायगा। किन्तु जिस प्रकार ईसाइयत को नष्ट करने में तत्कालीन यहूदी धर्मयाजकों और पाखण्डियों को सफलता नहीं मिली, उसी प्रकार आर्य-समाज के इन विरोधियों का यही हाल होगा। आर्यसमाजरूपी इस शक्ति ने वैदिक सत्यरूपी अमृत का पान कर लिया है। धरती की कोई ताकत उसे अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं कर सकती। वह समय अवश्य आयेगा जबकि वेटिकन का गिर्जाघर वेदमंत्रों से गूँज उठेगा, सेंट पॉल के गिर्जे में वैदिक प्रार्थना होगी, मदीना की वायु होम-सामग्री की गंध से सुवासित हो जायगी और तब इतिहास के विद्यार्थी इस बात पर आश्चर्य करेंगे जिन लोगों ने कि अपने-आपको सभ्य जगत् का निवासी माना था, उन्होंने ही संसार के परित्राता, जगद्गुरु, दया और आनन्द के स्रोत दयानन्द की शिक्षाओं को ठीक प्रकार से क्यों नहीं समझा?

अध्याय—५

श्यामजी कृष्ण वर्मा और आर्यसमाज

आर्यसमाजरूपी श्वान की ताड़ना के लिए कोई भी डंडा चलाया जा सकता है, मि० ग्रे का यही लक्ष्य प्रतीत होता है। हमें उनपर दया आती है। वे एक ऐसा अभियोग तैयार करना चाहते हैं, जिसके लिए उनके पास कोई आधार-भूत सामग्री नहीं है। फलत: उन्हें अपने अनुकूल साक्ष्यों को ढूंढने में भी कठिनाई होती है और घपलेबाजी करनी पड़ती है। श्यामजी कृष्ण वर्मा एक समय आर्यसमाजी थे। अब वे अराजकतावादी हैं। इन्हीं तथ्यों को पकड़कर मि० ग्रे निम्न तर्कवाक्य का गठन करते हैं—

सारे क्रान्तिकारी सरकार के शत्रु होते हैं।

श्यामजी वर्मा, जो एक समय आर्यसमाजी थे, अब क्रान्तिकारी हैं।

सब आर्यसमाजी क्रान्तिकारी होते हैं।

कितना बढ़िया तर्क है! मि० ग्रे को इससे कोई मतलब नहीं कि श्यामजी ने आर्य-समाज को बहुत पहले ही छोड़ दिया और उसके बाद ही वे क्रान्तिकारी कार्यों में लगे थे। लंदन के टाइम्स पत्र ने ही उन्हें इतनी सस्ती ख्याति दिलाई। मि० ग्रे को इससे भी कोई मतलब नहीं कि जब वे आर्यसमाजी थे, तो भारत के वाय-सराय ने भी उनसे भेंट की थी तथा उन्हें सम्मानित किया था। यदि श्यामजी के वर्तमान आचरण के लिए आर्यसमाज को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है, तो मैं यह पूछना चाहूँगा कि उस देशी रियासत के राजा और वहाँ के रेजीडेण्ट को सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र का अपराधी घोषित क्यों नहीं किया जाता, जहाँ कि किसी समय श्यामजी ने दीवान के पद पर कार्य किया था?[1] हमारा पक्का विश्वास है कि यदि उक्त महानुभावों के विरुद्ध कोई अभियोग बनाया जाता है, और मि० ग्रे को अभियोजन-पक्ष का वकील बनाया जाता है तो इन दोनों के विरुद्ध प्रमाण और गवाहियाँ जुटाने में भी उन्हें कोई दिक्कत नहीं आयगी और यदि इन्हें निर्दोष पाकर मुक्त भी कर दिया जाता है तो उसका कारण वकील की दलीलों

१. श्यामजी कृष्ण वर्मा रतलाम, उदयपुर तथा जूनागढ़ में उच्च पदों पर रहे थे।—सम्पादक

की कमजोरी नहीं होगी, बल्कि इसका कारण यही होगा कि अदालत मि० ग्रे द्वारा प्रस्तुत युक्तियों और प्रमाणों को स्वीकार कर फौजदारी दण्ड संहिता की कोई मनमानी व्याख्या करने के लिए तैयार नहीं होगी। बात यह है कि जन-साधारण किसी बात का निर्णय करने के लिए जिस तर्क-सरणि को अपनाता है, पटियाला अभियोग का प्रतिभाशाली वकील उसे ही अपनी विचित्र सूझ-बूझ से पेश करता है। अतः यह आवश्यक है कि श्यामजी के आर्यसमाज के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से वर्णित किया जाय ताकि हमारे पाठकों को पता लगे कि यह क्रान्ति-कारी जिस समय आर्यसमाज का सदस्य था, उस समय भी इस संस्था में उसका विशेष प्रभाव नहीं बन पाया और अराजकता की ओर कदम बढ़ाने के पहले भी उसका सार्वजनिक आचरण आर्यसमाज में आलोचना की वस्तु बन चुका था।

इस प्रसंग को भली प्रकार जानने के लिए हम पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे स्वामी दयानन्द के उस स्वीकारपत्र[1] को पढ़ें जो उन्होंने उदयपुर की सर्वोच्च महद्राजसभा में पंजीकृत कराया था। इससे उन्हें विदित होगा कि श्यामजी कृष्ण वर्मा को परोपकारिणी सभा का एक साधारण सदस्य ही बनाया गया था और उनका नाम इस सभा की सदस्य-सूची में सबसे नीचे अंकित था। साथ यह भी ध्यान रखना होगा कि परोपकारिणी सभा का अपना विधान है। इसमें श्यामजी जसे व्यक्ति का क्या स्थान हो सकता है, जो खुद तो क्रान्तिकारी और अराजक-वादी बनते हैं जबकि उक्त सभा एक व्यापक प्रजातांत्रिक आधार पर गठित की गई है तथा जिसके अधिकारीवर्ग में ईडर के महाराजा मेजर जनरल सर प्रताप-सिंह तथा शाहपुरा-नरेश सर नाहरसिंह जैसे महानुभाव हैं।

सम्भवतः १८९० में पं० श्यामजी को वैदिक यंत्रालय का अधीक्षक नियुक्त किया गया था। उस वर्ष की समाप्ति तक स्व० रायबहादुर पं० सुन्दरलाल तथा कुछ अन्य सज्जन वैदिक यंत्रालय की देखभाल करते थे। यह मुद्रणालय स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित किया गया था और इसका स्वामित्व परोप-कारिणी सभा को आज भी प्राप्त है। श्यामजी ने प्रेस के अधीक्षक के रूप में किस प्रकार का आचरण किया, उन्हें इस पद से क्यों हटाया गया तथा आर्य-समाज में उनकी क्या स्थिति बनी, इस सबको जानने के लिए परोपकारिणी सभा के तत्कालीन उपप्रधान रायबहादुर मूलराज, वैदिक यंत्रालय के अधिष्ठाता श्यामजी तथा यंत्रालय के प्रबन्धक रैमलदास के बीच हुए पत्रव्यवहार तथा तत्-सम्बन्धी उन प्रस्तावों को देखना उचित होगा जो देश की विभिन्न आर्यसमाजों ने पारित किए थे। इस विवाद का सारांश इस प्रकार है—किसी कारणवश

---

१. स्वीकारपत्र का प्रकाशन परोपकारिणी सभा द्वारा अनेक बार हुआ है।

श्यामजी और यंत्रालय के प्रबन्धक रैमलदास के बीच पर्याप्त कटुता उत्पन्न हो गई। बात यह थी कि अनेक देशी राज्यों में दीवान जैसे उच्च पद पर कार्य कर चुकने के कारण श्यामजी के व्यवहार में रुखापन, मिजाज में तेजी तथा अधिकार-गौरव का भाव आ गया था। उधर भक्त रैमलदास भी आर्यसमाज के सम्मानित व्यक्ति थे। वे डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर की सेवा छोड़कर आर्यसमाजों के अनुरोध पर ही यंत्रालय के प्रबन्धक-पद पर आए थे। जब श्यामजी का रैमलदास के प्रति व्यवहार कटुता की चरम सीमा पर पहुँच गया तो परोपकारिणी सभा के उपप्रधान राय मूलराज ने हस्तक्षेप किया और श्यामजी को पत्र लिखकर स्पष्ट किया कि उन्हें न तो यंत्रालय के प्रबन्धक की सेवाओं को समाप्त करने का ही अधिकार है और न ही उनके लिए उचित था कि ऐसा करने के लिए वे पुलिस की सहायता लेते। बात ठीक ही थी। श्यामजी के असहिष्णुतापूर्ण तथा मनमाने व्यवहार से क्षुब्ध होकर अनेक आर्यसमाजों[1] ने उनके विरोध में प्रस्ताव पास किये। अन्ततः १८९१ के सितम्बर मास में परोपकारिणी सभा का एक नैमित्तिक अधिवेशन इस समस्या पर विचार करने के लिए बुलाया गया। इस अधिवेशन के निर्णय के अनुसार श्यामजी को वैदिक यन्त्रालय के अधिष्ठाता के पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

आर्य-पत्रिका लाहौर के एक सितम्बर १८९१ के अंक में निम्न समाचार छपा—"हिज हाइनेस महाराजा प्रतापसिंह, जोधपुर ने वैदिक यंत्रालय के प्रति की गई श्यामजी कृष्ण वर्मा की कार्यवाही से अपनी असहमति प्रकट की है।" इस सारे आन्दोलन का क्या परिणाम निकला? उक्त पत्रिका के १५ सितम्बर १८९१ के अंक में लिखा है—"पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा भक्त रैमलदास के त्यागपत्रों से वैदिक यंत्रालय को लेकर उत्पन्न विवाद शांत हो गया है। अब यंत्रालय का सीधा नियंत्रण परोपकारिणी सभा के अधीन आ गया है और यह सभा ही उसकी उचित व्यवस्था करेगी।" इसके पश्चात् श्यामजी का आर्यसमाज से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वह परोपकारिणी सभा के सदस्य तो रहे, किन्तु विदेश चले जाने के बाद इस सभा से भी उनका सम्बन्ध नाममात्र ही रह गया। वे न तो इस सभा के कार्यों में ही भाग ले सके और न इसके अधिकारियों से ही उनका कोई सम्पर्क

---

१. ये आर्यसमाजें थीं—गुजराँवाला, एबटाबाद, शिकारपुर, पेशावर, डेरा गुज्जरखाँ, डेरा गाजी खाँ, मेरठ, करनाल, वजीराबाद, रावलपिण्डी, मुलतान, अमृतसर, देहली, गुजरात, जेहलम, लुधियाना, शाहपुर, कालका, दीनानगर, चिनियोट, क्वेटा, जलालपुर, सीबी, बन्नू, अजमेर, सोजत, बाँदीकुई, अलीगढ़, मथुरा, मुरादाबाद, भिवानी, पानीपत, कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, कराची, हिसार, एडवर्डबाद आदि।

रहा। जब उन्होंने हर्बर्ट स्पेन्सर की स्मृति में छात्रवृत्ति की स्थापना की, तो आर्यसमाजी पत्रों ने उसकी आलोचना की तथा राजनीति में जाकर वे जब अपने अतिवादी विचार प्रकट करने लगे, तो आर्य-पत्रिका और सद्धर्म-प्रचारक ने उनकी खुलकर निंदा की। "प्रचारक" ने लिखा—"श्यामजी कृष्ण वर्मा ने अपने शरारतपूर्ण लेखों तथा प्रलोभनयुक्त किन्तु कपटपूर्ण छात्रवृत्तियों से दर्जनों आत्माओं को नष्ट किया है।"

पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा मई १९०९ में लिखे गये पत्र की आलोचना आर्य-गजट तथा सद्धर्मप्रचारक दोनों ने की। डी०ए०वी० कॉलेज लाहौर के अवैतनिक प्राचार्य लाला हंसराज ने 'आर्य गजट' लाहौर के १२ आषाढ़ १९६५ वि० के पत्र में लिखा—"पेरिस निवासी श्यामजी कृष्ण वर्मा ने एक लेख अपने पत्र इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट में प्रकाशित किया है, जिसे वहाँ से लेकर लाहौर के 'वंदेमातरम्' पत्र ने उद्धृत किया है। यह लेख मि० नेविन्सन के एक लेख के प्रत्युत्तर में लिखा गया है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया था कि आर्यसमाज का राजनैतिक मामलों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस लेख में मि० वर्मा लिखते हैं कि आर्यसमाज के संस्थापक से उनके बहुत ही मधुर सम्बन्ध थे तथा इस प्रसिद्ध संस्था के उद्देश्यों और लक्ष्यों को जानने का उन्हें विशिष्ट अवसर प्राप्त हुआ था। इसी आधार पर वे विश्वास के साथ कह सकते हैं कि मि० नेविन्सन की उपर्युक्त धारणा गलत है।

अपने इस वक्तव्य के समर्थन में कि आर्यसमाज के संस्थापक से उनका प्रेमपूर्ण सम्बन्ध रहा है, वे कहते हैं उन्होंने स्वामी दयानन्द की स्मृति में एक छात्रवृत्ति की स्थापना की है। पं० वर्मा द्वारा आर्यसमाज के विरुद्ध लगाया गया यह आक्षेप कोई नया नहीं है कि यह संस्था राजनैतिक है। आर्यसमाज के सभी शत्रुओं ने बदला लेने की दृष्टि से उसपर यह आरोप लगाया है, चाहे वे सनातनी, मुसलमान या ईसाई ही क्यों न हों। यहाँ तक कि पुलिस का एक मातहत कर्मचारी भी, जिसका वेतन मात्र १० रुपये मासिक है, अपने धर्म के शत्रुओं को हानि पहुँचाने की दृष्टि से उनके खिलाफ झूठी डायरी भरता है, क्योंकि वह जानता है कि आर्यसमाज को धार्मिक वाद-विवाद में परास्त करना कठिन है। गत वर्ष जब पंजाब में आर्यसमाज के खिलाफ निन्दा का तूफान उठ खड़ा हुआ था, तो 'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' तथा इस्लामिक प्रेस ने आर्यसमाज पर ऐसे ही आरोप लगाये थे। यह तूफान तभी खत्म हुआ, जब महाशय मुन्शीराम तथा लाला गोकुलचन्द ने इन्हें पूर्णतया कुचल डालनेवाले निर्णायक उत्तर प्रकाशित कराये। अब इसमें आश्चर्य ही क्या कि पं० श्यामजी भी दुश्मनों की उसी पंक्ति में शरीक होकर आर्यसमाज को बुरा-भला कह रहे हैं! आश्चर्य तो यही है कि आर्यसमाज के खिलाफ इस निंदापूर्ण अभियान में वह पिछले साल ही शरीक क्यों

नहीं हो गये ? आर्यसमाज के अनेक सभासद् पं० श्यामजी के विगत कारनामों से परिचित नहीं हैं। इसलिए हमने यही उचित समझा है कि उनके बारे में कुछ तथ्य आर्य जनता के सामने रक्खें, जिससे उन्हें यह पता लगे कि पं० श्यामजी आर्य-समाज के कितने शुभचिन्तक हैं!

पं० श्यामजी को एक योग्य और होनहार युवक समझकर स्वामी दयानन्द ने एक सेठ (छवीलदास लल्लूभाई) की सहायता से इंग्लैण्ड भेजा। उनकी इच्छा थी कि वे साधनसम्पन्न होकर उन्हें वैदिक प्रचार में सहायता करें। अपनी शिक्षा समाप्त करने पर श्यामजी ने स्वामीजी की उनके उद्देश्यों के प्रचार में किंचित्-मात्र भी सहायता नहीं की। देशी रजवाड़ों में नौकरी कर श्यामजी ने लाखों रुपये कमाये किन्तु उन्होंने आर्यसमाज द्वारा चलाई जानेवाली संस्थाओं को कभी एक पैसे की भी सहायता नहीं दी जबकि इन संस्थाओं पर आर्यसमाज को उचित गर्व है तथा जिनकी सफलता के लिए वह अत्यधिक प्रयत्नशील है। आर्यसमाज ने डी०ए० वी० कॉलेज की स्थापना की है, अनाथालय स्थापित किया है तथा वैदिक यंत्रालय के माध्यम से स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों का व्यापक प्रचार कर लाखों लोगों को लाभान्वित कर रहा है। क्या पंडित वर्मा यह कह सकते हैं कि उन्होंने अपनी आमदनी का हिस्सा इनमें से किसी एक भी उद्देश्य के लिए अर्पित किया है? उन्होंने आर्यसमाज में दिलचस्पी केवल उसी समय दिखाई जब उन्होंने पुलिस की सहायता से आर्यसमाज अजमेर के सभासदों और वैदिक यंत्रालय के प्रबन्धक भक्त रैमल को यंत्रालय से बाहर निकलवाकर उसपर अधिकार प्राप्त कर लिया। यंत्रालय पर किये गये उनके इस अवैध अधिकार को देखकर समस्त आर्यावर्त की आर्यसमाजों ने उनके खिलाफ प्रस्ताव पास किये। परोपकारिणी सभा के सदस्य तथा अन्य आर्य सज्जन एक समूह बनाकर अजमेर गये और जब इन लोगों ने पं० वर्मा पर अत्यधिक दबाव डाला, तभी उन्होंने प्रेस पर अधिकार छोड़ा। उन्होंने पोस्टमास्टर को पत्र लिखकर निर्देश दिया कि भक्त रैमल को मनिआर्डर आदि का भुगतान किया जाता रहे, किन्तु चालाकी के साथ इस पत्र में यह भी लिख दिया कि 'अगली सूचना तक ही' उन्हें मनिआर्डर आदि दिये जावें। परोपकारिणी सभा के उपप्रधान को उक्त पत्र से इन शब्दों को निकल-वाना पड़ा। हमारी जानकारी में तो पं० वर्मा ने आर्यसमाज की केवल यही एक सेवा की है। यदि इससे कुछ अधिक उन्होंने आर्यसमाज के लिए किया है, और आर्य सज्जन इस बारे में जानते हैं, तो वे हमें इसकी सूचना दें। हम उसे सार्वजनिक रूप से प्रकाशित करेंगे।

पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा ने किसी आर्यसमाज को कभी चंदा नहीं दिया और न वे कभी समाज के अधिवेशनों में ही उपस्थित हुए। हाँ, इतना जरूर है कि वे आर्यसमाज के उद्देश्यों के बारे में सदा डींग मारते रहते हैं। ऐसा करने से उन्हें

कोई रोक भी नहीं सकता। उनका यह दावा है कि स्वामी दयानन्द की स्मृति में छात्रवृत्ति स्थापित कर उन्होंने अपने गुरु के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। अच्छा होता, यदि वे यह छात्रवृत्ति हर्बर्ट स्पेन्सर की स्मृति में ही स्थापित करते। किन्तु ये छात्रवृत्तियाँ अब तक दी किसे गई हैं? एक बार हमने पत्रों में पढ़ा कि इस छात्रवृत्ति के लिए मि० अब्दुल अजीज का चयन किया गया है। क्या यह स्वामी दयानन्द का अपमान करना नहीं है कि उनकी स्मृति में दी जानेवाली छात्रवृत्ति एक ऐसे व्यक्ति को दी जाये, जो वेद और वैदिक धर्म का तिरस्कार करता हो? क्या आर्यों में उन्हें कोई व्यक्ति नहीं मिला जिससे कि उन्हें इस कार्य के लिए मुसलमानों की सहायता लेनी पड़ी? पं० श्यामजी को इस बात का गर्व है कि स्वामी दयानन्द ने उन्हें परोपकारिणी सभा का सदस्य मनोनीत किया था। किन्तु स्वामी जी ने यह कभी नहीं सोचा था कि ऐसे लोग भी होंगे, जो आर्य-समाज से लाभ प्राप्त करेंगे किन्तु अपनी बारी आने पर उसे लाभान्वित हरगिज नहीं करेंगे। स्वामी दयानन्द को पं० भीमसेन जैसे व्यक्ति को अपना सहायक नियुक्त करने में भी गलत सलाह दी गई थी। इसी प्रकार क्या उन्हें पं० वर्मा को भी परोपकारिणी सभा का सदस्य नियुक्त करने में गलतफहमी में नहीं रक्खा गया? ऋषि की आत्मा तो पवित्र तथा निष्कलुष थी। वे इस युग के लोगों की दोहरी नीतियों को पूरी तरह नहीं समझते थे। कइयों ने उन्हें धोखा दिया और दूसरे कई उनका अनिष्ट करते रहे।

अन्त में हम 'आर्यपत्रिका' के पाठकों को सूचित करना चाहते हैं कि पं० श्यामजी के स्वयं के ही कथन के अनुसार जब नाटू भाइयों को देश से निष्कासित किया गया तो श्यामजी ने भारत छोड़ दिया और जब लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देशनिकाला दिया गया, तो वे लन्दन छोड़कर पेरिस चले गये, वे वहाँ आनन्द मनाते रहे। किन्तु वे आर्यसमाज के धार्मिक और सामा-जिक कार्यों में क्यों बाधा उपस्थित करते हैं? क्या यहाँ भारत में ही हमारे शत्रुओं की संख्या पर्याप्त नहीं है कि वे पेरिस में बैठकर हमपर प्रहार करें?"

मि० ग्रे शायद सोचते हैं कि प्रिंसिपल हंसराज द्वारा की गई श्यामजी की यह आलोचना काफी नहीं है। हमें आश्चर्य है कि मि० ग्रे की शब्दावली में "सख्त" और "निंदात्मक" कहीं पर्याय तो नहीं हैं? हमने मि० ग्रे की इस आपत्ति को इस अध्याय में निराधार साबित कर दिया है कि मि० श्यामजी कृष्ण वर्मा का आर्यसमाज से कोई सम्बन्ध है, और इसी प्रकार की उनकी अन्य आपत्तियों का भी उत्तर हम दे चुके हैं।

अध्याय—६

अंग्रेजी पत्र 'दि टाइम्स' और आर्यसमाज

आर्यसमाज के शत्रुओं को इस वैदिक धर्मप्रचारक आन्दोलन को गलत रूप में पेश करने के लिए लंदन-टाइम्स के एक विशेष संवाददाता के रूप में एक प्रबल सहायक मिल गया है। इस पत्र के मालिक ने इस संवाददाता को खास निर्देश देकर इसीलिए भारत भेजा, ताकि वह आर्यसमाज के बारे में सही सूत्रों से सही जानकारी हरगिज प्राप्त न करें जिससे कि ब्रिटिश प्रजा को इसके बारे में पूरे तौर पर गलतफहमी में रक्खा जा सके। पत्र की यह दुरभिसंधि उस समय सफल हुई, जब कि वह संवाददाता कुछ पूर्व-निर्धारित धारणाओं और पूर्वाग्रहों को लेकर ही अपने घर से भारत के लिए चला। उसे इंग्लैण्ड में ही बसे कुछ भूतपूर्व वायसरायों और भूतपूर्व नौकरशाहों ने आर्यसमाज के बारे में गुमराह कर दिया था। उसे कुछ ऐसे खतरे की सूचना देनेवाले पट्ठों के बारे में पहले ही बता दिया गया था, जिन्हें किसी सामान्य आदमी ने तो आजतक देखा ही नहीं था। सचाई का पता लगाना तो इसका मकसद था ही नहीं। उसे तो केवल इसीलिए भेजा गया था कि थण्डरर (Thunderer) नामक पत्रिका के द्वारा आर्यसमाज के बारे में ब्रिटिश प्रजा को जो कुछ गलत सूचनाएँ दी जा रही हैं, उन्हें येन-केन-प्रकारेण पुष्ट किया जाए। अपने इस कार्य में उसे आश्चर्यजनक सफलता भी मिली, क्योंकि एक चालाक लेखक होने के कारण उसकी मान्यता थी कि लेखक का तो प्रयोजन ही वास्तविकता को छिपाना होता है। वह भलीभाँति जानता है कि अपने अज्ञान को छिपाने के लिए स्वयं की सर्वज्ञता तथा उच्चतर बुद्धि का कैसे ढोल पीटा जाता है। इसी प्रकार के बौद्धिक साजोसामान को लेकर इस संवाददाता ने आर्यसमाज के उस संस्थापक के बारे में लिखना आरम्भ किया, जिसने कि आर्यावर्त के निवासियों को कुरीतियों और व्यर्थ की रूढ़ियों से मुक्त कराने का अभियान चलाया था। शताब्दियों से प्रचलित व्यर्थ के आडम्बरों और क्रियाकाण्डों से लोगों को मुक्ति दिलाकर स्वतन्त्र चिन्तन के द्वारा स्वकर्त्तव्य निर्धारित करने की प्रेरणा भी आर्यसमाज के संस्थापक ने ही दी थी। 'टाइम्स' के इसी संवाददाता मिस्टर शिरोल[1] को जब यह पता लगा कि आर्यसमाज के प्रति

१. पूरा नाम वेलेण्टाइन शिरोल (Valentine Chirol)

उस वर्ग की विशेष वक्रदृष्टि है, जिसके स्वार्थों की रक्षा करने के लिए उसे खास तौर से कहा गया है, तो उसने उसी वर्ग के हित की दृष्टि से आर्यसमाज का चित्रण एक विशेष ढंग से करना आरम्भ किया।

शिरोल ने 'टाइम्स' को भेजे अपने पत्र-संख्या १३ में लिखा—"ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध किये जानेवाली षड्यंत्रपूर्ण कार्यवाहियों के ये सहयोगी (गौण) कारण ही थे। पंजाब में कुछ ऐसे निहित प्रभाव कार्य कर रहे थे, जिनकी समानता दक्षिण और बंगाल में व्याप्त असन्तोष से की जा सकती है। किन्तु विद्रोह उत्पन्न करनेवाले ये प्रभाव अपने मूल स्रोत तथा अभिव्यक्ति में भिन्न थे। पंजाब में जो अशान्ति थी, और उसके जो मूल कारण थे, वे केवल ब्रिटिश प्रशासन के विरुद्ध ही नहीं थे, किन्तु सिद्धान्ततः वे पश्चिम के प्रभाव के भी विरुद्ध थे; हालाँकि यह असन्तोष किसी अर्थ में पश्चिम के प्रभाव से ही उत्पन्न हुआ था। पंजाब में व्याप्त यह असन्तोष दक्षिण के कट्टर ब्राह्मणवाद से भिन्न था; यह बंगाल की अविवेकपूर्ण भावुकता से भी भिन्न था। दक्षिण में उत्पन्न अशान्ति की तुलना में यह कम रूढ़िवादी किन्तु अधिक प्रतिक्रियापूर्ण तथा बंगाल में व्याप्त अशान्ति की तुलना में अधिक अनुशासनबद्ध था।"

शिरोल का यह संकेत स्पष्ट रूप से आर्यसमाज के लिए ही है। आगे स्वामी दयानन्द के बारे में उसने लिखा—"पश्चिम के विरुद्ध प्रतिक्रिया पैदा करनेवालों में जो सर्वप्रथम था उस (दयानन्द) को पंजाब के हिन्दुओं में ही अधिसंख्यक और सर्वाधिक उत्साही अनुयायी मिले थे।"

इसलिए हम कह सकते हैं कि लेखक (शिरोल) के विचार में ब्रिटिश प्रशासन के विरोध मे विद्रोह करना ही राजद्रोह नहीं है, अपितु जैसा कि वह कहता है, पश्चिमी प्रभाव का विरोध करना भी राजद्रोह से कम नहीं है। हम यह नहीं समझ सके कि लेखक "पश्चिमी प्रभाव" का ठीक क्या अर्थ लेता है? यदि विज्ञान के विस्तार और ज्ञान के प्रसार को पश्चिमी प्रभाव के अन्तर्गत लिया जा सकता है, तब तो स्वामी दयानन्द पश्चिमी विद्याओं के सबसे बड़े साथी और समर्थक थे, क्योंकि अपने विख्यात ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में वे इस युग को प्रकाश और ज्ञान का युग कहते हैं। मुसलमानों के जिहाद-विषयक मत की आलोचना करते हुए दयानन्द लिखते हैं—"मुसलमानों को आज के प्रकाश के युग में इस प्रकार की विनाशकारी शिक्षा की बुराई को समझना चाहिए…।"

किन्तु यदि पश्चिम के प्रभाव का अर्थ वित्तप्रधान सभ्यता से लिया जाता है, जहाँ बुद्धि और चरित्र को निम्न स्थान दिया जाता है और यांत्रिक सुविधाओं को ही महत्त्व मिलता है, तब तो दयानन्द भी उसके तीव्र विरोधी हैं। क्योंकि वे तो एक ऐसे विश्व-उद्धारक हैं जो संसार को उस पवित्र आध्यात्मिक वैदिक सभ्यता का पाठ सिखाने आये थे, जिसमें धन की अपेक्षा बुद्धि और चरित्र को

महत्त्व दिया जाता है। यहाँ आर्थिक शक्तियों पर न्यायसंगत सन्तुलन रक्खा जाता है तथा धन के न्यायोचित वितरण को ही मान्यता दी जाती है। दयानन्द का प्रयोजन तो प्राचीन आदर्शों को पुनरुज्जीवित करना था, अतः उन्हें प्रतिक्रिया का दूत कहना अनुचित है। प्रतिक्रिया तो क्रिया के अनन्तर ही होती है और जब दयानन्द भारत के मंच पर अवतरित हुए थे, उस समय तक तो इस देश का पश्चिमीकरण हुआ भी नहीं था। उन्होंने प्रारम्भ के इस अवांछनीय पश्चिमीकरण को रोका तथा उसके विकास पर प्रतिबंध लगा दिया। वे जानते थे कि इस भौतिकवादी सभ्यता ने पश्चिमी देशों का विनाश कर दिया है, जहाँ गरीब लोग धनियों के पाँवों-तले रौंदे जा रहे हैं और दरिद्रवर्ग को सम्पन्न लोगों द्वारा बंधक बनाकर रक्खा जाता है, जिसके परिणामस्वरूप अराजकतावाद तथा अतिवादी समाजवाद का जन्म हो रहा है।

जब मि० शिरोल स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं में पश्चिम के प्रभाव की तलाश करते हैं, तो वे यह भूल जाते हैं कि यह महापुरुष अंग्रेजी का एक शब्द भी नहीं जानता था। मिस्टर शिरोल अनेक भ्रमों के शिकार हुए हैं। इनमें सबसे खतरनाक बात तो यह है कि वे प्रत्येक बात पर अपनी निर्णायक राय दे देते हैं। उन्हें संस्कृत साहित्य में चित्रित कालजयी संस्कृति पर भी अपनी राय देने में कोई संकोच नहीं होता। यदि उन्हें मंगल ग्रह पर रहनेवाले लोगों के कद तथा उनके बौद्धिक ज्ञान के विषय में पूछा जाय, तो वे उतने ही आत्म-विश्वास के साथ वहाँ के लोगों का एक काल्पनिक विवरण उपस्थित कर देंगे। उस समय उनके चेहरे पर विश्वास और प्रामाणिकता का ऐसा भाव छाया रहेगा, मानो वे स्वयं ही उस ग्रह पर हो आये हैं तथा वहाँ के निवासियों से उन्होंने दोस्ती गाँठ रक्खी है। ऐसा भाव प्रकट करते हुए, मानो वे इस विषय को समग्रता के साथ जानते हैं। मि० शिरोल कहते हैं---"दयानन्द ने जिन सिद्धान्तों का उपदेश दिया, वे उसके ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में निबद्ध हैं, जो उसके शिष्यों में बाइबिल की भाँति मान्य है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का भी, जो कि वेदों का भाष्य है, उसके सिद्धान्तों का आधारभूत ग्रन्थ है। अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में ही हिन्दू देवमाला से उसका (दयानन्द का) विश्वास उठ गया और इस अर्थ में वह एक सच्चा धर्मसुधारक भी था, यद्यपि उसने वेदान्त का भी स्वल्प अध्ययन किया था, किन्तु उसका वास्तविक ध्येय तो वेदों की ओर लौटना ही था।"

अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वैदिक विद्वान् के वेदान्तवादी विचारों का अध्ययन करने का दावा करनेवाले मिस्टर शिरोल को यह बताना तो व्यर्थ ही है कि ऋग्-वेदादिभाष्यभूमिका वेदों का भाष्य नहीं है, किन्तु यह तो वेदभाष्य की भूमिका ही है। "भाष्य" और "भूमिका" का अन्तर जानना उनके लिए उतना ही कठिन है जितना किसी देहाती पंजाबी या अफगान सिपाही का प्रामाणिक और

अप्रामाणिक इंजीलों (Gospels) का अन्तर जानना।

मिस्टर शिरोल के इस दावे को मान लेना कि वे दयानन्द के वेदान्तवादी अध्ययन को समझ पाये हैं, उन्हें प्रशंसापत्र देने के तुल्य ही होगा जिसके कि वे अधिकारी नहीं हैं, किन्तु हम "टाइम्स" के पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात 'पालमाल गजट' में प्रकाशित प्रो० मैक्समूलर के एक प्रशस्तिमूलक लेख को पढ़ें। यदि मिस्टर शिरोल को इस पत्र की पुरानी फाइलें मिल जावें, तो वे देखेंगे कि प्रो० मैक्समूलर ने स्वामी दयानन्द को अपने देश के धार्मिक साहित्य का गम्भीर अध्येता बताते हुए कहा है कि बनारस तथा अन्यत्र विद्वान् पण्डितों से हुए शास्त्रार्थों में वे सदा ही विजयी रहे थे। यदि इस लेख को पढ़ने के बाद भी मिस्टर शिरोल के मिथ्या दम्भ का कोई उपचार नहीं होता, तो हम यही मानेंगे कि यह मर्ज लाइलाज है और रोगी की दशा शोचनीय है।

पुनः मिस्टर शिरोल कहते हैं—"दयानन्द की नैतिक शिक्षाएँ अस्पष्ट हैं। उन्होंने प्रचलित विश्वासों का समर्थन भी किया है। वेदों में पशु-हत्या तथा गोमांस-भक्षण का भी कोई निषेध नहीं है। किन्तु दयानन्द ने एक सर्वाधिक प्रचलित हिन्दू विश्वास का सम्मान करते हुए गोवध को महापाप माना है। गाय को पवित्र मानने के कारण ही हिन्दुओं की मुसलमानों और ईसाइयों के साथ चिर-शत्रुता रही है। दयानन्द की दृष्टि हिन्दुओं के सुधार की ओर इतनी अधिक नहीं है जितनी विदेशी प्रभाव के उन्मूलन की ओर है, क्योंकि उनकी सम्मति में यह विदेशी प्रभाव ही राष्ट्रीय भावना का घातक है।"

मि० शिरोल ने दयानन्द की शिक्षाओं पर जो आक्षेप किये हैं, उनकी पुष्टि में वह कोई प्रमाण तो देते नहीं। सारा संसार यह जानता है कि दयानन्द उन सर्वोच्च नैतिक शिक्षाओं का मूर्त रूप था, जिनका उपदेश उसने संसार को दिया। वह आदित्य ब्रह्मचारी था। 'आदित्य ब्रह्मचारी' के बारे में कहा गया है कि वह अपनी इन्द्रियजन्य वासनाओं पर पुर्ण विजय प्राप्त कर लेता है। स्त्री-जाति के प्रति उसकी दृष्टि माता, पुत्री तथा भगिनी की रहती है। उसका अपनी इन्द्रियों पर असाधारण नियंत्रण होता है। वह भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी जैसे सभी द्वन्द्वों को जीत लेता है। वह स्वार्थ-साधन की प्रवृत्ति से सर्वथा दूर होता है। राज्य-सत्ता का प्रलोभन भी उसे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं कर सकता। दयानन्द ने प्रकृति के दारुण और भयानक परिवेश में भी दीर्घकाल तक साधना और तपस्या की थी। उन्होंने कश्मीर के महाराजा का निमंत्रण इसीलिए ठुकरा दिया, क्योंकि महाराजा ने स्वामी जी पर यह शर्त लगाई थी कि वे उनके राज्य में मूर्तिपूजा का खण्डन नहीं करेंगे। उन्होंने उदयपुर के महाराणा द्वारा प्रस्तावित एकलिंग महादेव के महन्त की गद्दी को भी अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उन्हें कहा गया था कि इस मठ की लाखों की आय के अधिकारी

तो वे अवश्य होंगे किन्तु इसके लिए उन्हें मूर्तिपूजा-विरोध पर मौन धारण करना होगा। उन्होंने एक अन्य राजा को स्पष्ट तौर पर कहा कि वेश्या के संसर्ग को स्वीकार कर वे एक कुत्ते के तुल्य घृणा के पात्र बन गये हैं।[१] उन्होंने हिन्दू कट्टरवाद के स्तम्भतुल्य महाराजा बनारस की अध्यक्षता में पौराणिक मत के गढ़ माने गये बनारस में विद्वान् पण्डितों को ललकारकर मूर्तिपूजा को वेदविरुद्ध घोषित किया। उन्होंने अंग्रेज कमिश्नर तथा डिप्टी कलैक्टर की उपस्थिति में ईसाई मत की मिथ्या मान्यताओं का खण्डन किया।[२] यही कार्य उन्होंने गिरजा-घर की वेदी पर खड़े होकर भी किया।[३] अपने मुसलमान मेजबान के घर में ही उन्होंने इस्लाम की आपत्तिजनक बातों का खण्डन किया।[४] प्रचलित हिन्दू धर्म के पाखण्डों से किसी भी स्थिति में समझौता करना उन्हें कभी स्वीकार नहीं हुआ। इसलिए एक सम्प्रदायानुयायी व्यक्ति ने उन्हें विष दे दिया, जो उनकी मृत्यु का कारण बना। खेद है कि ऐसे विश्ववन्द्य महापुरुष को लांछित करने का जिम्मा एक ऐसे आदमी ने लिया है, जो वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहन देता है तथा अपने लेखों के द्वारा पूर्वाग्रहयुक्त धारणाएँ प्रकट करने के लिए ही जो चन्द चाँदी के टुकड़े प्राप्त करता है। 'इण्डियन सोशल रिफॉर्मर' ने इस प्रसंग पर अत्यन्त सांगोपांग तथा सुन्दर ढंग से विचार प्रकट किये हैं, अतः हम यहाँ इस पत्र को ही विस्तार से उद्धृत करते हैं—

"मि० शिरोल के अनुसार वेदों में पशुहिंसा तथा गोमांस-भक्षण का निषेध नहीं है। सम्भव है यह अर्थ वेदों के प्रचलित अर्थों से लिया जाता हो। किन्तु स्वामी दयानन्द की धारणा है कि वेदमंत्रों से ऐसे अर्थ निकालना नितान्त अनुचित है। वेदों में सर्वत्र पशुहिंसा, जिसमें गोवध भी सम्मिलित है, का निषेध है। हमारे समक्ष स्वामी दयानन्द-लिखित 'गोकरुणानिधि' का अंग्रेजी रूपान्तर है।[५] इस पुस्तक में स्वामी जी ने गणित के आधार पर तथा युक्तियों की सहायता से सिद्ध किया है कि मांसाहार आर्थिक दृष्टि से हानिकर तथा स्वास्थ्य-विनाशक है। अपने मत की सिद्धि में उन्होंने निम्न शास्त्र का प्रमाण भी दिया है "इसलिए यजुर्वेद के प्रथम ही मंत्र में परमात्मा की आज्ञा है कि **"अघ्न्या ··· यजमानस्य**

---

१. यह संकेत जोधपुर-नरेश महाराजा जसवन्तसिंह की ओर था।

२. यह प्रसंग बरेली का है।

३. यह प्रसंग बरेली में पादरी टी० जे० स्कॉट की उपस्थिति में दिये गये प्रवचन से सम्बद्ध है।

४. लाहौर-निवासकाल में डॉ० रहीम खाँ की कोठी का प्रसंग।

५. यह अनुवाद पं० दुर्गाप्रसाद ने किया था।

पशून पाहि" हे पुरुष, तू इन पशुओं को कभी मत मार, और यजमान अर्थात् सबके सुख देनेवाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे और इसीलिए ब्रह्मा से लेकर आज पर्यन्त आर्य लोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे।"

प्रश्न यह नहीं है कि स्वामी जी द्वारा किया वेद का अर्थ ठीक है या नहीं। भारतीय विद्वानों में उनका प्रमुख स्थान है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम उनके किये वेदार्थ को स्वीकार करने के लिए बाध्य ही हैं। प्रश्न तो यह है, जैसा कि मि० शिरोल ने आक्षेप किया है कि स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं को मुसलमानों और ईसाइयों के विरोध में खड़ा करने के लिए वेदों को जीवन के लिए एकमात्र मार्गदर्शक मानने के अपने प्रमुख सिद्धान्त को तिलांजलि दी है। पशुवध-निषेध विषयक अपने मन्तव्य के समर्थन में वे अपने वैदिक विश्वास के प्रति अविचलित रहे हैं। 'गोकरुणानिधि' की समाप्ति उन्होंने शासकों को निम्न अपील करते हुए की है—"सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर··· हम और आप लोग, विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़ सर्वोपकारक कर्मों को करके सब लोग आनन्द में रहें।"

हम मि० शिरोल के इस आक्षेप पर विश्वास नहीं कर सकते, जिसमें कहा गया है कि आर्यसमाज का संस्थापक एक संकीर्ण राष्ट्रवादी था जिसका उद्देश्य विदेशी प्रभाव का विरोध करना था। हमारी तो धारणा है कि आर्यसमाज एक सार्वभौम धर्म है, जिसका एक मन्तव्य सम्पूर्ण प्राणी-सृष्टि के लिए प्रेम के भाव का प्रसार करना है। इसलिए हम 'इण्डियन सोशल रिफॉर्मर' में प्रकाशित एक सर्वथा निष्पक्ष तथा तटस्थ व्यक्ति के आर्यसमाज-विषयक विचारों को ही उद्धृत करेंगे, जो यद्यपि खुद आर्यसमाजी नहीं है, किन्तु जिसने शिरोल द्वारा आर्यसमाज के प्रति जान-बूझकर किये गये आक्षेपों को नितान्त अनुचित तथा घृणास्पद माना है। वह लिखता है—

"जब दिवंगत सुधारक के जीवन-प्रसंगों को जान-बूझकर गलत ढंग से पेश किया जाता है, तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम उनके समकालीन स्वतंत्र विचारकों की उनके व्यक्तित्व तथा कार्य के सम्बन्ध में धारणाओं को उल्लेखित करें। मि० वेलेंटाइन शिरोल का मानना है कि स्वामी दयानन्द एक घाघ किस्म के राजनीतिज्ञ थे, जिनका लक्ष्य ब्रिटिश शासन को नष्ट करना था। वह कहता है कि स्वामी दयानन्द की समस्त शिक्षाओं का ध्येय हिन्दू धर्म का सुधार करना नहीं था, अपितु वे विदेशी प्रभाव का सक्रिय प्रतिरोध करना चाहते थे। यह सर्वथा सत्य है कि सुधरा हुआ हिन्दू धर्म पश्चिमी तत्त्वों को बहुत कम ग्रहण

१. यजुर्वेद १। १

करेगा, बनिस्बत उस हिन्दू धर्म के, जो अभी तक सुधार से बहुत दूर है। किन्तु यह कहना दूर की कौड़ी लाना ही होगा कि वेदों के पवित्र तथा शक्तिशाली धर्म का समर्थन करने का दयानन्द का उद्देश्य आध्यात्मिक भावापन्न न होकर राजनैतिक ध्येय से युक्त था। यदि मि० शिरोल स्वामी दयानन्द के जीवन के थोड़े-से तथ्यों से भी परिचित होते, तो वे उनके कार्यों और प्रयोजनों को इस प्रकार गलत ढंग से पेश नहीं करते। धार्मिक अध्ययन में उनकी रुचि बाल्यकाल से ही थी। वे विवाह के बन्धन से बचने के लिए घर से भाग निकले तथा सत्य के जिज्ञासु के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमते रहे। यदि वे अपने पूर्वजों की सम्पत्ति के अधिकारी बनकर रहते, तो शायद उनका जीवन अधिक आमोद-प्रमोदपूर्ण तथा आराम का होता, किन्तु इसके विपरीत उन्होंने संन्यासी का ऐसा जीवन चुना, जो विपन्नता तथा पवित्रता से युक्त और सभ्यजगत् से अलक्षित-सा रहा। हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि स्वामी दयानन्द का एक विस्तृत एवं परिपूर्ण जीवनचरित श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय नामक सज्जन द्वारा लिखा जा रहा है। इन महानुभाव ने स्वामी जी के जीवन-विषयक तथ्यों और उपादानों का संग्रह करने के लिए देश का व्यापक भ्रमण किया है तथा अब तक के अप्राप्त स्रोतों से उन्होंने पर्याप्त सामग्री संचित की है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन अत्यन्त उपयुक्त समय पर होगा[1] और हमें विश्वास है कि इसके लिए उन्हें उपयुक्त सहायता और सहयोग भी मिलेगा। हम यहाँ स्वामी जी के जीवन की एक ऐसी घटना का उल्लेख कर रहे हैं जो सभी निष्पक्ष और स्पष्ट मानस के व्यक्तियों का विश्वास अर्जित करेगी। १८७९ के अन्त में स्वामी जी बनारस गये थे। वहाँ यह विज्ञापित किया गया कि इस दौरान वे एक व्याख्यान देंगे। उनकी इस घोषणा से सनातनी जगत् में उत्तेजना और हलचल मच गई। इन लोगों ने जिला मजिस्ट्रेट के पास अपनी शिकायत पेश की, जिसके कारण मि० वाल (जिला मजिस्ट्रेट) ने बनारस में स्वामी जी के व्याख्यान पर प्रतिबंध लगा दिया। मजिस्ट्रेट के इस आदेश का 'पायनियर' पत्र के द्वारा प्रबल प्रतिरोध किया गया, अतः उसे तुरन्त वापस ले लिया गया। हम यहाँ 'पायनियर' के ३० दिसम्बर १८७९ के अंक में व्यक्त की गई स्वामी दयानन्द-विषयक धारणा को उद्धृत करते हैं—

"वह अकाट्य तर्क और अग्निस्राविणी वाग्मिता के साथ, द्वितीय लूथर

---

१. यह ग्रन्थ हिन्दी में प्रथम बार पं० घासीराम द्वारा अनूदित होकर १९१२ ई० में मेरठ से प्रकाशित हुआ था, किन्तु स्वामी दयानन्द के वृहद् और प्रामाणिक जीवनचरित को देवेन्द्र बाबू स्वजीवन-काल में पूरा नहीं कर सके।
—सम्पादक

५. हम सदा संरक्षित गायों की पूजा करें। बैल भी हमारे द्वारा संरक्षित रहें। हम गायों के दूध के द्वारा पुष्टि प्राप्त करें।

यजुर्वेद के १३वें अध्याय में निम्न मंत्र आता है—

इमँ् साहस्रँ् शतधारमुत्संव्यच्यमानँ् सरिरस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिँ्सीः परमे व्योमन्॥
गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद।
गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥ १३।४९

इसका अर्थ इस प्रकार है—

हे दयालु राजन्, अगणित लाभ देनेवाले बैल की हत्या आपके द्वारा न हो, क्योंकि इसी से गोवंश की वृद्धि होती है। "अघ्न्या" कहलानेवाली गाय भी आपके द्वारा अहिंसनीय है, आदि।

यह ध्यातव्य है कि मूल मंत्र में गाय के लिए "अदिति" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'अहिंसनीय' तथा 'अखण्डनीय'। शतपथ-ब्राह्मण ३-७-२-२१ में गोमांस-भक्षण को पाप कहा है तथा यह माना गया है कि जो लोग संसार के आधारभूत गाय और बैल को मारते हैं वे संसार को नष्ट करने का पाप करते हैं। इसी ग्रन्थ में (३-२-१-१) गो को यज्ञ कहा है।

क्या अब मि० शिरोल यह कहेंगे कि प्लासी के युद्ध के विजेता क्लाइव के शताब्दियों पहले जन्मे आचार्य सायण ने इन वेदमंत्रों का गोवध-निषेधपरक अर्थ इसीलिए किया था, क्योंकि वह भी ब्रिटिश-विरोधी खयालों का ही था और उसे भारत में किसी दिन ब्रिटिश शासन की स्थापना का पूर्व-ज्ञान हो गया था? यदि वह ऐसा कहे भी, तो हमें कोई आश्चर्य नहीं होगा, क्योंकि आर्यधर्म और ब्राह्मणवाद के खिलाफ अपनी घृणा को व्यक्त करने में वह बेहूदगी तथा तर्क-हीनता की किसी भी सीमा तक जा सकता है।

आर्यसमाज के बारे में मि० शिरोल की गलतबयानी के प्रतिवाद में लिखे गये 'इण्डियन सोशल रिफॉर्मर' के इस उत्तम लेख के अंश को उद्धृत कर हम अपने इस विवेचन को समाप्त करते हैं—

"कुछ महीने पहले हमने डॉ० फ्रेजर की लिखी एक पुस्तक पढ़ी थी, जिसमें उन्होंने बताया था कि जिन्हें हम अंधविश्वास कहते हैं, उनके पीछे कोई-न-कोई उपयोगी उद्देश्य होता है। पौराणिक हिन्दुओं में गोवध के लिए जितना घृणा का भाव है, उन्हीं में नहीं, अपितु नवशिक्षित हिन्दू भी इसे जितना गर्हित समझते हैं, उसे देखते हुए हमें यह धारणा बनानी पड़ती है कि इस भावना के पीछे कोई-न-कोई व्यावहारिक और उपयोगी विचार अवश्य था। हिन्दुओं की भाँति पारसी भी गोवध को घृणास्पद मानते हैं। अनेक मुसलमान भी इसी भावना के वशवर्ती दिखाई पड़ते हैं। सम्राट् अकबर ने अनेक राजनैतिक और आर्थिक

कारणों से गोवध का प्रतिषेध किया था। हमारे अनेक पाठकों को स्मरण होगा कि चार वर्ष पूर्व जब अफगानिस्तान के अमीर ईद के अवसर पर दिल्ली आये थे और इस अवसर पर किये जानेवाले गोवध के प्रस्ताव पर उन्होंने अपने निषेधाधिकार का प्रयोग किया था। ऐसे अनेक अंग्रेज लोग भी हैं, जो भारत में औद्योगिक और आर्थिक दृष्टिकोण से गोवध-निषेध की वकालत करते हैं। सत्रह वर्ष पूर्व स्व० मि० फ्रैड्रिक पिन्कॉट ने 'दि इण्डियन मैगजीन' में भारत जैसे कृषिप्रधान देश में गोधन की न्यूनता से होनेवाली हानियों का उल्लेख किया था। इसी आधार पर २८ जनवरी १८९४ को बिहार प्लाण्टर्स ऐसोसियेशन ने, जिसमें नील की खेती करनेवाले गोरों के अलावा भारतीय जमींदार भी थे, लॉर्ड एल्गिन की सेवा में एक प्रार्थनापत्र भेजा, जिसमें इस देश में कृषिकर्म के लिए हानिकर सिद्ध होनेवाले गोवध को प्रतिबंधित करने की माँग की गई थी। गोवध के निषेध या विधान के पक्ष और विपक्ष में युक्तियाँ प्रस्तुत करने का यहाँ स्थान नहीं है। हम तो यही कहना चाहते हैं कि गोवध-विषयक स्वामी दयानन्द की भावना को मि० शिरोल ने जिस ढंग से चित्रित किया है, वह नितान्त दोषपूर्ण तथा तथ्यों के विपरीत है। सचमुच आम आदमी और सरकार के लिए भी वह दिन बड़ा बुरा होगा जब यह माना जाने लगेगा कि जो एक व्यक्ति, जो गोवध को बुरा मानता है, उसकी इस धारणा के पीछे निश्चय ही ब्रिटिश शासन के प्रति शत्रुता का ही भाव है।"

आर्यसमाज के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन की चर्चा करते हुए मि० शिरोल कहते हैं कि मांसाहार-समर्थक दल ने बालविवाह-निषेध, नारी-शिक्षाप्रसार तथा अछूतोद्धार के कार्य काफी तेजी से किये हैं। यह कहना आवश्यक ही है कि इस तथ्य को लिखने तथा अन्य बातों के उल्लेख करने में भी उनसे बहुत बड़ी गलतियाँ हुई हैं। जालंधर का आर्य कन्या महाविद्यालय तथा अन्य सभी गुरुकुल महात्मा-दल द्वारा ही चलाये जा रहे हैं। अछूतों को हिन्दू धर्म की मुख्य धारा में लाने का कार्य भी इसी दल ने किया है। मि० शिरोल को गलत सूचना देनेवाले ने इन्हें यह नहीं बताया कि समय के बीतने के साथ तथा कुछ नौकरशाहों की अदूरदर्शी नीति के कारण गुरुकुल-पार्टी और कॉलेज-पार्टी का अन्तर अब प्रायः समाप्त हो गया है। कॉलेज-दल में अवशिष्ट स्वच्छन्दतावादियों की संख्या नगण्य ही है। वे भी गुरुकुल-पार्टी के अनुयायियों की ही भाँति सिद्धान्तवादी हैं। उनके आदरास्पद तथा त्याग की प्रतिमा-तुल्य डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के प्रिंसिपल लाला हंसराज ने मांसाहार त्याग दिया है तथा इस दल के उपदेशक मांसभक्षण के विरोध में भाषण देते हैं। इस दल के लोग भी, दूसरे दल के अपने भाइयों के ही मार्ग का अनुसरण करते हुए व्यावहारिक समाज-सुधार का कार्यक्रम अपना चुके हैं।

के समान, उन दूषणों के विरुद्ध प्रचार करता था, जिन्होंने कालान्तर में, पूर्व-काल में उच्चपदस्थ धर्म को भारावनत और दूषित कर दिया है। वह, प्राचीन आर्यावर्त्त की क्षीण महिमा का चित्र खींच-खींचकर, नवयुवक भारतवासियों के हृदयों को आकर्षित करके, उनको अपने पूर्व-पुरुषाओं के योग्य बनने की प्रेरणा करता था। वह कोई विद्रोह फैलानेवाला राजनैतिक आन्दोलनकारी नहीं था, प्रत्युत वह इसके विरुद्ध था; वह अपने श्रोतृवृन्द को कहा करता था कि गवर्नमेंट उन सब बातों के वर्तमान होते हुए भी जोकि न्यायपूर्वक उसके विरुद्ध कही जा सकती हैं, भारतवर्ष की हिताकांक्षी है, क्योंकि उसने धार्मिक प्रश्नों के वादविवाद की स्वतन्त्रता दे रक्खी है और इस प्रकार मेरे तथा मेरे अनुयायियों के लिए वेद-वर्णित एक परमात्मा की उपासना करनी सम्भावित कर दी है। संक्षेपतः, इस महापुरुष के कार्य का झुकाव उचित ओर ही था और अधिकांश में वह उसके देश और देश-वासियों के लिए मंगलकारी प्रमाणित होने की सम्भावना रखता था। यह व्यक्ति आर्यसमाज का संस्थापक पण्डित दयानन्द सरस्वती स्वामी था।"

(देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय लिखित दयानन्दचरित से उद्धृत)

इस घटना के कुछ दिन पश्चात् 'पायनियर' को प्रेषित एक पत्र में एक संवाददाता ने स्पष्ट किया कि किस प्रकार स्वामी जी के भाषण पर प्रतिबंध लगाने के लिए मि० बाल को बहकावे में रक्खा गया था और ज्योंही उन्हें अपने द्वारा किये गये अन्याय का पता चला, उन्होंने अपने पूर्व-आदेश को निरस्त करते हुए स्वामी जी को संदेश भेजा कि वे यथेच्छ उपदेश करें। इस संवाददाता ने पायनियर-सम्पादक द्वारा लिखी गई स्वामी दयानन्द-विषयक उपर्युक्त टिप्पणी की ओर संकेत करते हुए उसे एक निष्पक्ष पत्रकार के आचरण के सर्वथा अनुकूल बताया। अब हम कहना चाहते हैं कि स्वामी दयानन्द के समकालीन पत्रकारों और मजिस्ट्रेटों की अपेक्षा क्या मि० शिरोल स्वामी जी के उद्देश्यों और लक्ष्यों को अधिक अच्छे प्रकार से समझते हैं?

यदि पत्रकारों को किसी ऐसे महापुरुष के जीवन और कार्यों को विकृत रूप में पेश करने की इजाजत दे दी जाय, जो अपने हजारों-लाखों अनुयायियों द्वारा एक गुरु और मार्गदर्शक के रूप में सम्मान पाता हो, तब तो पत्रकारिता का यह व्यवसाय ही पतन के गहरे गढ़े में समा जायगा। हम इस लेख में आर्यसमाज के उद्देश्यों और उसकी कार्यप्रणाली की चर्चा नहीं करेंगे। यदि मि० वेलेंटाइन शिरोल इनपर आक्षेप करते हैं, तो इसका उत्तर देना आर्यसमाज के अनुयायियों का ही काम है। किन्तु यदि किसी दिवंगत व्यक्ति के कार्यों की छानबीन इस ढंग से की जाती है, तब तो उसपर आपत्ति करना स्वाभाविक ही है, चाहे वह कितना ही साधारण भी क्यों न हो? किन्तु स्वामी दयानन्द तो सामान्य मानवों की श्रेणी में नहीं आते। उनमें तो क्रियाशीलता का एक ऐसा दिव्य अंश

था, जो हम जैसे सैकड़ों-हजारों के विस्मृति के गर्त में समा जाने पर भी लोगों को प्रेरणा देता रहेगा। क्या भारत के युवकों को सम्मानभाव, नैतिकता तथा धर्म की शिक्षा देने का यही तरीका है, जो मि० शिरोल ने अपना रक्खा है ?"

जिस व्यक्ति को थोड़ा भी शास्त्र-ज्ञान है, वह जानता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही वैदिक धर्मावलम्बियों को मांसाहार से घृणा तथा वितृष्णा रही है। हमारी परम्परा में गोवध महान् पाप माना गया है। जैसा कि हमारा सहयोगी पत्र लिखता है—गोवध का पाप मानने का भाव मनुष्य के मानसिक क्षितिज पर ईसाइयत और इस्लाम के आविर्भाव-काल से पहले ही विद्यमान रहा है।

ऋग्वेद के अष्टक ४, अध्याय ६, वर्ग २५ का देवता गाव: है। इस सूक्त के निम्न मन्त्र गोरक्षा के कर्त्तव्य का विधान करते हैं—

१. आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावती: पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहाना: ।।

२. न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुपयन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वन: ।।

३. गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गाव: सोमस्य प्रथमस्य भक्ष:।
इमा या गाव: स जनास इन्द्र इच्छामीद्वृदा मनसा चिदिन्द्रम् ।।

४. यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु।।

५. उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम्।
उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये ।।

हम यहाँ इन मंत्रों का सायण-भाष्य (भावार्थ) प्रस्तुत करते हैं—

१. हमारे घरों में गायें हों, जो हमें मधुर दूध प्रदान करे तथा हमारा कल्याण करे। हमारी गोशालायें गायों से रहित न रहें तथा गायों के बछड़े अच्छे और उपयोगी होवें।

२. इन्हें (गायों को) युद्धों में घोड़ों की भाँति प्रयुक्त न किया जावे क्योंकि ये वध के लिए नहीं हैं। यज्ञ में उपयोगी इन गायों को वहीं रक्खा जावे, जहाँ वे निर्भय होकर रहें।

३. गायें हमारा सर्वोच्च धन है। परमात्मा हमें सदा गौवें प्रदान करे। सोम-याग में सोम ओषधि को कूट-पीसकर इन गायों के दूध में मिलाया जाये, क्योंकि दूध और घृत ही यज्ञ में अपनी उपयोगिता के कारण संसार के लिए लाभकारी हैं।

४. हमारी गायें पुष्ट रहें। वे दुर्बल न बनें। हमारे घर गायों की उपस्थिति के कारण शोभायुक्त रहें। हमारे यज्ञों और हमारी सभाओं में गायों के दूध के द्वारा याजकों और अतिथियों का सत्कार किया जाता है।

मि० शिरोल को इस बात पर आश्चर्य होता है कि यद्यपि आर्यसमाज का समाज-सुधार का काम इस समय अत्यन्त उग्र है, तथापि कट्टरपंथी हिन्दुओं ने आर्यों से अपने सामाजिक सम्बन्ध पुन: स्थापित करने आरम्भ कर दिये हैं, जब कि कुछ समय पहले वे उनसे दूर हट चुके थे। वह इस बात पर भी आश्चर्य करता है कि अब पुराने विचारों के हिन्दू, आर्यों के प्रति सहनशीलता एवं सदाशयता का दृष्टिकोण रखने लगे हैं। पुराणपंथी हिन्दुओं के दृष्टिकोण में इस परिवर्तन को भी मि० शिरोल शंका की दृष्टि से देखते हैं तथा वे इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि विगत कुछ वर्षों में आर्यसमाज अथवा उसके महत्त्वपूर्ण सदस्यों के एक वर्ग द्वारा ब्रिटिश-विरोधी प्रवृत्तियों की जो अगुवाई की जा रही है, उसी के कारण अनुदार हिन्दू भी आर्यसमाज के प्रति सहानुभूति रखने लगे हैं। वह सीधी-सादी बात को भी स्वीकार नहीं करता, जो एक छोटा-सा बच्चा भी जानता है कि एक-चौथाई शताब्दी तक निरन्तर उत्पीड़न, निन्दा तथा हत्याओं को सहन करके आर्यसमाज ने हिन्दूधर्म के बहुलांश को इस प्रकार प्रभावित कर दिया है, जिसके कारण उसकी कट्टरपंथी संकीर्णता को मात्र शब्दाडम्बर और वाग्जाल में ही शरण लेनी पड़ रही है। वे सनातनधर्म सभाएँ जो किसी समय बालविवाह का समर्थन करती थीं तथा नारियों को अशिक्षित रखने की हामी थीं, आज आर्य गुरुकुलों के अनुकरण में ऋषिकुल और कन्या-पाठशालाएँ स्थापित कर रही हैं। आर्यसमाज के सामाजिक कार्यक्रमों से कट्टरपंथी हिन्दुओं ने उसी प्रकार तालमेल कायम कर लिया है, जैसे इंग्लैण्ड के कट्टरपंथी ईसाइयों ने, जिन्होंने एक समय थॉमस पेन और चार्ल्स ब्रेडला को प्रपीड़ित किया था, आज स्लाडिन जैसे धर्मनिरपेक्ष तथा तर्कवादी चिन्तक के लेखों के प्रति सहनशीलता का रुख अपना लिया है। इसी प्रकार वे कट्टरवादी मुसलमान, जो सर सैयद को 'काफिर' कहने से नहीं हिचकते थे, आज खुदाबख्श, सैयद अमीरअली तथा आगा खाँ जैसे उदारदलियों को सहन करने लगे हैं।

आर्यसमाज की कोई राजनैतिक कार्यप्रवृत्ति नहीं है। उसकी कार्यप्रणाली गैर-राजनीतिक रही है, इसीलिये विगत एक दशाब्द में पंजाब के राजनैतिक पत्रों ने आर्यसमाजी नेताओं के गैर-राजनैतिक बयानों पर प्राय: आपत्ति व्यक्त की है। इन आक्षेपों और प्रतिवादों को आर्यसमाजियों ने नजरअंदाज ही किया है क्योंकि इस प्रदेश में आर्यसमाज पूर्ण शक्तिसम्पन्न है और वह राजनैतिक पत्रों की टिप्पणियों की उपेक्षा करने में समर्थ भी है। लाला लाजपतराय को छोड़कर किसी अन्य प्रमुख आर्यसमाजी ने राजनैतिक आन्दोलन में भाग भी नहीं लिया और लाला जी भी १९०५ से पहले राजनीतिज्ञों की वरिष्ठ पंक्ति में नहीं आये थे। यह भी लोग जानते हैं कि लाला लाजपतराय ब्रिटिश-विरोधी प्रचार में कभी लिप्त नहीं हुए। यद्यपि उनकी राजनैतिक प्रवृत्तियाँ सर्वथा

निर्दोष रहीं, तथापि लाला हंसराज और महात्मा मुन्शीराम एवं उनके साथियों ने लाला जी की इन गतिविधियों का व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक रूप में विरोध ही किया—हंसराज ने व्यक्तिशः और मुन्शीराम ने सार्वजनिक रूप में।

मिस्टर शिरोल कहते हैं—"अनेक आर्यसमाजी इस बात का दृढ़ भाषा में विरोध करते हैं कि आर्यसमाज किसी भी रूप में राजनीति से जुड़ी हुई है। यहाँ तक कि आर्यसमाज की लाहौर शाखा के प्रधान श्री रोशनलाल ने मुझे यह कहकर आश्वस्त किया कि आर्यसमाज का कार्य पूर्णतया नैतिक और धार्मिक सुधार तक ही सीमित है। जहाँ तक श्री रोशनलाल के व्यक्तिगत रूप से राजनीति से निर्लिप्त रहने का सम्बन्ध है, मैं उनके कथन का थोड़ा भी प्रतिवाद नहीं करता। यह भी सच हो सकता है कि आर्यसमाज ने संस्था के रूप में किसी राजनैतिक कार्यक्रम के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रकट न की हो, यह भी सत्य है कि इसके अनेक सदस्य व्यक्तिशः राजनीति से पृथक् हैं, किन्तु इस बात का भी प्रमाण है कि पंजाब तथा निकटवर्ती प्रान्तों मे विगत कुछ वर्षों में जो षड्यंत्रकारी आन्दोलन हुए हैं, उनमें अनेक विख्यात आर्यसमाजियों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। १९०७ में रावलपिण्डी में हुए दंगों में आर्यसमाजियों ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। इन दंगों के आरम्भ होने के पहले दो वर्षों में सरकार के विरुद्ध जो भयंकर हिंसात्मक प्रचार किया गया, उसमें भी लाला लाजपतराय और अजीतसिंह का ही हाथ था, और ये दोनों ही आर्यसमाजी थे।"

मिस्टर शिरोल की तरह का कोई चालाक लेखक ही थोड़ी-सी पंक्तियों में इतनी गलतबयानी, मिथ्या वर्णन तथा कटूक्तियाँ एवं व्यंग्योक्तियाँ कर सकता है। मिस्टर रोशनलाल ने मिस्टर शिरोल को जो साक्षात्कार दिया था, वह व्यक्तिगत हैसियत में नहीं दिया था। उन्होंने भारत की एक प्रमुख आर्यसमाज (लाहौर) के प्रधान तथा पंजाब की आर्यसमाजों की संचालक सभा (आर्य प्रतिनिधि सभा) के उपप्रधान के रूप में उपर्युक्त बातें कही थीं। मिस्टर शिरोल की आपत्तियाँ तो तभी समाप्त हो जाती हैं, जब वे यह कहते हैं कि आर्यसमाज ने एक संस्था के रूप में कभी राजनैतिक कार्यक्रम के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जाहिर नहीं की। तब क्या कोई धर्म-संस्था अपने सदस्यों के वैयक्तिक राजनैतिक रुझान के कारण उत्तरदायी ठहराई जा सकती है? क्या इंग्लैण्ड का प्रोटेस्टेंट चर्च प्रोटेस्टेंट राजनीतिज्ञों के आचरण के लिए उत्तरदायी ठहराया जायेगा? क्या कलकत्ता के विशप को बंगाल के ईसाई राजनैतिक नेताओं का प्रतिनिधि माना जायेगा? क्या लाहौर से प्रकाशित होनेवाले 'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' के राजनैतिक लेखों के लिए लाहौर के लॉर्ड विशप जिम्मेदार हैं? क्या कट्टरपंथी गाजियों और पेशावर के दंगाइयों की जिम्मेदारी इस्लाम के धार्मिक नेताओं को लेनी होगी?

परन्तु आर्यसमाज को भी इस प्रकार के अनर्गल आक्षेपों के लिए अपना ऐसा बचाव करने की आवश्यकता नहीं है। कारण कि केवल लाला लाजपतराय को छोड़कर किसी भी प्रख्यात आर्यसमाजी ने आज तक राजनीति में उल्लेख-योग्य भाग नहीं लिया। हाँ, यह तो मानना ही होगा कि पुलिस के विचित्र तरीकों और गलतबयानियों के कारण अनेक प्रतिष्ठित आर्यों को भी महीनों तक हाजत में रक्खा गया तथा उन्हें अकारण ही परेशान होना पड़ा। अन्ततः सरकार को उन्हें बाइज्जत रिहा भी करना पड़ा। एक विधिवत् गठित न्यायालय द्वारा निर्दोष ठहराये गये रावलपिण्डी के आर्यों को दंगा-फिसाद भड़कानेवालों के सरगना कहने की गुस्ताखी मिस्टर शिरोल जैसा व्यक्ति ही कर सकता है। क्या नये प्रेस-एक्ट के अधीन उसे न्यायालय का अपमान करने का अपराधी नहीं ठहराया जा सकता? निश्चय ही कानून की सर्वोपरि प्रतिष्ठा को बचाना ही चाहिए।

पुनः यह कहना भी झूठ ही है कि अजीतसिंह आर्यसमाजी है। हम नहीं कह सकते कि अज्ञेयवाद[1] को कोई धर्म कहा जा सकता है या नहीं, किन्तु यदि ऐसा हो, तो अजीतसिंह लॉर्ड मॉर्ले और मिस्टर बालफर के ही सहधर्मी कहलायेंगे। मिस्टर शिरोल लाला लाजपतराय और भाई परमानन्द के पत्र-व्यवहार का उल्लेख करते हैं। किन्तु लाला जी द्वारा प्रस्तुत किये गये हलफनामों की चर्चा को जान-बूझकर छोड़ देते हैं। इसी प्रकार वे "पंजाबी" में प्रकाशित स्पष्टीकरण तथा भाईजी द्वारा अपनाई गई अपने बचाव की नीति की भी चर्चा नहीं करते। जहाँ तक पटियाले के अभियोग का प्रश्न है, मिस्टर शिरोल इस मामले को एकांगी रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे इस्तगासे द्वारा अभियुक्तों पर लगाये गये आरोपों की तो ऊँची आवाज में चर्चा करते हैं, किन्तु इस बात का संकेत भी नहीं देते कि इस्तगासे के वकील ने अपने पक्ष के समर्थन में कौन-कौन-से साक्ष्य प्रस्तुत किये थे? अन्ततः यह अभियोग खत्म हो गया। यहाँ तक कि 'पायनियर' ने भी यह स्वीकार किया कि इस मुकद्दमे को सरकार द्वारा ही वापस लेना पड़ा क्योंकि ७० वर्षीय मिस्टर वारबर्टन अपने पक्ष के समर्थन में गवाहियाँ भी एकत्र नहीं कर सके। मुकद्दमे के खत्म होते ही मिस्टर वारबर्टन की अनिवार्य सेवा-मुक्ति तथा अभियुक्तों को निष्कासित करने के आदेशों का निरस्त होना हमें इसी परिणाम पर पहुँचाते हैं। मिस्टर ग्रे द्वारा लगाये गये आरोपों के बारे में ब्रिटिश सरकार का रवैया इतना उपेक्षापूर्ण रहा कि राय ज्वालाप्रसाद को, जो ब्रिटिश सरकार के एक राजपत्रित अधिकारी के रूप में पटियाला राज्य की सेवा में प्रति-नियुक्ति पर भेजे गये थे, राज्य सरकार द्वारा अपने पद पर पुनः

---

१. Agnosticism.

स्थापित ही नहीं किया गया, किन्तु नजरबंदी के दिनों का पूरा वेतन तथा भत्ते भी उन्हें देने पड़े।

यद्यपि महाराजा की सेवा में क्षमायाचना की अर्जी अभियुक्तों ने दी थी, किन्तु इसका कारण यह नहीं था कि अभियुक्त लोग मुकद्दमे के परिणाम से भयभीत थे। मुख्य बात यह थी कि उन्हें यह संकेत दिया गया था कि इस विपत्ति से पार पाने का यही एक सुगम मार्ग रह गया है। और वह प्रार्थनापत्र भी क्या था? जैसा कि "बंगाली" नामक पत्र ने लिखा, यह एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख था। इसमें अपराध की कोई स्वीकृति नहीं थी। इसके विपरीत इसमें स्पष्टतया कहा गया था कि अभियोजन-पक्ष के समर्थन में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्रार्थियों ने इसमें कहा था—

"हम अत्यन्त आदर के साथ कहना चाहते हैं कि हमने अराजकतावादियों, षड्यंत्रकारियों तथा उनके दुष्टतापूर्ण तरीकों को सदा ही घृणा की दृष्टि से देखा है। हम महामान्य महाराजा को पूर्ण आदर के साथ आश्वस्त करना चाहते हैं कि पटियाला राज्य की किसी भी आर्यसमाज की किसी भी बैठक में कभी भी कोई राजनैतिक विषय चर्चित नहीं हुआ। आर्यसमाज का प्रचार पूर्णतया धार्मिक, सामाजिक तथा शैक्षिक किस्म का होता है। आर्यसमाज के शिक्षण-संस्थानों के पाठ्यक्रम से राजनीति को सर्वथा पृथक् रक्खा गया है। आर्यसमाज पूर्ण हार्दिक भाव से ब्रिटिश सरकार तथा पटियाला राज्य के प्रति स्वामिभक्ति का भाव रखता है तथा हम महामान्य महाराजा को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि हम लोगों ने पटियाला राज्य तथा सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता (ब्रिटिश) के प्रति गम्भीर निष्ठा तथा कृतज्ञता के अतिरिक्त अन्य कोई भाव नहीं रक्खा है।" महाराजा ने इस आश्वासन को स्वीकार कर लिया और अभियोग को उठा लेने के आदेश दे दिये। इसमें कहा गया था—"हमने कभी यह निष्कर्ष नहीं निकाला था कि भारत में आर्यसमाजों का प्रत्येक सदस्य या यह संस्था ही षड्यंत्रकारी है।"

पटियाला अभियोग के अभियुक्तों का आचरण आर्यसमाज की स्थिति की संरक्षा का एक शानदार प्रयास था। अभियुक्तों ने यह कभी स्वीकार नहीं किया कि उन्होंने अनजाने में भी कोई ऐसा कार्य किया है, जिसे आपत्तिजनक समझा जा सके। इसी कारण से उन्होंने अपने उक्त प्रार्थनापत्र में खास तौर से लिखा है कि वे इस बात का "विशेष ध्यान" रक्खेंगे (यह विशेष ध्यान उन्होंने पहले भी रक्खा है) कि उनके द्वारा कोई ऐसा कार्य न हो, जिससे पटियाला राज्य अथवा महामान्य सम्राट् एडवर्ड सप्तम के विरुद्ध किसी प्रकार की दुर्भावना का प्रसार हो।

सइ विषय पर इलाहाबाद के पत्र 'लीडर' ने जनभावना को ही अभिव्यक्त

करते हुए अपने २३ फरवरी १९१० के अंक में लिखा—

"इस अवसर पर हम राय ज्वालाप्रसाद तथा उनके साथियों को इस बात के लिए बधाई देंगे कि जाँच के दौरान वे अपनी राजभक्ति पर रंचमात्र भी दाग लगाये बिना बेकुसूर सिद्ध हुए हैं। उन्होंने न तो कभी स्वयं को अपराधी माना और न क्षमा-याचना ही की। महाराजा को भेजा गया उनका आवेदनपत्र उनकी अपनी निर्दोषता की स्पष्ट अभिव्यक्ति तथा पटियाला एवं ब्रिटिश राज्य के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा का ही प्रमाण था।"

"एक घातक प्रमाणपत्र" शीर्षक के अन्तर्गत मिस्टर शिरोल ने श्यामजी-कृष्ण वर्मा का एक शरारतभरा झूठा बयान छापा है, जिसमें कहा गया है कि भारत के राजनैतिक पुनर्जागरण के लिए ही आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। इसमें यह और कहा गया है कि क्रान्तिकारी दल के इस नेता (श्यामजी कृष्ण वर्मा) को स्वामी दयानन्द ने स्वयं अपने जीवनकाल में ही स्वसंस्थापित परोप-कारिणी सभा का सदस्य तथा आजीवन न्यासी बनाया था। क्या मिस्टर शिरोल यह भलीभाँति जानते हैं या उन्होंने इस बात का पता किया है कि श्यामजी-कृष्ण वर्मा विगत दस वर्षों से आर्यसमाज का साधारण सदस्य भी नहीं है तथा यह भी कि जब वह एक सक्रिय आर्यसमाजी था, तो वह एक स्वामिभक्त नागरिक तथा एक देशी राज्य का विश्वासपात्र दीवान भी रहा। उस समय उसकी राजनिष्ठा संदेह से ऊपर रही। इसी कारण भारत के वायसराय स्वयं उनके अजमेर-स्थित निवास पर उनसे भेंट करने के लिए आये। आर्यसमाज से अब वे पूर्णतया पृथक् हो गये हैं और उन्होंने समाज के सिद्धान्तों और दर्शन को पूर्णतया तिलांजलि दे दी है। क्रान्तिकारी बनने से बहुत पहले ही वे हर्बर्ट-स्पेन्सर के अनुयायी बन गये थे। अब वे आर्यसमाजी नहीं हैं।

इसके आगे मिस्टर शिरोल गुरुकुल तथा गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली का उल्लेख करता है। इसका उपसंहार वह इन शब्दों में करता है—

"गुरुकुल के छात्रों के पहले बैच के जीवन-संग्राम में उतरने तथा उनकी शिक्षा के परिणाम को जानने के लिए हमें अभी पाँच वर्ष और प्रतीक्षा करनी होगी। इस समय तो हम पंजाब के लैफ्टिनेंट गवर्नर सर लुइस डेन द्वारा कुछ महीने पहले अभिव्यक्त इस आशा को ही उद्धृत करना चाहेंगे, जो उन्होंने आर्यसमाज के प्रधान द्वारा अपनी संस्था की राजनिष्ठा को लेकर दिये गये एक आश्वासन के उत्तर में प्रकट की थी। उन्होंने कहा था—एक ऐसी संस्था को जिसका उद्देश्य ही सामाजिक और धार्मिक सुधार करना है, अपने वास्तविक लक्ष्य से कदापि च्युत नहीं होना चाहिए और न उसे एक राजनैतिक संस्था के रूप में ही अपभ्रष्ट होना चाहिए, क्योंकि ऐसा करके वह स्थापित सरकार के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट करने में कोताही करेगी। किन्तु न तो दयानन्द की

शिक्षाएँ हों और न उनके शिष्य, जिनमें गुरुकुल से जुड़े लोग भी हैं, इस धारणा को सिद्ध करने में कुछ उत्साहवर्धक योगदान करते प्रतीत होते हैं।"

उपर्युक्त वक्तव्य का अन्तिम वाक्य अत्यन्त त्रुटिपूर्ण और गलतबयानी वाला है। समस्त भूमण्डल में निरंकुश विचरण करनेवाला यह पत्रकार न तो उस भाषा से ही परिचित है, जिसमें स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ लिखे और न उन परिस्थितियों से ही उसका परिचय है, जिनमें से गुजरकर उक्त महात्मा को कार्य करना पड़ा। अत: ऐसे व्यक्ति से यह आशा किस प्रकार की जा सकती है कि वह उस महापुरुष की शिक्षाओं की भावना को समझ सकेगा? दयानन्द के उन अनुयायियों की राजनिष्ठा, जो गुरुकुल से जुड़े हैं, मिस्टर शिरोल की अपेक्षा कहीं अधिक खरी है। इसको प्रमाणित करने के लिए युक्ति और प्रमाण भी पेश किये जायेंगे, किन्तु तब, जब मिस्टर शिरोल उनकी महत्ता को समझेंगे। एक विशिष्ट आरोप का प्रत्याख्यान इसी प्रकार के एक अन्य आरोप से किया जा सकता है।

मिस्टर शिरोल के द्वितीय पत्र का अन्तिम अनुच्छेद आर्यसमाज-विषयक अनेक प्रकार की गलतबयानियों से भरा हुआ है। इसमें कहा गया है कि जहाँ भी आर्यसमाज सक्रिय है, वहीं पर षड्यंत्रपूर्ण गतिविधियाँ प्रबल हैं। यह स्वीकार किया गया है कि पंजाब में आर्यसमाज का प्रचार अत्यन्त लोकप्रिय है तथा यह भी माना गया है कि जिस प्रकार की हत्या, डकैती आदि की दु:खद एवं अपराधपूर्ण घटनाएँ दक्षिण तथा बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के दौरान हो रही हैं, उनसे पंजाब सर्वथा मुक्त है। ऐसा लगता है मिस्टर शिरोल की तर्कशास्त्र में बहुत कम गति है, अन्यथा वे इस बात की कैसे संगति बिठायेंगे कि एक ओर तो वे पंजाब में आर्यसमाज की षड्यंत्रपूर्ण प्रचार-प्रणाली की लोकप्रियता को भी स्वीकार करते हैं और साथ ही यह भी मानते हैं कि यह प्रान्त हत्या जैसे अपराधों से मुक्त भी है। एक ऐसे प्रान्त में, जहाँ युद्धप्रिय जातियों का बहुलता से निवास हो, वहाँ हत्या जैसे अपराधों का न होना या कम होना, अपने-आपमें आश्चर्य है, जबकि यह भी कहा जा रहा है कि बंगाल और दक्षिण में, जहाँ षड्यंत्रात्मक गतिविधियाँ समाज के एक छोटे वर्ग तक ही सीमित हैं, किन्तु वहाँ हत्या जैसे अपराधों का बाहुल्य है। इसी लेख में आर्यों द्वारा सैनिक टुकड़ियों की राजनिष्ठा को विच्छिन्न करने का आरोप पुन: निर्लज्जतापूर्वक दुहराया गया है, हालाँकि मिस्टर शिरोल के ही एक साथी पत्रकार 'दि इंगलिशमैन' के संवाददाता को इस आरोप को प्रकाशित करने के दण्ड-रूप में लाला लाजपतराय को १५०० रुपये हर्जाने के तौर पर देने पड़े थे। यह कहा गया है कि आर्यसमाज की मीटिंगों में राजनीति पर बहस होती है। हर पंजाबी जानता है कि यह धारणा गलत है। जिन्हें राजनैतिक वाद-विवाद

में रुचि होती है वे जिला परिषदों की बैठकों मे जाते हैं। आर्यसमाज-मंदिरों का उपयोग तो विशुद्ध धार्मिक कार्य के लिए ही होता है। यदा-कदा अपवाद रूप में यहाँ किसी राजभक्त नेता की मृत्यु पर शोकसभा अवश्य आयोजित की जाती है। अपने दूसरे पत्र के निष्कर्षरूप में लेखक लिखता है—

"आर्यसमाज का विकास हमें बड़ी प्रबलता के साथ सिक्ख मत की याद दिलाता है, क्योंकि १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस मत की स्थापना भी गुरु नानक द्वारा एक धार्मिक और नैतिक सुधार-आन्दोलन के रूप में हुई थी, किन्तु ५० वर्ष के भीतर ही गुरु हरगोविन्द के नेतृत्व में इसने एक सशक्त राजनैतिक और सैनिक संगठन का रूप ले लिया।"

यह लिखकर लेखक ने इतिहास की एक समानान्तर घटना को उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचा दिया है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि जिस प्रकार सिख मत जैसा पूर्णतया धार्मिक सम्प्रदाय उस समय के शासन की मूर्खतापूर्ण दमनकारी नीतियों तथा अकारण संदेहों के कारण जिस प्रकार एक राजनैतिक और सैनिक संगठन के रूप में उभरने के लिए विवश किया गया, **यदि उसी प्रकार की स्थितियाँ आर्यसमाज के लिए भी उत्पन्न की जाती हैं और उसे उसके वास्तविक लक्ष्य से हटने के लिए विवश किया जाता है, तो वह भी मजबूरन अपने कार्यक्रम में राजनीति को प्रविष्ट कर लेगा।** किन्तु इस शोक-जनक परिणाम का दायित्व उसी श्रेणी के लेखकों की शरारत पर ही होगा, जिसका विशिष्ट नमूना मिस्टर शिरोल स्वयं हैं।

अध्याय—७

भविष्य की ओर दृष्टि-निरपेक्ष

हमने इस पुस्तक में संक्षेप में उन कारणों की विवेचना की है जो आर्यसमाज की वर्तमान विपत्तियों के लिए उत्तरदायी कहे जा सकते हैं। हमने इसमें बताया है कि किस प्रकार अतीत में ब्रिटिश सरकार ने आर्यसमाज को एक स्वस्थ आन्दोलन के रूप में समर्थन प्रदान किया, क्योंकि इसके द्वारा सुधार और उत्थान के कार्य को बढ़ावा मिला था। किन्तु समय व्यतीत होने के साथ-साथ ऐंग्लो-इण्डियन अफसरों की वह पीढ़ी भी समाप्त हो गई, जिसने स्वामी दयानन्द के चरणों में बैठकर उनके उपदेशों को सुना था और स्वामी जी के व्यक्तित्व के दिव्य प्रभाव को भी अनुभव किया था। धीरे-धीरे अधिकारीवर्ग की आर्यसमाज-विषयक धारणा परिवर्तित होती गई और ये लोग इस संस्था के प्रति अधिकाधिक उदासीन होते गये। ज्यों-ज्यों आर्यसमाजों की संख्या, शक्ति और प्रभाव में वृद्धि होने लगी, उसकी विरोधी शक्तियाँ भी उभरीं तथा ईर्ष्या, हठधर्मी और उत्पीड़न के घिनौने चेहरे प्रकट होने लगे। इन लोगों ने अधिकारियों के कानों में आर्य-समाज के प्रति विष घोलना आरम्भ कर दिया। उधर आर्यसमाज के नेताओं की पृथक् रहने की प्रवृत्ति तथा संस्था के पूर्णतया धार्मिक चरित्र ने उसके शत्रुओं के दिमाग में अनेक प्रकार के विषैले कीटाणुओं को प्रविष्ट करा दिया, जिसके परिणामस्वरूप आर्यसमाज और सरकार के बीच तनाव और तकरार बढ़ने लगा। इस सबका एक प्रधान कारण यह भी है कि कुछ अधिकारियों का जनता से सम्पर्क सर्वथा टूट गया है और वे अपने तौर पर यह निर्णय करने में असमर्थ रहते हैं कि आर्यसमाज के बारे में जो रिपोर्ट उन्हें प्रस्तुत की गई है, वह सत्य है या नहीं। इसका स्वाभाविक परिणाम होता है—सर्वत्र असुरक्षा की भावना तथा मानसिक तनाव की स्थिति। अफवाह फैलानेवालों की इस समय बन आती है। सनसनीखेज खबरों को जान-बूझकर फैलाया जाता है तथा अकारण भय उत्पन्न किया जाता है। साथ ही लगातार सावधानी बरतने और अतिरिक्त चौकसी रखने की आवश्यकता भी प्रतीत होती है। इन बातों के प्रमाण हाल के वर्षों में एकाधिक बार मिल चुके हैं। सरकार के सभी शुभचिन्तक इस स्थिति को नापसन्द करते हैं। इसमें वे लोग भी शामिल हैं, जो नहीं चाहते कि अराजकता

और अव्यवस्था के तत्वों को दुबारा फैलने का अवसर मिले।

इसलिए हम कहना चाहते हैं कि यदि लोगों में विचारशीलता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ और अविश्वास का भाव अकारण ही बढ़ता रहा, तो इस बात की आशंका है कि आर्यसमाज के नेता अपने अभीष्ट कार्यक्षेत्र से हटकर अपनी संस्था पर आनेवाली विपत्तियों के निवारण के लिए कृतसंकल्प होंगे। इसके लिए उन्हें बलिदान भी देने पड़ेंगे। आर्यसमाज की स्थापना विचार और चिन्तन के क्षेत्र में मील के एक पत्थर के तुल्य है। आर्यसमाजरूपी यह आँधी अप्रतिहत वेग से बढ़ती ही जायगी। इस समय तक तो आर्यसमाज की प्रगति को ब्रिटिश सरकार के द्वारा सहानुभूतिपूर्वक देखा जाता रहा है और इसके मार्ग में आनेवाली बाधाओं को हटाया गया है। भविष्य में यदि इसकी उन्नति के रास्ते में नई रुकावटें आती हैं, तो इसकी प्रगति की रफ्तार चाहे धीमी हो जाय, किन्तु इसे आगे तो बढ़ना ही है। एक शक्तिशाली व्यक्ति के द्वारा प्रवाहित यह धारा उत्पीड़न, सन्देह तथा मौन शत्रुभावना से रोकी नहीं जा सकती। हम आशा करते हैं कि इस पुस्तक के द्वारा अविश्वास की घटाओं को छिन्न-भिन्न किया जा सकेगा और आर्यसमाज दिव्य आभा और निष्कलंक कान्ति से उद्दीप्त होगा।

किन्तु यदि कोई अप्रत्याशित विपत्ति आती भी है तो हमें दृढ़ विश्वास है कि धर्म-सुधार के अन्य अग्रगन्ताओं की ही भाँति आर्यसमाजी भी विपत्ति और पीड़ाओं की अग्नि में से होकर गुजर जायेंगे तथा अपने अध्यवसाय के बल पर बिना कुछ कहे, आगे ही बढ़ते रहेंगे। इनका मार्ग चाहे जलती बालू से भरे रेगिस्तान के भीतर से जाता हो, जिससे कि इनके पाँवों में चाहे फफोले पड़ें, और आँखें सूज जायें, किन्तु बाधाओं की चिन्ता न करते हुए, सूचीभेद्य अन्धकार, प्रचण्ड झंझावातों और तडित्-चालन से अविचलित रहते हुए, ये लोग आगे ही बढ़ते जायेंगे। हमें यह स्मरण रखना होगा कि सभी प्रसिद्ध धर्मों की परीक्षा विपत्ति के क्षणों में ही हुई है।

आर्यसमाज पर इस समय आई यह संकटावस्था भावी पीढ़ी में आनेवाली सन्तानों को यह बतायगी कि हम अपने आचार्य और मार्गदर्शक द्वारा प्रदत्त उस मूल्यवान् विरासत तथा नैतिक गुणों को धारण करने की पात्रता सिद्ध कर सके हैं। स्वामी दयानन्द ने भी अपने ऊपर प्रक्षिप्त विपत्तियों को अत्यन्त धैर्य और प्रसन्नता के साथ सहन किया था। हमें अत्यन्त धैर्यपूर्वक सहन करने की क्षमता को जागृत करना होगा तथा पूर्णशक्ति के साथ सक्रिय होना पड़ेगा, यहाँ तक कि सहज मानवी भावनाओं का दमन करके भी हमें अपने कर्त्तव्य-पथ पर आगे बढ़ना होगा। जिस आत्मिक शक्ति ने दयानन्द को कार्य करने की क्षमता प्रदान की थी, यदि हम उससे दूर हटते हैं तो हम आर्य अभिधान धारण करने के अधिकार से भी वंचित हो जायेंगे। किन्तु यदि हम अपने गुरु के दिखाये मार्ग

पर चलते हैं और उत्पीड़न का बदला प्रेमपूर्ण सेवा से, अकारण सन्देह का बदला दृढ़ निष्ठा से तथा उदासीनता का बदला उत्साहपूर्ण भक्ति-भाव से देते हैं, तो हमें मिलनेवाला पुरस्कार भी काफी शानदार होगा और हमें जयमालाओं से सत्कृत किया जायगा। चाहे कुछ हुक्मरान हमारे प्रति बेइन्साफी तथा निर्दयता का भी व्यवहार करते रहें, अन्तर्यामी परमात्मा हमें ब्रिटिश सरकार के प्रति न्याय तथा सदाशयतायुक्त व्यवहार करने में सहायता देता रहे, इसी कामना के साथ हम इस कथन को समाप्त करते हैं।

आर्यसमाज का भविष्य

(लाला मुन्शीराम, प्रधान, आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा आर्यसमाज-मन्दिर लाहौर में २६ जनवरी १८९३ को पठित पत्र—)

अत्यन्त संकोच तथा उत्तरदायित्व की भावना के साथ मैं आपके समक्ष एक ऐसे विषय पर बोलने के लिए खड़ा हुआ हूँ जो उन लोगों के लिए तो रुचिकर है ही, जो अपने को आर्यसमाजी कहते हैं, अपितु यह उनके लिए भी दिलचस्पी का है जिन्होंने हमारे देश की धार्मिक और सामाजिक हलचल को अच्छी तरह से जाना है। इस धार्मिक और सामाजिक जागृति ने हमारे इस प्राचीन देश में व्याप्त पौराणिक देवतावाद तथा निराशावाद को तो निर्मम आघात पहुँचाया ही है, इसने समस्त सभ्य संसार की प्रचलित धर्म-पद्धतियों को भी प्रभावित किया है।

इस विषय के साथ पूर्ण न्याय करने की अपनी अक्षमता को मैं भलीभाँति जानता हूँ। किन्तु यदि मेरे इस प्रयत्न के द्वारा आपमें से किसी भी महानुभाव को, जो मुझसे अधिक योग्यता रखते हैं, इस सामयिक प्रश्न पर विचार करने की प्रेरणा मिलेगी, तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक मानूंगा।

कट्टरपन्थी लोग तो शायद मेरे इस प्रयास पर हँसेंगे, किन्तु मैं उन्हें पूरी ईमानदारी के साथ विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मैं पुराने पैगम्बरों के रहस्यात्मक अधिकारों को स्वायत्त करने का अभिलाषी नहीं हूँ। मैं तो संसार के राष्ट्रों के इस एकीकृत समूह के समक्ष, जिसे मैं युक्ति और दिव्य मेधा का संगमस्थल मानता हूँ, अपने स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

भौतिक संसार में एक नियम देखा जाता है कि एक मनुष्य जो आगे छलाँग मारना चाहता है, वह ऐसा करने से पहले कुछ कदम पीछे हटता है। वह ऐसा इसलिए करता है ताकि पूरी ताकत के साथ आगे छलाँग लगा सके। जो बात छलाँग लगाने के लिए कही जा सकती है, उसे ही वैचारिक जगत् पर भी लागू किया जा सकता है। भविष्य के बारे में कोई पूर्व-सूचना देने के पहले कुछ कदम पीछे हटकर विगत का अवलोकन करना आवश्यक है। अतः आप मुझे विगत अतीत की ओर थोड़ा मुड़ने की आज्ञा दें, ताकि भविष्य के बारे में हमारी धारणा अधिक स्पष्ट तथा त्रुटिहीन होकर हमारे समक्ष आ सके। मेरा प्रयोजन तो आपके

समक्ष भारत की प्राचीन वैचारिक अवधारणा और उसके वर्तमान रूप के परस्पर विरोध को उभारकर रखना है। इसके लिए मैं आपको बहुत पीछे की ओर नहीं ले-जाऊँगा। मैं तो आपके समक्ष अंग्रेजों के भारत-आगमन के पूर्व की भारत की धार्मिक स्थिति को ही प्रस्तुत करूँगा तथा मोटे तौर पर यह भी बताऊँगा कि सुधार-आन्दोलनों ने वर्तमान स्थिति तक पहुँचने के लिए किस प्रकार अपना रास्ता तय किया है।

आप अपने देश के अतीत की ओर दृष्टि डालें। आप देखेंगे कि इस अभागे देश के निवासी धार्मिक भाग्यवाद से उत्पन्न आलस्य में किस प्रकार पड़े हुए थे। हिन्दू लोग अन्धविश्वास और निराशावाद के जाल में फँसे हुए थे। उनके विचारों और कार्यों की स्वतन्त्रता को कुचल दिया गया था। उन्हें पौराणिक देवतावाद के अनुसार ही सोचने-विचारने के लिए कहा जाता गया था। यह पौराणिक मत धूर्त पुरोहितों द्वारा जनता पर थोपा गया था। उपनिषदों तथा अन्य शास्त्रों के प्रणेता ऋषियों के उच्च नैतिक आदर्शों तथा निर्भीक जीवनादर्शों के स्थान पर हमने शाक्तों और वाममार्गियों के व्यभिचारपूर्ण क्रिया-कलापों को अपनाकर खुद के आत्म-बोध को ही विस्मृत कर दिया। इन सम्प्रदायों से कभी-कभी कुछ मानसिक शान्ति तो लोगों को मिलती थी, किन्तु अपने अनुयायियों को कितना-कुछ उपयोगी तत्त्व दिया जाय, यह पुरोहितों की सनक पर ही निर्भर करता था।

इस्लाम के अनुयायियों के सम्पर्क से हिन्दुओं का जड़ीभूत जीवन-प्रवाह थोड़ा विचलित हुआ। हिन्दू जीवनपद्धति के सर्वग्रासी रूप ने इस्लाम की चिंगारी को भी बुझा दिया। इतिहासकारों की धारणा है, और इसे वे अपने छात्रों को बताते भी हैं कि लाखों हिन्दुओं को इस दौर में मुसलमान बनाया गया। किन्तु यह सत्य नहीं है। इसके विपरीत यही कहना होगा कि हिन्दुओं ने भी मुसलमानों का धर्मान्तरण किया। एक और अद्वितीय ईश्वर की पूजा के स्थान पर हिन्दू धर्म ने इस्लाम के माननेवालों को चमत्कार दिखानेवाले सन्तों और शहीदों की पूजा करना सिखाया। हिन्दू धर्म की इस भावना ने इस्लाम को भारत में फैलने में सहायता दी और हिन्दू देवताओं के साथ मुस्लिम फकीरों की पूजा भी स्वीकार कर ली गई। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि इस देश में कोई सच्चा मुसलमान नहीं रह गया था, किन्तु अपवाद ही नियम को प्रमाणित करते हैं।

अंग्रेजों के भारत में अपना राज्य स्थापित करने के लिए आने के पहले भारत में धार्मिक और नैतिक विचारधारा का ऐसा ही परिदृश्य उपस्थित था। काल्पनिक चिन्तन और स्वप्नशील मनोवृत्तिवाले लोगों के इस देश में यहाँ के निवासियों का दृष्टिकोण उस समय पूर्णतया बदल गया, जब यहाँ पाश्चात्य सम्पर्करूपी नव-अवधारणा का प्रवेश हुआ। अंग्रेजों के आगमन के साथ हमारा एक

ऐसी जाति से सम्पर्क हुआ जिसकी प्रवृत्तियाँ, आकांक्षायें तथा विचार हमसे बिल्कुल विपरीत थे। स्वप्नशील वातावरण में रहनेवाले प्राच्य ने पश्चिम के कठोर एवं द्रुतगामी भौतिकवाद से प्रथम बार हाथ मिलाया। आधुनिक हिन्दू धर्म ने इस नवीन लहर को अपने भीतर समाहित करने का प्रयास किया जो स्वयं को दृढ़ता के साथ व्यक्त करनेवाली, प्रयोगशील तथा वस्तुनिष्ठ थी। इसी पश्चिमी लहर ने हमारे देशवासियों को भी नीले सागर का सन्तरण करते हुए निर्भीक होकर अज्ञात देशों की ओर प्रयाण करने का साहस प्रदान किया। किन्तु आधुनिक पौराणिक हिन्दू धर्म ने भी अपने समकक्ष को तलाश कर लिया। गर्वीली अंग्रेजी मनोवृत्ति ने पौराणिकों की चापलूसी की आदत की चतुराई से उपेक्षा की और उनके द्वारा प्रस्तुत समझौतों को साँघातिक जानकर ठुकरा दिया।

इस दिशा में किये गये हिन्दू धर्म के प्रयत्नों को सर एल्फ्रेड लायल की टिप्पणी के रूप में सम्यक्तया उद्धृत किया जा सकता है। अपनी एशियाटिक स्टडीज में वे कहते हैं—"प्रत्येक विख्यात सैनिक की उसकी मृत्यु के बाद पूजा की जाती है, यदि उसका मकबरा विख्यात लोगों की पहुँच के भीतर होता है। फ्रांसीसी सेनापति मोशिये रेमण्ड, जो हैदराबाद में मरे, मृत्यु के बाद सन्त की भाँति याद किये गये। जनरल निकलसन ने यद्यपि अपने ही अनुयायियों पर अत्याचार किये थे, किन्तु वे अपने जीवनकाल में ही सम्मानित किये गये।"

एक बार तो हिन्दू धर्म को भी पराजित कर दिया गया। स्वल्पकाल के लिए वह मूक बनकर रह गया—विषण्ण और उदास। ऐसा लगा मानो वह विदेशी देवतावाद को स्वीकार करने के लिए तैयार है। अंग्रेजी शिक्षा की प्रगति के साथ भौतिकवाद तथा लौकिकवाद का रूढ़िभंजक रूप सामने आया, यद्यपि ये दोनों विचारधारायें इस देश से सर्वथा अपरिचित नहीं थीं। इस देश में अध्यात्मवाद और मूर्तिपूजा के साथ-साथ चार्वाक और नास्तिकवाद की विचारधारायें चलती रही हैं और शिक्षित हिन्दू युवकों के टूटते विश्वास को पश्चिम के भौतिकवाद में आकर्षक विश्रान्ति मिली। विपरीत शक्तियों का यह एक विचित्र सम्मिलन था कि एक ओर पौराणिक कट्टरवाद और दूसरी ओर सन्देहवाद तथा नास्तिकवाद।

भविष्य निश्चय ही निराशापूर्ण था। ऐसा प्रतीत होता था कि वह हिन्दू समाज, जिसने ३० शताब्दियों से भी अधिक समय तक विपरीत परिस्थितियों का सामना किया, अब पश्चिम से आनेवाले भौतिकवाद के विकराल दैत्य द्वारा निगल लिया जायगा। किन्तु संसार के इतिहास में प्राचीन आर्यसभ्यता की जो अद्वितीय स्थिति रही, उससे ही यह स्पष्ट हो गया यह आसानी से खत्म होनेवाली नहीं है। ईश्वरीय नियम सर्वोपरि होता है और कोई ऐसी मानवी शक्ति नहीं है, जो उसके आदेश की अवहेलना कर सके।

प्रोफेसर मैक्समूलर ने अपने १८७३ ई० में दिये एक भाषण में कहा था कि

हिन्दूधर्म या तो मर चुका है या मर रहा है। यह पौराणिक हिन्दू धर्म के बारे में तो सत्य हो सकता है, यह मर तो रहा है किन्तु अभी पूरा खत्म नहीं हुआ है। किन्तु मैक्समूलर का कथन यदि उपनिषदों के प्राचीन धर्म से है, तो निश्चय ही वह गलती पर था, क्योंकि ऐसा कहने का अभिप्राय तो यही होगा कि ईश्वरीय विधान द्वारा स्थापित धर्म भी खतरे में हो सकता है, किन्तु यह कहना वास्तविकता से परे है।

इसी विद्वान् प्रोफेसर ने आगे कहा कि ब्राह्मणधर्म में देश-भक्ति तथा बलिदान का भाव नहीं है। किन्तु यदि भारत के प्राचीन इतिहास को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो ज्ञात होगा कि वेदों से प्रेरणा लेकर लोगों ने स्वदेश-भक्ति के भावों को सदा ही अभिव्यक्त किया है विशेषतया उस समय, जब-जब यहाँ आपातकाल की परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं। अत्याचार और विपत्ति के समय ऐसे लोगों ने सत्य और न्याय के ध्वज को अत्याचार और उत्पीड़न का सामना करते हुए भी ऊँचा रक्खा है। हमारा प्राचीन इतिहास भी अपने-आपमें परिपूर्ण कहा जा सकता है, बशर्ते कि हम इतिहास को मात्र युद्धों के विवरणों, हत्याओं के कारनामों तथा केवल बड़े लोगों के नामों तक ही सीमित न रक्खें। यह कथन अत्यन्त निन्दायुक्त तथा अवमाननापूर्ण कहा जायगा कि हिन्दू धर्म ने कोई देशभक्त या बलिदानी उत्पन्न नहीं किया, जबकि यह धर्म शंकराचार्य, चैतन्य और नानक जैसे महापुरुषों पर गर्व कर सकता है।

हिन्दू धर्म ने जिन सन्तों और ऋषियों को उत्पन्न किया है, उनमें से अनेक ऐसे हुए हैं जो उच्च आध्यात्मिक भावना से युक्त थे। यह भावना उन्हें उस सर्वोच्च परमात्मा से प्राप्त हुई थी, जो ऐसे पुरुषों में नव-ज्योति का संचार करता है, जो महान् नैतिक परिवर्तन के लिए लोगों का आह्वान करता है तथा जो मानव-जाति के हृदय में गम्भीर हलचल उत्पन्न करता है। ऐसे सद्गुरुओं ने भारत के इतिहास पर अपनी छाप छोड़ी है तथा उनके विचार आज भी मौजूद हैं। किन्तु इन विचारों की ज्योति नित्यप्रति निष्प्रभ होती जा रही है और आशंका होती है कि कभी वह एकदम लुप्त न हो जाय।

वैदिक धर्म का यह संकट बड़ा भयावना था। एक ओर तो लोगों में सन्देहवाद तथा अश्रद्धा के भाव पैदा हो रहे थे, जिसके परिणामस्वरूप समस्त वैध आवर्जनों तथा अधिकारों की अवज्ञा की जा रही थी, दूसरी ओर कट्टर-पन्थी ईसाइयत थी, जिसने तीन महाद्वीपों में तो अपना प्रसार कर ही लिया था, और अब वह एक ही ग्रास में भारत की उस सभ्यता तथा सामाजिक ढाँचे को भी निगल जाना चाहती थी, जो वर्तमान में चाहे कितना ही पतित क्यों न हो गया हो, किन्तु मानव-सृष्टि के आरम्भ से ही जिसे प्रेमल सन्तों ने अपने हाथों से पोषित और पल्लवित किया था। नई सरकार की सहिष्णुता की नीति का

लाभ उठाकर इस्लाम, बौद्ध, जैन तथा अन्य अनेक गौण सम्प्रदायों ने भी ईसाइयत के पीछे रहकर पृथ्वी के सर्वाधिक प्राचीन धर्म और जाति को नष्ट करने के लिए आगे कदम बढ़ाया। यह देश तो सभ्यता के सर्वोच्च सोपान पर उस समय ही चढ़ चुका था, जबकि इसके विजेता जाति के पूर्वज जंगलों में वन्य प्राणियों की भाँति नंगे ही घूमते थे। यही वह देश था जिसने संसार को विधि और दर्शन प्रदान किये। इसी का आचार-शास्त्र और विज्ञान यूनान और मिस्र को प्राप्त हुआ। इसी के चरणों में बैठकर लोगों ने आध्यात्मिक और धर्मतत्त्व का प्रथम पाठ पढ़ा। इसी जाति के दर्शन ने आज परिवर्तित होकर सभ्य संसार के विचारों का रूप ले लिया है और खतरा यही है कि कहीं यही जाति धरातल से सर्वथा विनष्ट न हो जाय। यह दृश्य निश्चय ही भयानक तथा दिल दहलानेवाला था।

तो क्या सचमुच इस निष्ठावान् जाति के लिए कोई आशा नहीं बची थी? क्या उसके जीवन के दिन इने-गिने ही बच रहे थे? जिस समय भारत में बौद्ध धर्म वैदिक धर्म को अभिभूत कर रहा था, उस समय भी एक महान् धर्मनेता उत्पन्न हुआ, जिसने भारत की धरती पर शाश्वत वेदों के ध्वज को नये सिरे से गाड़ा। उस समय हिन्दू धर्म एक अभूतपूर्व विपत्ति से घिर गया था और उससे बचाने के लिए एक बहादुर, लड़ाकू तथा निर्भीक सेनापति की आवश्यकता थी। यदि समय पर ऐसे सेनापति की सहायता न मिलती, तो पूरी सम्भावना थी कि हिन्दू-धर्म को अपने शत्रु के समक्ष आकर समर्पण करना पड़ता। शत्रु के इस प्रकार के सुनिर्धारित तथा सम्मिलित प्रयत्न के समक्ष मानवी साधन भी कभी-कभी शक्तिहीन हो जाते हैं।

क्या सेनापति के अभाव में वैदिक दुर्ग शत्रु को हो सौंप दिया जाय? राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन ने नेतृत्व अपने हाथ में लिया तथा थोड़ी देर के लिए ज्वार के प्रवाह को रोकने का प्रयत्न किया। किन्तु जिन शस्त्रों से उन्होंने यह लड़ाई लड़ी, वे न तो स्वदेशोत्पन्न ही थे और न स्वाभाविक ही। वे तो उसी जीवनप्रणाली से उधार लिये हुए थे, जिसके कि खिलाफ उन्हें प्रयुक्त करना था। अतः देशवासियों से उपर्युक्त समर्थन न मिलने के कारण वे व्यर्थ सिद्ध हुए। केशव ने कहा था—"इस बात से कोई इन्कार नहीं करेगा कि भौतिक ब्रह्माण्ड ही मनुष्य का सबसे बड़ा धार्मिक गुरु है, प्रकृति का भव्य और सुन्दर रूप ही हमारे मन पर सर्वाधिक प्रभाव डालता है।" यह तो सत्य ही है कि हमारे चारों ओर की दुनिया एक बड़े धर्म-शिक्षक के रूप में हमें उपदेश देती है तथा धार्मिक प्रवृत्ति के लोग प्रकृति की रमणीयता को देखकर उससे प्रभावित भी होते हैं, किन्तु अधिकांश लोग, जो इतिहास, पर्यवेक्षण तथा अनुभव से किसी तथ्य का मूल्यांकन करते हैं, इस बात से साफ इन्कार कर देंगे कि केवल उपर्युक्त बातों से ही मनुष्य में अध्यात्म-भावना उत्पन्न होती है। वे यह भी नहीं मानेंगे कि

केवल भौतिक शक्तियाँ और प्रक्रियायें ही भगवदीय अनुकम्पा को सिद्ध करती हैं। यूरोप के इन विशाल और भव्य गिरजाघरों ने यूरोवासियों की आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने के लिए क्या किया है ? भौतिक शक्ति और साधन चाहें वे कितने ही प्रभावशाली तथा भयोत्पादक हों, आदमी के मन को स्वल्पकाल के लिए ही प्रभावित करते हैं। एक वस्तु जो सीमित है, वह असीमित प्रभाव कभी उत्पन्न नहीं करेगी। "अति निकटता घृणा का भाव जगाती है", यह उक्ति भौतिक और सीमित पदार्थों पर ही घटती है। हमारे मन पर स्थायी प्रभाव पड़े, इसके लिए तो हमें उसे असीमित और शाश्वत (परमात्मा) के ही सम्पर्क में लाना पड़ेगा।

भारत की उस समय की स्थिति विशेष रूप से दुर्भाग्यपूर्ण थी। उन यूरोपीय देशों में, जहाँ धर्म और सांसारिक इतिकर्त्तव्यों के बीच की विभाजक-रेखा स्पष्टतया खींच दी गई है, वहाँ धार्मिक जड़ता राष्ट्रों की सामाजिक तथा नैतिक परिस्थितियों को अनिवार्यत: प्रभावित नहीं करती। किन्तु भारत में स्थिति पूर्णरूप से भिन्न है। यहाँ के लोगों का सम्पूर्ण जीवन—सामाजिक, बौद्धिक तथा भौतिक, धर्म से इतना अधिक ओतप्रोत है कि मनुष्य की आध्यात्मिक मृत्यु उसकी सम्पूर्ण सामाजिक, मानसिक तथा नैतिक शक्तियों को पक्षाघातग्रस्त कर देती है। ऐसे देश में किसी ऋषि का प्रादुर्भाव ही अपनी पितृभूमि को जड़ता और मृत्यु के भय से बचाने में समर्थ होता है। ऐसे ऋषि पुरातन स्रोतों से प्रेरणा लेकर ही कार्यरत होते हैं। पश्चिमी विज्ञान के सम्पर्क ने भारत और भारतीय समाज को हिलाकर रख दिया है। इससे हमारे समाज का ढाँचा अपनी नींव तक हिल गया है। जिन लोगों ने सन्देहवाद, नास्तिकवाद तथा अज्ञेयवाद के इस प्रवहमान ज्वार को प्रचलित ईसाइयत के अन्धविश्वास तथा मौखिक प्रार्थना से ही रोकने का प्रयत्न किया है, वे पश्चिम के आगे निपतित लोगों के हार्द को समझने में नितान्त असफल रहे हैं। निश्चय ही ऐसे समय में, एक शंकराचार्य, अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि शंकर के समान प्रबल भावनावाला व्यक्ति ही इस परित्यक्त भारत के उद्धार की क्षमता रखता था। हमारे समाज में व्याप्त देशभक्ति का भाव अन्तत: असफल हो गया, क्योंकि किसी प्रकार की आशा के अवशिष्ट न रहने पर भी उसने आशा का भाव जगाये रक्खा था। किन्तु विवेकवान् मस्तिष्कवाले लोग पूर्णतया निराश नहीं हुए थे। १८७६ ई० के वर्ष के बारे में लायल (Lyall) ने अपनी एशियाटिक स्टडीज में लिखा है—

"बुद्धिमान् पर्यवेक्षकों ने यह अनुभव किया है कि यदि हिन्दुओं में किसी शक्तिशाली और गुण-सम्पन्न पथप्रदर्शक का प्रादुर्भाव होता है, तो किसी भी समय भारत में ब्राह्मण धर्म पर आधारित पुनर्जागरण का आन्दोलन जन्म ले लेगा। निश्चय ही यह सुधार-आन्दोलन शीघ्र ही आना चाहिए क्योंकि इस देश

के असाधारण राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन उस धर्म के ढाँचे को ही छिन्न-भिन्न कर देंगे, जो किसी अन्य समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल था। इस बात का तो अनुमान करना ही कठिन है कि भारतीय चिन्तन में जो परिवर्तन आनेवाला है, वह किस दिशा की ओर उन्मुख होगा क्योंकि यूरोपीय राष्ट्रों के भारत पर पड़े प्रभाव ने एक ऐसी अप्रत्याशित स्थिति उत्पन्न कर दी है, जिसका अनुमान भी इस पीढ़ी के द्वारा लगाना कठिन है।" वह पुनः लिखता है, "यदि भारत में शान्ति और स्थिरता रही तो यहाँ कोई बड़ा आन्दोलन जन्म लेगा। किन्तु इसका क्या रूप और आकार होगा और क्या प्रभाव होगा, इसका उत्तर तो समय आने पर ही दिया जा सकेगा।" किन्तु अल्फ्रेड लायल तथा अन्य लोग जो इस प्रकार के किसी शक्तिशाली अग्रदूत के आने की आवश्यकता को अनुभव कर रहे थे, उन्हें शायद यह पता ही नहीं चला कि धार्मिक क्रान्ति के एक ऐसे ही पुरोधा का भारत में प्रादुर्भाव हो गया है। उन्हें यह भी ज्ञान नहीं हो सका कि आर्यावर्त को पौराणिक अंधविश्वास के भँवर से बचानेवाला तथा पाश्चात्य नास्तिकता की ध्वंसात्मक प्रवृत्ति से उसका त्राण करनेवाला वह महान् आन्दोलन जन्म ले चुका है।

यह अद्वितीय शक्तिशाली और प्रतिभा-सम्पन्न अग्रदूत कौन था? यह महापुरुष दयानन्द सरस्वती था, जिसकी प्रभावपूर्ण और जलद गम्भीर ध्वनि देश में सर्वत्र सुनाई पड़ी, जिस ध्वनि ने हिन्दू समाज के तत्त्व को नष्ट करनेवाले मूर्तिपूजन तथा अन्य हजारों अंधविश्वासों और रूढ़ियों की प्रचण्ड भर्त्सना की। और हमारी मातृभूमि की रक्षा करनेवाला यह महान् आन्दोलन कौन-सा था? यह वैदिक धर्म के उसी पुनरुद्धारक द्वारा स्थापित आर्यसमाज था, जिसने वैदिक सत्य की पताका को दिग्-दिगन्त में फहराने का लक्ष्य बनाया और पुरातन एवं प्यारे आर्यावर्त की सुरक्षा में सन्नद्ध लोगों को एकत्र करने के लिए इस वैदिक सत्य को ही केन्द्रबिन्दु माना। मेरे साथी देशवासियो, भारत के इस महान् सुधारक की आरम्भिक जीवनी तथा उसके आध्यात्मिक संघर्षों का वर्णन करने का यह स्थल नहीं है। मेरा यह उद्देश्य भी नहीं है कि मैं आपके समक्ष आधुनिक आर्यावर्त के उस दिगंबत ऋषि के बचपन का हाल बयान करूँ, जबकि उसी समय उसके दिव्य जीवन में सचाई और वस्तुनिष्ठता का बीजारोपण हो गया था। भाइयो और सहयोगियो, मैं तो आपको यही बताना चाहता हूँ कि स्वामी दयानन्द के प्रादुर्भाव में हमें विश्व के संचालक परमात्मा का वह अदृश्य हाथ दिखाई देता है, जिसने उस महापुरुष को संसार में भेजकर भारत के सुधार का सूत्रपात किया तथा जिसके द्वारा स्थापित आर्यसमाज, उस महान् सुधारक के परिश्रम का एक शानदार और जीवन्त स्मारक है। निश्चय ही पुराण तत्त्व और अंध परम्परा में निर्दिष्ट चमत्कारों की अपेक्षा आर्यसमाज का प्रादुर्भाव

अधिक आश्चर्यप्रद तथा चमत्कारयुक्त है।

संसार के इतिहास में कुछ युग ऐसे आते हैं जो महान् परिवर्तनों के दिशा-सूचक होते हैं। इनसे हमें वे संकेत प्राप्त होते हैं, जिनसे नवीन युग के प्रवर्त्तन की सूचना मिलती है। इन्हीं से हमें यह भी ज्ञात होता है कि इतिहास के नवीन अध्याय का प्रारम्भ कब से हुआ है। इसी प्रकार, दीर्घावधि के पश्चात् हमें विश्व-रंगमंच पर ऐसे लोगों का आगमन भी दिखाई पड़ता है जिनके साथ महान् परिवर्तनों और आन्दोलनों का तादात्म्य हो जाता है। ये लोग वे होते हैं, जो अपने गुणों और शक्ति के बल पर अपनी शताब्दी का शासन करते हैं तथा युग-शक्तियों पर अपना स्थायी प्रभाव डालते हैं। यदि इन युग-शक्तियों को ऐसे महापुरुष अनुशासित और नियंत्रित नहीं करें, तो वे विद्यमान स्थितियों के सर्व-नाश का कारण तो बन जाती हैं, किन्तु नवीन परिस्थितियों को उत्पन्न करने की शक्ति उनमें स्वल्प मात्र भी नहीं होती। सभी युगों और देशों में संसार-संग्राम के इन वीर नायकों को दैवत्व प्रदान किया जाता रहा है। ये चाहे जिस रूप में आते रहे हों, उनमें एक गुण समानरूप से पाया जाता है। खतरों और प्रलोभनों के बीच भी ये लोग उन्नत मस्तक के साथ खड़े रहने का साहस रखते हैं, तथा उत्पीड़न, घृणा और अत्याचार के बीच ये सत्य और अच्छाई का ही दृढ़ता से साथ देते हैं। इनके मन में यह दृढ़ निश्चय रहता है कि सत्य ही अपनी महत्ता के बल पर अन्ततः विजयी होता है।

"सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः" सत्य की सदा विजय और असत्य की पराजय होती है। देवता लोग भी सत्य के इसी मार्ग पर आरुढ़ होते हैं।

प्राचीन ऋषियों का यह महान् शिष्य हिमालय के एकान्त को छोड़कर जब कर्म-क्षेत्र में अवतरित हुआ, तो उस समय तक अंधयुग की उन पौराणिक परम्पराओं का उसने सर्वथा त्याग कर दिया था जिनकी असत्यता का पूर्ण परि-ज्ञान वह अपने गम्भीर अध्ययन और निगूढ़ साधना के द्वारा कर चुका था। वह उस संग्राम के लिए भी पूर्णतया सन्नद्ध था, जिसमें उसे शीघ्र ही कूद पड़ना था। उस समय हिन्दुओं के साधारण अंधविश्वास भी ईसाइयत के विश्वासों के समक्ष टिक पाने में असमर्थ हो रहे थे। कारण यह था कि इन्हें भौतिक सभ्यता के आडम्बरों का सहारा मिल गया था। ऐसे समय में यह जानना कठिन नहीं था कि अन्ततः तराजू का कौन-सा पलड़ा भारी रहेगा। जब अंधविश्वास की अंधविश्वास से टक्कर होती हो, हवा का एक हल्का-सा झोंका भी विरोधी दलों की स्थिति को बदलने में सहायक हो सकता है। भारत के सभी प्रचलित धर्म—इस्लाम, बौद्ध, और जैन, ईसाइयत की आलोचना करने में अक्षम सिद्ध हो रहे थे क्योंकि वे स्वयं भी विरोधियों की आलोचना के समक्ष खड़े होने में अपने

को असमर्थ पाते थे। किन्तु दयानन्द ने इस धार्मिक युद्ध में एक नवीन नीति का समावेश किया। उसने यह नहीं कहा कि जिस सत्य का वे प्रचार करते हैं, वह एकान्ततः उनके ही द्वारा आविष्कृत एवं प्रतिपादित है। इस सत्य की तलाश के लिए उन्हें किसी अन्य धर्म या दार्शनिक सम्प्रदाय से दया की भीख नहीं माँगना पड़ी थी, अतः अन्य मतों की आलोचना करते समय उन्होंने भी उनके प्रति किसी प्रकार की दया नहीं दिखाई। उनकी दृष्टि में तुलनात्मक रीति से विचार करके ही उच्चतर ज्ञान और सत्य तक पहुँचा जा सकता है।

भाइयो, आप लोग इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं हैं कि जिस समय दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ था उस समय ईसाइयत का प्रसार कितने वेग से हो रहा था, किन्तु स्वामी जी के निर्भीक व्यवहार से इस गति पर रोक लग गई। हमारे दिग्-भ्रमित देशवासियों ने आश्चर्य से देखा कि उनपर आक्रमण करते लोग स्वयं ही चकित और भ्रमित हो रहे हैं। अब युद्ध का दृश्य बदल गया है और यह लड़ाई स्वयं उनके ही शिविर में लड़ी जानेवाली है। आक्रामक ईसाइयत को अपनी ही सुरक्षा में जुट जाना पड़ा। इसका सबसे अच्छा प्रमाण आपको ईसाई मिशनों के सालाना अधिवेशनों की रिपोर्टों मे मिलेगा, जिनसे ज्ञात होता है कि इन बैठकों का आधा समय तो इसी बात की चर्चा करने और योजना बनाने में लग जाता था कि आर्यसमाज के कार्य को कैसे अवरुद्ध किया जा सकता है?

किन्तु आप इसी तर्क के आधार पर मुझसे यह भी पूछेंगे कि क्या स्वामी दयानन्द के इन प्रयत्नों से स्वयं हिन्दुओं के शिविर में ही गड़बड़ नहीं फैली? आप शायद न्यायोचित भावना से अभिभूत होकर चिल्ला उठें—"हमारी प्रिय परम्पराओं के साथ दुर्व्यवहार हुआ है, हमारे स्मरणीय रीति-रिवाजों पर निर्मम प्रहार किये गये हैं।"

किन्तु मैं अपने हिन्दू समाज के भाइयों से पूछना चाहता हूँ, क्या आप मुझे संसार के इतिहास में किसी एक भी सुधार को दिखा सकते हैं, जो बिना हिंसा के सम्पन्न हुआ है? मानवता को शाश्वत आध्यात्मिक सत्य सदा ही रक्तपात, आगजनी, क्रान्ति, विप्लव, भूचाल तथा उन्मादयुक्त कृत्यों के माध्यम से प्राप्त हुए हैं। आप स्वयं भी इसका प्रतिवाद नहीं करेंगे कि हिन्दू धर्म के गहरे और भद्दे दागों को हटाना था और समाज की स्पष्ट बुराइयों को दूर करना था। हिन्दू समाज के विभिन्न वर्गों में भिन्न-भिन्न सुधारवादी आन्दोलनों की सत्ता और अस्तित्व ही इस बात को प्रमाणित करता है कि स्वामी दयानन्द का उस युग में प्रादुर्भाव युग की आवश्यकता थी। बंधुओ, मैंने आपके समक्ष अब तक उस काल की चर्चा की है, जब कि भारत के इतिहास में एक नवीन युग को लाने के लिए ही आर्यसमाज की स्थापना की गई थी। अब आप मुझे आज्ञा प्रदान करें, ताकि मैं आपको यह बता सकूँ कि अब तक आर्यसमाज प्रगति के किन-किन

सोपानों पर चढ़ चुका है। बेशक, मुझे सत्य की सीमा में रहकर ही आपको यह बताना होगा।

सर्वप्रथम तो मुझे यह कहना है कि आर्यसमाज ने पुराण-लेखकों द्वारा निर्मित देवगाथाओं और अंध-परम्पराओं के उस आश्चर्यजनक ढाँचे को बिखेर-कर चूर-चूर कर दिया है, जिसने शताब्दियों तक आर्यों को पुरोहितवाद की शृंखलाओं में बाँध रक्खा था। अब यह ढाँचा अपने आधार के साथ ही पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न हो जायगा।

दूसरी बात यह है कि आर्यसमाज ने ईसाइयत और इस्लाम से अच्छी लडाई लड़ी है। उसने इनको न तो रियायत दी और न इनसे कोई रियायत माँगी, तथापि यह इस युद्ध में बराबर विजयी रही है। वेदों की हालाँकि अनेक बार आलोचना की जाती रही है, किन्तु इस आलोचना से हम लोगों ने स्वल्पमात्र भी भय नहीं माना। अब तो फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, तथा जर्मनी के विद्वानों के परि-श्रम के परिणामस्वरूप संसार के इन सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थों में निहित सत्य और सौन्दर्य का दर्शन सब लोग करने लगे हैं। मैं अपने कथन की पुष्टि में अगणित प्रमाण पेश कर सकता हूँ जो यह सिद्ध करेंगे कि वेदों का जितना अधिक अध्ययन हुआ है, उनके भीतर के अधिक गम्भीर और पवित्र तथ्य उतनी ही अधिक मात्रा में उद्घाटित हुए हैं।

तृतीय, आर्यसमाज को ब्राह्मण-समाज तथा भारत के अन्य सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों की तुलना में प्रस्तुत किया गया है। इस तुलना में वह कहाँ खड़ा है? एक ओर हम देखते हैं कि इन नये धार्मिक समाजों को उनके अनुया-यियों के क्षेत्र के बाहर कोई जानता भी नहीं। इन्होंने सामान्य जनता का शायद ही ध्यान आकृष्ट किया हो, जब कि आर्यसमाज वेद और दयानन्द का नाम राजाओं के प्रासादों से लेकर किसानों की झोंपड़ी तक प्रचलित और लोकप्रिय हो चला है। वैदिक जागरण के लिए स्वयं को हुत करनेवाले उस महापुरुष की गम्भीर ध्वनि देश के अन्धकारपूर्ण कोनों में भी उतनी ही स्पष्टता से गूँज उठी थी, जितनी हिमालय की चोटियों पर गूँजी थी। किन्तु सबसे बड़े संघर्ष की स्थिति तो अब आनेवाली है। हमसे कुछ दूरी पर पश्चिम के अज्ञेयवाद का दानव खड़ा है, जिससे हमें अभी युद्ध करना ही है। अभी तक हमने इस दानव का सीधा मुकाबिला नहीं किया है, किन्तु समय आएगा जब कि सत्य की दृढ़ चट्टान पर आधारित पुरातन ऋषियों के वैदिक दर्शन को पश्चिम के अज्ञेयवाद के आमने-सामने खड़ा होना पड़ेगा।

हम थोड़ी देर के लिए रुकें और सोचें कि क्या हमें किसी अन्य शत्रु का तो सामना नहीं करना पड़ेगा? यह शत्रु पश्चिम का भौतिकवाद है, जो अपने साथ निराशावाद और सर्वेश्वरवाद की विचारधारा को लेकर आया है। किन्तु

इन सबसे हम भयभीत क्यों हों, जबकि हम जानते हैं कि ये सभी विचारधाराएँ ही देश के चिन्तन से निकली शाखा-प्रशाखाएँ हैं। निश्चय ही अब तो इनका विकृत रूप ही बचा है। अपने जन्म-स्थान पर तो इन्हें फलने-फूलने का मौका ही नहीं मिला, इसलिये अब ये जिस स्थान पर प्रचलित हैं, वहाँ इन्हें कोई उपलब्धि तो मिली नहीं; हाँ, इनकी हानि अवश्य हुई है। वर्तमान समय में पश्चिमी विचारों की लहर का आज के युग के वैचारिक संघर्ष में बच रहना कठिन है। श्रीमती बेसेंट तथा अन्य भौतिकवादियों का थियॉसॉफी की ओर झुकाव यह सिद्ध करता है कि यूरोप के सर्वाधिक प्रबुद्ध लोग भी पतंजलि और व्यास की धरती की ओर उत्सुकता और आशा-भरी दृष्टि से देख रहे हैं।

किन्तु मैं तो उस अज्ञेयवाद की चर्चा कर रहा था, जिसके प्रवर्तक प्रोफेसर हक्सले तथा हर्बर्ट स्पेन्सर हैं। प्रायः यह समझा जाता है कि मानव-मन और संसार के सर्वाधिक प्राचीन दर्शन के स्रोत संस्कृत साहित्य से स्पेन्सर ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया है। किन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि स्पेन्सर ने प्राचीन दर्शनों (षड्दर्शन) से बहुत-कुछ लिया है। यह दूसरी बात है कि उसने इसे गौण स्रोतों से ग्रहण किया हो। यही कारण है कि वे दैवी सत्य के पवित्र मंदिर के द्वार पर ही भौंचक्के-से खड़े हैं। हमें पता नहीं कि जब आध्यात्मिक, ज्योति के पुंजरूपी सूर्य ने अपनी पवित्र किरणों का निक्षेप उनपर करना आरम्भ किया तो वे उसी क्षण मुँह मोड़कर क्यों खड़े हो गये? काश, स्पेन्सर की-सी प्रतिभा-वाले व्यक्ति ने वेदों और उपनिषदों का मूल रूप में अध्ययन उन ऋषियों के चरणों में बैठकर किया होता, जो इनके वास्तविक व्याख्याता रहे हैं। यदि ऐसा होता, तो वे अपने पाठक-मण्डल को संदेह और अशान्ति के वातावरण से निकाल-कर शान्ति और दिव्य प्रकाश के स्वर्ग में ले-जाने में सफल होते। किन्तु मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मि० स्पेन्सर की विचारधारा का प्रादुर्भाव भी हमारे देश के शाश्वत सत्य और आध्यात्मिकता के साथ यूरोप को जोड़ने का एक सम्पर्क-सूत्र सिद्ध होगा। सज्जनो, मेरे पास इतना समय और आपके पास इतना धैर्य नहीं है कि मैं स्पेन्सर के द्वारा व्याख्यात दर्शन के सूक्ष्म तत्त्वों को आपके समक्ष प्रकट करूँ, किन्तु इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह अज्ञाततत्त्व की परिसीमा पर धर्म और विज्ञान के बीच सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। अपने एक अन्य ग्रन्थ में वह एक वैयक्तिक और मानवता के अनुरूप ईश्वर की कल्पना करता है जो सद्वृत्तियों से परिपूर्ण है। उसने ईसाइयों और मुसलमानों द्वारा मान्य दैवी इच्छा और दैवप्रदत्त चेतना के सिद्धान्त का भी उपहास किया है। अपनी इसी पुस्तक के अन्त में वह लिखता है—"किन्तु इस सत्य को स्पष्टतया जानना होगा कि एक निगूढ़ रहस्यमय सत्ता अवश्य है, जिसका प्रत्यक्षीकरण हम सर्वत्र करते हैं तथा जिसके आरम्भ और

अन्त का अनुमान करना भी कठिन है। हम ऐसे रहस्यों के बारे में जितना ही जानने का प्रयत्न करते हैं, वे उतने ही अधिक रहस्यपूर्ण हो जाते हैं। किन्तु एक बात तो निश्चित है कि अन्ततः एक परम तत्त्व अवश्य बच रहता है जो अपरिमित और शाश्वत शक्ति का पुंज है तथा उसी से यह सब-कुछ आविर्भूत होता है। हाँ, यह ठीक ही है कि यह ईश्वरीय रहस्य तब तक तो कायम ही रहेगा, जब तक दुर्बल मानव-जाति अपनी इन्द्रियों और मन के द्वारा ही उस अपरिमित शाश्वत शक्ति को जानने की चेष्टा करती रहेगी।" इसी कारण से प्राचीन ऋषि ने अपार आध्यात्मिक आनन्द को अनुभव कर कहा था—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

—कठोपनिषद् ३-१२, १३

निश्चय ही परमात्मा ने इन्द्रियों को विषयानुगामी बनाया है। अतः वे बाह्य पदार्थों को ही देखती हैं, किन्तु शाश्वत आत्मतत्त्व को नहीं देखतीं। जो तत्त्वज्ञ ऋषि शाश्वत जीवन चाहते हैं, वे अपनी इन्द्रियों को उनके सहज पथ से हटा लेते हैं तथा सर्वत्र विद्यमान ईश्वर को देखते हैं।

परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार करने के पश्चात् उसके परमानन्द को अनुभव करता हुआ ऋषि कहता है—इन्द्रियाँ उसे नहीं जानतीं, बुद्धि भी पीछे रह जाती है; क्योंकि विश्व में विद्यमान ब्रह्म सभी से सूक्ष्म है।

शाश्वत, सर्वत्र विद्यमान पुरुष का विचार माण्डूक्योपनिषद् में अत्यन्त मनोग्राही रूप में किया गया है—

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः॥

जाग्रत् स्थानवाला, बाहर बुद्धिवाला, सात अंगोंवाला, उन्नीस मुख-वाला, स्थूल-भोगी, वैश्वानर पहला पाद है।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥

स्वप्न-स्थानवाला, भीतर बुद्धिवाला, सात अंगों वाला, उन्नीस मुख वाला सूक्ष्म-भोगी, तैजस, दूसरा पाद है।

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।

जब सोया हुआ, किसी कामना को नहीं चाहता, किसी स्वप्न को नहीं

देखता, वह सुषुप्त अवस्था है। सुषुप्त स्थानवाला अपने स्वरूप में स्थित, उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप ही आनन्दमय निश्चय आनन्दभोक्ता, चेतनारूप मुखवाला विशेष प्रज्ञावाला तीसरा पाद है।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥

न भीतर की ओर प्रज्ञा-बुद्धिवाला, न बाहर की ओर प्रज्ञावाला, न दोनों ओर प्रज्ञावाला, न उत्कृष्ट प्रज्ञावाला, न प्रज्ञावाला, न प्रज्ञारहित, व्यवहार में आने के अयोग्य, अग्राह्य, जिसका लक्षण न हो सके, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, एकात्मप्रत्ययसार अर्थात् वह केवल आत्मा है, यही प्रतीति जिसका सार है। प्रपंच जहाँ शान्त हो जाते हैं, शान्त, आनन्दमय, अतुलनीय चौथा पाद मानते हैं। वह आत्मा है और वही जानने के योग्य है।

पश्चिम के विचारों और दर्शन का आत्मा को उन्नत करनेवाले उपनिषद् के दर्शन के साथ आश्चर्यजनक सामंजस्य देखिये। हर्बर्ट स्पेन्सर तथा आगस्टस कॉम्टे और अन्य भी कई दार्शनिक हमें जागृत अवस्था तक लाकर ही छोड़ देते हैं। उनकी गति भी यहीं तक है। किन्तु सत्य के सच्चे अन्वेषी, प्राचीन काल के ऋषि एक पग आगे बढ़कर साधक का हाथ थाम लेते हैं। तत्पश्चात् इन्द्रियगोचर विषयों को एक ओर छोडकर मनुष्य निरंतर ऊँचा उठता जाता है और आखिर में सर्वानन्दयुक्त परमपिता की शान्त गोद में पहुँचता है। इस स्थिति तक पहुँचने के पहले मनुष्य को पारस्परिक बंधुत्व-भावना की अनुभूति नहीं होती, किन्तु इस स्थिति को प्राप्त कर वह वेदमंत्र के रूप में गा उठता है—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

हम सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें। यही धरती पर स्वर्ग के राज्य की उक्ति है। किन्तु आज तो अहंकार तथा सांसारिक आसक्ति ने समाज के मर्मस्थल को ही खा डाला है, केवल भारत में नहीं, किन्तु सर्वत्र संसार में।

संसार के बाह्य और आन्तरिक रूपों में सामंजस्य लाने तथा आहत मानवता के व्रणों का उपचार करने के लिए आर्यसमाज ने निकट भविष्य में प्राप्त करने योग्य दो प्रकार के लक्ष्य निर्धारित किये हैं।

आर्यसमाजी भाइयो, यह आप ही बतायें कि भाई को भाई से जोड़ने का गर्वयुक्त संतोष अपने बन्धु को निश्चित लक्ष्य तक पहुँचाने में मार्गदर्शन देना तथा पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना, क्या आपके द्वारा करणीय कृत्य नहीं हैं? भविष्य में सारे संसार का एक ही सार्वभौम धर्म होगा, यह कहना तो उतना ही कठिन है जितना कि किसी परोक्ष तथ्य के लिए कह सकना। विभिन्न देशों और प्रदेशों के सन्त पुरुषों तथा दार्शनिकों ने यह अनुभव किया है कि सारी

मानव-जाति के लिए एक सामान्य धर्म में विश्वास रखना आवश्यक भी है और व्यावहारिक भी। मैं यह समझ नहीं सका कि इस सुझाव को असम्भव क्यों माना जाता है। आप मुझे स्वप्नदर्शी कह सकते हैं, किन्तु मुझे इस बात का सन्तोष है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह सत्य है और इस तथ्य की सचाई में मुझे पूरा विश्वास भी है। मेरी भाँति मेरे अन्य साथी भी मेरे इस कथन से सहमत हैं। एक महान् लेखक कहता है—"हरएक आदमी को यह मानना चाहिए कि वह अतीत का वारिस है किन्तु भविष्य का जनक भी है। उसके विचार उन बच्चों के तुल्य हैं जिसे उसने जन्म दिया है और उसको ध्यान रखना है कि वे अकाल में ही मृत्यु के ग्रास न बन जायें। उसे यह भी मानना चाहिए कि वह उन असंख्य इकाइयों में से एक है, जिसके माध्यम से कोई परोक्ष ईश्वरीय सत्ता उसे किसी कार्य का साधन बनाना चाहती है। यह अज्ञात सत्ता जब उस व्यक्ति में किसी विश्वास का बीजारोपण करती है, तो उसे भी इस बात का अधिकार मिल जाता है कि वह उसका प्रचार करे, तथा तदनुकूल उसपर आचरण भी करे।"

कोई इस बात से इन्कार नहीं करेगा कि उक्त कथन में सर्वोच्च सत्य का तत्त्व निहित है। इसी विश्वास के कारण स्वामी दयानन्द ने सार्वभौम बंधुत्व तथा सामान्य मानव-धर्म को क्रियान्वित करने का स्वप्न देखा था।

मेरे देशवासी भाइयो, इस पृथ्वी के दूसरे गोलार्द्ध पर रहनेवाले हमारे भाई इस बात को अनुभव करते रहे हैं कि धरती पर रहनेवाले मानवों को एक सार्वजनीन धर्म की स्थापना के आदर्श को वास्तविकता में परिणत करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

क्या आप इस शानदार साहसयुक्त भावना से अपने-आपको पृथक् रखना चाहेंगे? परन्तु याद रक्खें, परमात्मा का दिव्य प्रकाश तो निर्बाध गति से आगे बढ़ता ही जाएगा। अब यह आपको ही तय करना है कि क्या आप भी इस प्रकाश-दीप को अपने हाथ में लेकर आगे बढ़ेंगे या कायर की भाँति पीछे रह जायेंगे और उस पवित्र ध्वज का परित्याग कर देंगे जिसे तुम्हारे पवित्र ऋषि ने अपने पावन हाथों के द्वारा ऊँचाई तक फहराया था? अन्त में आपसे नमस्ते कहने से पूर्व मैं एक बात और कहना चाहूँगा।

आर्यसमाज के भाइयो! हमारे प्रिय और इतिहास-प्रसिद्ध आर्यावर्त देश के पुनर्जागरण का पवित्र दायित्व आपको सौंपा गया है। हमने इसके लिए कुछ तो किया ही है। किन्तु हमें इस बात की सावधानी रखनी होगी कि हम अपनी उन्नति से ही सन्तुष्ट न हो जायें। यदि ऐसा हुआ, तो हमें इसके दो दुष्परिणाम भुगतने होंगे। प्रथम तो इससे हममें व्यर्थ का गर्व उत्पन्न हो जायगा, और दूसरे हम आलसी हो जायँगे। हममें मानव-मन तथा उसकी शक्ति और सफलता को

लेकर अति-विश्वास उत्पन्न हो जायगा और स्वयं की विलास-युक्त परिस्थितियाँ हमें अधिक दुर्बल बना देंगी। मुझे ऐसा लगता है कि हम दो विरोधी परिस्थितियों के बीच डाँवाडोल की-सी स्थिति में पड़ गये हैं। कभी तो सामान्य बातों को लेकर शिकायत करते हैं, और कभी अकारण ही सन्तोष धारण कर लेते हैं।

हमारे विचारों और हमारी कामनाओं में तो अपार महत्त्वाकांक्षाएँ भरी हैं, किन्तु जब हमें व्यवहार के धरातल पर उतरना पड़ता है, हमें विपत्तियों का सामना करने के लिए कहा जाता है, जब हमारे समक्ष त्याग करने का अवसर आता है, लक्ष्यप्राप्ति के लिए हमें यत्न करना पड़ता है, उस समय निर्जीव की भाँति हमारे हाथों से शस्त्र गिर पड़ते हैं और हम निराशा में भरकर उतनी ही सरलता के साथ अपने प्रयत्नों को तिलांजलि दे देते हैं जैसी सहूलियत के साथ हमने लक्ष्यप्राप्ति के लिए पूर्व समय में आकांक्षा की थी। भाइयो, आर्यसमाज और उसके साथ इस देश का भविष्य भी आपके ही हाथों में है। भारत की अवनति और दुर्दशा का कारण सदा स्वार्थ की प्रवृत्ति ही रही है। अत: समय की सर्वाधिक आवश्यकता यही है कि हम सचाई के मूल्य को समझें तथा उसके लिए अपने भौतिक स्वार्थों की बलि देने के लिए तैयार रहें। हम स्वार्थ का त्याग करें और अपने विश्वास का हनन न होने दें। हमारे देश के ऊपर विपत्तियों के जो बादल छाये हुए हैं, उन्हें दूर करने में न तो हमें पाखण्डपूर्ण आचरणों से ही सहायता मिलेगी और न केवल बुद्धि का प्रयोग ही इसमें सहायक होगा। भाइयो, मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि भूतकाल में हमने जो गलतियाँ की हैं, उनका प्रतिकार पूर्ण आत्म-त्याग के बिना नहीं किया जा सकेगा। हमें कर्त्तव्य और सत्य के प्रति पूर्ण निष्ठा प्रदर्शित करनी होगी तथा मिथ्याचरण और अवसरवादिता से किसी भी परिस्थिति में समझौता नहीं करना होगा। तुच्छ व्यक्तियों की आलोचना से हम सत्य-निष्ठा और देशभक्ति के मार्ग से विचलित न हों।

भाइयो, तथा सहकर्मियो, इस पवित्र अवसर पर हम व्रत धारण करें और परमात्मा के दिव्य प्रकाश की साक्षी में अनुभव करें कि हमारे प्यारे देश का भविष्य खतरे में है। अत: इस पीड़ाभरे क्षण में, मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि हम पूर्ण हार्दिकता, और शक्ति के साथ सत्य और देश-भक्ति की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपनी इच्छाओं का भी त्याग करने के लिए तत्पर रहें। ईश्वर आपको अपने कर्त्तव्य-पालन में सफल होने का आशीर्वाद प्रदान करे।

(प्रथम संस्करण, विरजानन्द प्रेस लाहौर में १८९३ ई० में प्रकाशित)

आर्यसमाज और राजनीति

(आर्यसमाज लाहौर के ३१वें वार्षिकोत्सव पर दिये गये भाषण का सारांश)

देवियो और सज्जनो,

आज सायं मुझे आपके समक्ष जिस विषय पर बोलने के लिए कहा गया है, वह सामयिक तथा गम्भीर समस्याओं से जुड़ा है। मैं नितान्त संकोचपूर्वक इस-पर अपने विचार प्रकट करने के लिए खड़ा हुआ हूँ। मुझे यह सुझाव दिया गया था कि अच्छा होता, यदि मैं अपने इस व्याख्यान को लिखकर लाता, ताकि इसे अधिकारियों के समक्ष विकृत करके पेश करने का कोई भी प्रयत्न निष्फल हो जाता। तथापि, मैं इस बात को लेकर क्यों संदेह करूँ कि मेरे विचारों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया जायगा? और सबसे बड़ी बात तो यह है कि आर्यसमाज के एक उपदेशक को संवाददाताओं, जासूसों तथा मुखबिरों से भयभीत नहीं होना चाहिए। आर्यसमाज जो कुछ करता है वह खुले आम करता है। उसका प्रचार सबके सामने प्रत्यक्ष रूप में होता है। उसके सदस्यों में दीक्षित और अदीक्षित तथा भीतरी केन्द्र और बाहरी केन्द्र जैसा कोई भेद नहीं है। उसकी बैठकें न तो गुप्त रूप से होती हैं और न उसकी कोई कार्यवाही ही रात के अँधेरे में सम्पन्न की जाती है। वह जो कुछ करता है, वह जनता के समक्ष आ जाता है। इसलिए मैं बिना किसी भय के और अपने लक्ष्य तथा सिद्धान्तों की सत्यता से उत्पन्न आत्म-विश्वास के आधार पर आपके समक्ष इस मंच पर उपस्थित होकर 'आर्य-समाज और प्रचलित राजनीति' विषय पर अपनी संस्था की स्थिति स्पष्ट करूँगा। यद्यपि इस व्याख्यान की अपनी सीमाएँ हैं, किन्तु यह समाज के सभी वर्गों के लिए उपयोगी है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आज इस व्याख्यान में जो बातें कहीं जावें, वे भारत तथा इंग्लैण्ड के प्रत्येक कोने तक फैलें। लॉर्ड मिण्टो और जान मॉर्ले, यहाँ तक कि हमारे कृपालु सम्राट् को भी इस व्याख्यान की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हो, यह मेरी कामना है। किन्तु मेरी वास्तविक अभिलाषा तो अपनी अपील को सम्राटों के भी सम्राट् उस परमात्मा तक पहुँचाने की है, जिसके समक्ष संसार के सभी सम्राट् नतमस्तक होते हैं।

आपको यह बताना आवश्यक नहीं है कि आर्यसमाज क्या है। इसे समझाना आपकी बुद्धिमत्ता का अपमान करना होगा। आजकल आर्यसमाज एक भयंकर

विपत्ति के दौर से गुजर रहा है। आपमें से बहुतों ने अपने पवित्र धर्म के लिए भारी कष्ट उठाये हैं। आपकी इस कष्ट-सहिष्णुता ने आपके पवित्र उद्देश्य को अधिक पावन बना दिया है। जिस उत्पीड़न के कारणों का पता नहीं चलता, उसके लिए लोगों का कष्ट उठाना व्यर्थ ही होता है। हम पीड़ा और कष्ट उसी उद्देश्य के लिए उठाते हैं जिसे हम अपनी भौतिक उपलब्धियों की तुलना में अधिक प्रिय समझते हैं। "राजनीति" शब्द से भी आप सुपरिचित हैं। राजनीतिदर्शन के सूक्ष्म तत्त्वों में जाने की आपके लिए कोई आवश्यकता नहीं है। यह अवसर भी इसके लिए उपयुक्त नहीं है कि राजनीति-विज्ञान की सूक्ष्मताओं में प्रवेश किया जाय। संक्षेप मे यही कहना उचित होगा कि प्रशासन तथा राजा (शासक) और प्रजा के सम्बन्धों की विवेचना राजनीति की परिसीमा में आते हैं। राजनीति-विज्ञान का सम्बन्ध शासन-तन्त्र, राज्य के कानूनों, रीतिरिवाजों तथा उन सब विषयों से होता है जो नागरिकों से सम्बन्धित हैं। किन्तु इस देश में "राजनीति' शब्द का अर्थ बहुत सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है। हमारे यहाँ राजनैतिक संस्था उस संगठन को कहा जाता है जिसका एकमात्र उद्देश्य सरकार के कार्यों की अमैत्रीपूर्ण तथा शत्रुवत् आलोचना करना होता है। शासकों के वर्ग को, जो सम्पूर्ण प्रशासन चलाते हैं, राजनैतिक नहीं कहा जाता। जिनके हाथों में सम्पूर्ण सत्ता होती है, वे ही राजनीति से निरपेक्ष माने जाते हैं। इस शब्द के सीमित अर्थ में आज भारत में तीन राजनैतिक दल हैं—नरमदली, अतिवादी और आतंकवादी। मुझे उपर्युक्त दलों के उद्देश्यों और लक्ष्यों की व्याख्या नहीं करनी है। ये सारी बातें आपको ज्ञात ही हैं। मुझे तो यही सिद्ध करना है कि एक संस्था के रूप में आर्यसमाज का इन तीनों दलों से कुछ भी लेना-देना नहीं। उसे सांसारिक शक्ति और सत्ता से भी कुछ प्रयोजन नहीं है, और न लौकिक सत्ता से प्राप्त लाभों में ही उसकी कोई रुचि है। बल्कि किन्हीं अर्थों में तो आर्यसमाज की अभिरुचि भारत के राजनीतिज्ञों के स्वार्थों से पूर्णतया विपरीत ही है।

आज आर्यसमाज विपत्ति के बादलों से क्यों घिरा है ?

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आज आर्यसमाज की स्थिति को स्पष्ट करने की क्या आवश्यकता आ पड़ी ? किन कारणों से ऐसा करना आवश्यक हो गया। ऐसे विषय पर ईसाइयों के गिरजाघरों, ब्राह्ममन्दिरों, बौद्ध मठों, जैन स्थानकों तथा मुसलमानों की मस्जिदों में तो वक्तृताएँ नहीं होतीं। भारत के सार्वजनिक जीवन का एक निरपेक्ष पर्यवेक्षक यह देखकर हैरान हो जाता है कि जिस संस्था के उद्देश्य ही पूर्णतया धार्मिक तथा सामाजिक हैं, उसे सत्ताधारियों के उत्पीड़न का शिकार हो जाने के कारण अपने औचित्यपूर्ण क्षेत्र से आगे बढ़ना पड़ता है

तथा उसके व्याख्यानदाता को शिकायतों से भरी करुणापूर्ण कहानियाँ सुनानी पड़ती हैं, जबकि उसे तो अपने श्रोताओं के समक्ष आध्यात्मिक उपदेश प्रस्तुत करने चाहिएँ। वस्तुतः भारत के सार्वजनिक जीवन की यह एक विडम्बना है, किन्तु इस विद्रूपात्मक स्थिति के लिए आर्यसमाज को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। आर्यसमाजियों की शक्तियों को आध्यात्मिक उन्नति तथा समाज-सुधार के स्वस्थ कार्यक्रमों से मोड़ा जा रहा है, तो इसके लिए कुछ अदूरदर्शी सरकारी अधिकारी ही जिम्मेदार ठहराये जायेंगे, और उन्हें ही सभ्य संसार की सर्वोच्च अदालत के समक्ष उत्तर देना होगा। ऐसा लगता है कि कुछ सरकारी अधिकारी आर्यविरोधी, अविवेकपूर्ण पूर्वाग्रह के विषाणुओं से ग्रस्त हैं और अपने ऐसे ही दूषित वातावरण से मुक्त नहीं हो सके हैं। धर्म-चर्चा का सम्पूर्ण वातावरण ही दूषित हो चुका है। आर्यसमाज एक शक्तिशाली संगठन है। उसने धार्मिक बुराइयों तथा प्रचलित अंध-विश्वासों का जैसा खण्डन किया, उसी के कारण कट्टर रूढ़िवाद तथा धार्मिक पक्षपात ने अपना सिर उठाया और अब ये ही तत्त्व आर्यसमाज के विरोध में मोर्चे बाँधे खड़े हैं। जिन धूर्त सम्प्रदायवादियों के छल-छद्म को आर्यसमाज ने खुले आम नंगा कर दिया, आज वे ही प्रतिशोध लेने के लिए ऊँचे स्वर में उसका विरोध कर रहे हैं।

वे ऊटपटाँग आलोचनाओं का अम्बार लगाकर आर्यसमाज द्वारा तैयार किये गये बौद्धिक मंच को नष्ट करना चाहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सरकारी अधिकारी, जिनके पास स्वयं की दृष्टि नहीं है, तथा जो वस्तुस्थिति को निरपेक्ष भाव से देखने में असमर्थ हैं, उन्होंने भी उक्त सम्प्रदायवादियों का साथ देने का निश्चय कर लिया है। इसके अतिरिक्त और कौन-सी व्याख्या है जिसके आधार पर सरकार के आर्यसमाज के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैये को समझाया जा सकता है? यह कहा जाता है कि आज आर्यसमाज विपत्तियों की घटाओं से घिर गया है, क्योंकि लाजपतराय उसका एक प्रमुख सभासद् है। सचमुच यह एक विचित्र युक्ति है। प्रथम तो यही कहना उचित होगा कि लाजपतराय के विरुद्ध दोषारोपण तो बहुत किये गये, किन्तु सिद्ध एक भी नहीं हुआ। उन्होंने अपने विरोधियों को बहादुरी के साथ चुनौती दी है कि वे उनपर लगाये गये आरोपों को सिद्ध करें। इस चुनौती का सामना करने के लिए भारत-मंत्री-स्तर तक का कोई भी सरकारी अधिकारी तैयार नहीं है। पुनः लाजपतराय की ओर देखिये। वे कितने महान् हैं! उन्होंने अपने को एक सच्चा आर्य सिद्ध किया है। उनके साथ अन्याय किया गया है। उनको एक ऐसे कानून के अन्तर्गत नजरबंद किया गया, जिसकी वैधता अभी तक सिद्ध नहीं हो सकी है, तथापि उनके हृदय में शासकों के प्रति कोई दुर्भावना नहीं है और वे प्रत्येक जन-हितकारी कार्य में अपना सहयोग देने के लिए तैयार हैं। तथापि यदि हम केवल तर्क के लिए ही यह

मान लें कि लाजपतराय एक घोर षड्यंत्रकारी हैं, तो क्या यह उचित होगा कि केवल इसी कारण से उस सारे संगठन (आर्यसमाज) को ही खतरनाक राजनैतिक आन्दोलन मान लिया जाय ? विपिनचन्द्र पाल ने अनेक आपत्तिजनक उद्गार व्यक्त किये हैं। वे पहले ब्रह्मसमाज के आचार्य रहे हैं और उसके आज तक सदस्य हैं। इसके उपरान्त भी कोई ब्रह्मसमाज को राजनैतिक आन्दोलन नहीं कहता। एक कातिल सत्येन्द्रनाथ बोस ब्राह्म था। उसे फाँसी पर लटकाये जाने के पहले ब्रह्मसमाज के प्रधानाचार्य शिवनाथ शास्त्री को जेल में उससे मिलने की इजाजत दी गई और उसे आध्यात्मिक उपदेश देने के लिए कहा गया। केवल इसी कारण ब्रह्मसमाज पर राजनैतिक आन्दोलन होने का लांछन नहीं लगाया जाता और न यह कहा जाता है कि उसका लक्ष्य वर्तमान सरकार को उखाड़ फेंकना है। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि पिण्डीदास को उससे वंचित रक्खा गया, जो षड्यंत्र करने के अपराध में जेल में रक्खा गया था। एक ईसाई प्रचारक को तो इस बात की इजाजत है कि वह जेल में जाकर अपने सहधर्मी अभियुक्तों की धार्मिक आवश्यकताओं को पूरा करे, चाहे वे अभियुक्त राज-विद्रोह के ही अपराधी क्यों न हों, किन्तु यदि एक आर्यसमाज का प्रचारक ऐसा करने की इच्छा जाहिर करता है, तो वह स्वयं षड्यंत्रकारी माना जाता है।

आर्यसमाज और सम्राट् का संदेश

किन्तु यह भी आक्षेप किया जाता है कि आर्यसमाजी अकारण ही चीख-पुकार मचा रहे हैं। सरकार तो धर्म के सम्बन्ध में तटस्थता की नीति के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है। यह तो सत्य है कि कुछ सरकारी अधिकारियों ने घोषणा की है कि वे आर्यसमाज को एक धर्म-संस्था से भिन्न और कुछ नहीं समझते तथा आर्यसमाज पर एक संस्था के रूप में वे आरोप नहीं लगाते जो उसके किन्हीं सदस्यों पर लगाये जा सकते हैं। किन्तु कथन की अपेक्षा कर्म ही अधिक प्रामाणिक होता है और मैं अभी यही बताऊँगा कि कुछ सरकारी अधिकारियों ने तो आर्यों को उत्पीड़ित करना अपना परम कर्त्तव्य केवल इसीलिये समझ रक्खा है क्योंकि वे आर्य हैं। हमारे कृपालु सम्राट् ने अपनी स्वर्गीय माता के चरण-चिह्नों पर चलते हुए अभी हाल में एक संदेश प्रसारित किया है, जो उनके उदार तथा अनुकम्पापूर्ण भावों का द्योतक है। इस कृपापूर्ण संदेश में हमारे सम्राट् ने, जो स्वयं यहाँ से हजारों मील दूर रहने के कारण इस देश की वास्तविक दशा से अपरिचित हैं, गर्वपूर्वक घोषणा की है कि उनकी किसी भी प्रजा को धार्मिक विश्वासों के आधार पर कभी भी पीड़ित या त्रस्त नहीं किया गया। मैं चाहता हूँ कि सरकारी अधिकारी निश्छल मन से यह घोषणा करें कि क्या उन्होंने, उनके और हमारे बादशाह द्वारा उनमें प्रकट किये गये इस विश्वास को नहीं तोड़ा है? मैं

इसे नगाड़ों की आवाज के साथ कहता हूँ और यह भी चाहता हूँ कि हमारे दयालु सम्राट् इस सचाई को जानें कि उनकी प्रजा का एक वफादार और कानून का पालन करनेवाला तबका केवल इसीलिए अत्याचार और अन्याय का शिकार हो रहा है, क्योंकि वह एक विशिष्ट धर्म का अनुयायी है। मैं इसे स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण दूंगा—

गुलाबचन्द का मामला

गुलाबचन्द सिक्ख रेजिमेण्ट में एक क्लर्क था। वह अपना कार्य पूरी ईमानदारी और निष्ठा से किया करता था। उसके अधिकारियों ने कई बार इसके लिए उसकी प्रशंसा की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश वह आर्यसमाजी था और इस कारण उसे अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। कुछ समय सेवा करने के पश्चात् गुलाबचन्द के वेतन में वृद्धि हुई और उसे एक दूसरी सिक्ख रेजिमेण्ट की सैनिक छावनी में स्थानान्तरित कर दिया गया। उसने नये स्थान पर जाने से पहले अवकाश का प्रार्थनापत्र दिया। यह रद्द कर दिया गया। इसपर वह स्वयमेव वैयक्तिक रूप से अपने कमाण्डिग ऑफिसर से मिला, और उसने अपने अवकाश के प्रार्थनापत्र पर अफसर से पुनर्विचार करने के लिए कहा। इस अपराध पर पुन: उसे तीन दिन तक हाजत का दण्ड दिया गया। जब वह इससे मुक्त हुआ, तो उसके अधिकारी ने उससे पूछा कि क्या वह आर्यसमाजी तो नहीं है? जब उसने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया तो उसे अगले दिन प्रात:काल अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत होने का आदेश दिया गया। अगले दिन जब वह अपने अधिकारी के पास पहुँचा तब उसे नौकरी से बर्खास्त करने का आदेश सुना दिया गया।

बेचारा गुलाबचन्द इस चोट से लड़खड़ा गया। जिस अधिकारी ने उसे बर्खास्त किया था, उसे ऐसा करने के आदेश उच्च अधिकारियों से मिले थे, किन्तु उसे गुलाबचन्द पर दया आ गई और उसने अपने आदेश में यह लिख दिया कि गुलाबचन्द की सेवा-निवृत्ति का एक कारण उसका आर्यसमाजी होना है। इस आदेश में यह भी उल्लिखित है कि यह एक परिश्रमी व्यक्ति है। गुलाबचन्द के पश्चात्ताप का कोई परिणाम नहीं निकला। वह तो उस वर्ग का था, जिसको प्राय: शिकार के लिए ही चुना जाता है। उसका सारा रोना-चीखना अरण्यरोदन सिद्ध हुआ। हमारे कृपालु सम्राट् तो हमसे हजारों मील दूर हैं। अत: वे अपनी गरीब भारतीय प्रजा की पुकार कैसे सुन सकते हैं? वे दिन बीत गये जबकि राजा अपनी प्रजा के समीप निवास करता था और अफसरों के अत्याचारों से पीड़ित प्रजा की प्रार्थनाओं को सुनता था। सरकारी अफसरों की यदि ऐसी ही हठधर्मिता रही, तो यह कहना ही पड़ेगा कि किसी भी भारतीय को उसकी

धार्मिक आस्थाओं के कारण पीड़ित किया जाता रहेगा।

करनाल जिले का बेचारा जैलदार

मेरे कथन की पुष्टि में एक और प्रमाण लीजिये। करनाल जिले में तीन जैलदार हैं। इनमें एक की सेवा-पंजिका में निम्न प्रकार लिखा गया है—"यह एक बहुत अच्छा जैलदार है, किन्तु आर्यसमाजी होने के कारण इसकी निगह-बानी की जानी चाहिए।" जब कभी कोई अफसर इस डायरी को पढ़ता है तो वह जैलदार की ओर तीखी नजर से देखकर कहता है—"अच्छा तो तुम आर्यसमाजी हो ? ठीक है।" यदि मुझे यह आश्वासन दिया जाय कि सरकार से पीड़ित आर्यसमाजियों की उचित शिकायतों को सुना जायगा और उनका निवारण भी किया जायगा, तो मैं सरकार के समक्ष ऐसे अनेक व्यक्तियों के नाम उनके कथन की पुष्टि में प्रमाण पेश कर सकता हूँ।

एक डिप्टी कमिश्नर

एक जिलाधीश दौरा करते हुए एक गाँव में पहुँचे। वहाँ के प्रतिष्ठित निवासियों ने डिप्टी कमिश्नर का स्वागत किया। औपचारिक बातचीत के बाद जिलाधीश ने गाँववालों से प्रश्न किया कि क्या इस गाँव में कोई आर्य रहते हैं? स्वीकारात्मक उत्तर मिलने पर उसने गाँव-वासियों को यह बहुमूल्य परामर्श दिया—"अच्छा, यदि आप अपने गाँव में शान्ति चाहते हैं तो इन बदमाशों को यहाँ से भगा दो।" श्रोताओं में दो विनोद-प्रेमी आर्यसमाजी भी थे। उन्हें यह समझ में आ गया कि जिलाधीश जो काम स्वयं नहीं कर सकते हैं, उसे वे गाँववालों से कराना चाहते हैं। अतः कुछ देर मौन रहने के बाद उनमें से एक बोला—"हुजूर, हम इसे कैसे कर सकते हैं? यदि आप स्वयमेव खुले रूप में इसे करने में हमारी मदद कर सकें, तो हम इस काम को करने की हिम्मत कर सकते हैं।" इसपर जिलाधीश उनके वाग्जाल में बुरी तरह फँस गये। अपना पीछा छुड़ाने के लिए जिलाधीश ने कहा—"मैं इस कार्य को नहीं कर सकता हूँ। तुम यह काम ऐसे ढंग से करो कि ऐसा पता लगे कि तुम अपनी ओर से ऐसा काम कर रहे हो। यह बात निश्चित समझो कि आर्य तुम्हारे विरुद्ध जो शिकायतें (पुलिस में) दर्ज करायेंगे, उनपर कोई कार्यवाही नहीं की जायेगी।" इसपर गाँववासी आर्य ने चुटकी ली—"हुजूर, जिस संस्था के विरुद्ध कार्यवाही करने से आप डरते हैं, हम उसके खिलाफ क्या कर सकते हैं?"

"जाट सभा" द्वारा यज्ञोपवीत पर प्रतिबन्ध का विरोध

इस शताब्दी के पहले दशक में संयुक्तप्रान्त, आगरा व अवध (वर्तमान

उत्तरप्रदेश) में "जाट सभा" नामक संस्था की स्थापना इस उद्देश्य से की गई थी कि वह इस समुदाय के हितों का संरक्षण करे। इस सभा के अधिकांश पदाधिकारी आर्यसमाजी थे और प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार यज्ञोपवीत धारण करते थे। इस प्रदेश के जाट बड़ी संख्या में ब्रिटिश सेना की देसी रेजिमेण्टों में भरती हुआ करते थे। एक बार इनकी रेजिमेण्ट के स्थानापन्न कमाण्डिग आफिसर ने अपनी सेना के जवानों को सम्बोधित करते हुए आदेश दिया—"जो सिपाही सेना में अपनी नौकरी बनाये रखना चाहते हैं, उन्हें अपने जनेऊ को तिलांजलि दे देनी चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि अब से भविष्य में इसे बागी सिपाही का निशान समझा जायगा।"

सिपाहियों ने इस आदेश को अपने धर्म के प्रतिकूल समझा, जाट-सभा को इस मामले की सूचना दी तथा आवश्यक कार्यवाही करने के लिए कहा। जाट-सभा ने इसपर उपयुक्त सैनिक अधिकारियों को इस मामले में एक आवेदनपत्र प्रस्तुत करते हुए निवेदन किया कि "यज्ञोपवीत उनके धर्म का पवित्र प्रतीक है, इसका धारण करना उनका धार्मिक कर्त्तव्य है। इसपर प्रतिबन्ध लगाना औरंगजेबी शासन को पुनरुज्जीवित करना होगा। अंतः सरकार को यह आदेश फौरन वापस ले लेना चाहिए।" इस आवेदनपत्र का अधिकारियों पर समुचित प्रभाव पड़ा और सिपाहियों को यज्ञोपवीत धारण करते हुए सेना में बने रहने की अनुमति दे दी गई।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि एक ओर इंग्लैण्ड के प्रबुद्ध शासक इस बात की डींग हाँकते हैं कि उन्होंने दासों को और पराधीन राष्ट्रों को स्वतन्त्रता प्रदान की है, इंग्लैण्ड में पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता की व्यवस्था स्थापित की है, दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिकों को, प्रत्येक सभ्य राज्य के नागरिक को प्राप्त उस प्राथमिक अधिकार से वंचित किया जा रहा है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करने और उसके द्वारा बताये गये विधि-विधानों का अनुसरण करने की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है।

एक मुसलमान आर्य

कुछ सरकारी अधिकारियों का तो मानसिक सन्तुलन इतना भंग हो गया था और उनका सोचने का नजरिया इतना विकृत हो गया था कि जो भी व्यक्ति उन्हें अपने दृष्टिकोण पर दृढ़ दिखाई देता, अथवा स्वतन्त्र विचारों का दिखाई पड़ता, उसे वे तुरन्त आर्यसमाजी घोषित कर देते। यहाँ इसका एक मजेदार उदाहरण दिया जा रहा है—

ब्रिटिश सेना की एक रेजीमेंट के नवयुवक लेफ्टिनैण्ट ने अपने मुस्लिम जमादार के साथ किसी विषय पर विवाद किया और इसमें उसे अपने वशवर्ती

(Subordinate) से वाग्युद्ध में परास्त होना पड़ा। अपने अधीनस्थ से पराजय उसके लिए सह्य नहीं थी। उसने अपने कमांडिंग ऑफिसर से इसकी शिकायत की। वह भी लैफ्टिनैण्ट जैसा ही बुद्धिमान् था। उसने जमादार को बुलाकर डाँटा और कहा—"बदमाश आर्यसमाजी, तुम साहब से इतनी गुस्ताखी से क्यों बोले?" जमादार ने उत्तर दिया—"हुजूर, मैं तो मुसलमान हूँ।" इसपर कर्नल बोला—"अच्छा, तो तुम मुसलमान आर्यसमाजी हो!"

हमें आश्चर्य होता है कि क्या इंग्लैंड के अच्छे नाम और प्रतिष्ठा को ऐसे ही लोग धब्बा नहीं लगा रहे हैं जो अपने अहंकार और हठधर्मिता के कारण इस प्रकार का अंध आचरण करते हुए भी अपने-आपको इंग्लैंड की सभ्यता का अभिरक्षक मानते हैं?

आर्यसमाजियों को अन्य अनेक तरीकों से भी परेशान किया जाता है। आर्यसमाजों के मंत्रियों को कहा जाता है कि वे अपने सदस्यों की सूची अधिकारियों के आगे पेश करें, मानो आर्यसमाजी जरायम-पेशा लोग हैं। लाला लाजपतराय के देशनिर्वासन के बाद जब मैं जालंधर गया तो मुझे बताया गया कि कॉलेज-विभाग की आर्यसमाज के मंत्री को सरकारी आदेश मिला है कि वह समाज के सदस्यों की सूची सरकारी कार्यालय में भेजे। इसी बीच कई कायर आर्यसमाजियों ने, इससे पहले कि वह सूची पुलिस को दी जाती, अपने नाम सदस्यता की सूची से कटवा लिये। शायद सरकारी अधिकारियों ने इसे अपनी विजय माना होगा। किन्तु जब इतिहास में इस बात का उल्लेख किया जायगा कि कुछ ब्रिटिश अधिकारियों की कृपा से आर्यसमाज के सदस्यों की सूची में पाखण्डियों को अभिचिह्नित कर लिया गया था, तो ऐसे लोगों के बारे में आनेवाली पीढ़ी क्या सोचेगी, यह बताना आवश्यक नहीं है। यह तो सम्भव है कि सरकारी अफसरों की इन ओछी हरकतों को सुनकर लॉर्ड मिण्टो कुछ देर सोचने के लिए विवश हों, किन्तु एक मुसलमान नायब तहसीलदार को इस बात की क्या चिन्ता हो सकती है कि उसके ऐसे ओछे कारनामों से सरकार की कितनी बदनामी होती है?

दौलतराम का मामला

/ भारत के लोगों के लिए सम्राट् एडवर्ड पिता के तुल्य हैं। मैं यह पूछता हूँ, क्या एक पिता के लिए यह गर्व की बात हो सकती है कि उसके बच्चे केवल भय के कारण ही अपनी वास्तविक भावनाओं को छिपायें और पाखण्डी की भाँति आचरण करें? अपने व्याख्यान के अंश को समाप्त करने के पूर्व मैं एक और वाकया बयान करना चाहता हूँ। दौलतराम नामक आर्यसमाज का एक

मार्गोपदेशक[1] कुछ दिन पहले धर्म-प्रचार के लिए झाँसी गया। वहाँ उसने एक अनाथालय खोला और गरीबों और अनाथों के पालन के लिए आटा एकत्र करता रहा। भारतीय सैनिकों की जो टुकड़ियाँ उस समय झाँसी में थीं, उनके अनेक सिपाही आर्यसमाज को चाहते थे तथा उसकी शिक्षाओं का आदर करते थे। वे दौलतराम को उसके लोकोपकारी कार्य में स्वेच्छा से मदद भी करते थे। किन्तु भारत में आपको ऐसे अनेक लोग मिल जायेंगे जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की हानि करने में नहीं हिचकते। उस टुकड़ी में भी कुछ ऐसे ही लोग थे। यह मामला अधिकारियों के समक्ष इस प्रकार लाया गया, मानो दौलतराम कोई अपराध कर रहा हो। इसपर तुरन्त कार्यवाही हुई। गरीब दौलतराम को जिला मजिस्ट्रेट के समक्ष भारत की फौजदारी दण्ड-संहिता की धारा १०९ के अन्तर्गत पेश किया गया और उसे नेकचलनी की दो जमानतें देने के लिए कहा गया। जमानत देने की शर्त इस प्रकार थी—ये जमानतें झाँसी या उसके पाँच मील व्यास में रहनेवाले लोग ही दे सकेंगे। जमानतदाता ऐसे होने चाहिएँ, जो प्रतिवर्ष सरकार को राजस्व के रूप में १०० रुपये देते हों अथवा अपनी आय पर २००० रुपये आयकर देनेवाले हों। यदि ये जमानतें नहीं दी जायेंगी तो दौलत-राम को एक वर्ष का कठोर कारावास-दण्ड भोगना होगा। आज बेचारा दौलत-राम जेलमें सड़ रहा है क्योंकि जमानत देने की शर्तें ही इतनी कठोर हैं कि उनका पूरा किया जाना कठिन है। अब उसपर यह आरोप लगाया गया है कि उसके जीवन-निर्वाह का कोई समुचित साधन दिखाई नहीं देता, अतः उसे आवारागर्दी के आरोप में पकड़ा गया है। उसका चाचा एक सम्पन्न व्यक्ति है किन्तु चूँकि वह झाँसी का रहनेवाला व्यक्ति नहीं है, अतः उसकी जमानत भी झाँसी के न्यायप्रिय न्यायाधीश को अस्वीकार्य है। परन्तु मुख्य बात तो यह है कि दौलतराम आर्यसमाजी है।

उसका सर्वोपरि अपराध तो यही है कि वह 'सत्यार्थप्रकाश' के ११वें समुल्लास की कथा उस सभा में करता था, जिसमें कुछ सिपाही भी उपस्थित रहते थे। क्या यह न्यायोचित है कि एक आदमी का चालान तो आप किसी अन्य धारा में करें और उसे दण्डित किसी अन्य धारा के अन्तर्गत किया जाय? ये सारे तर्क तो वकीलों द्वारा अदालत में पेश किये जायेंगे, किन्तु मैं पूछता हूँ, क्या धारा १०९ के द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति को दोषी ठहराया जा सकता है? यदि दौलतराम को इसीलिए बदमाश कहा जाता है कि उसके पास झाँसी में जीविकोपार्जन का कोई स्पष्ट साधन नहीं है, तो इसी आरोप में उन हजारों साधुओं को भी बदमाश करार क्यों नहीं दे दिया जाता, जो अपने जन्म-स्थान

१. मार्ग में चलते-चलते उपदेश करनेवाला।—सम्पादक

तक का पता नहीं बता सकते, जीविका के साधन बताना तो दूर की बात रही ? उधर दौलतराम का तो आगरे में मकान भी है। उन मुसलमान मौलवियों को बदमाश क्यों नहीं कहा जाता, जिन्हें मस्जिदों से नियमित वेतन नहीं मिलता तथा जो दान-पुण्य पर ही अपनी जीविका चलाते हैं ? उन ईसाई मिश्नरियों को सरकार बदमाश क्यों नहीं कहती, जो ईसा के आदेश को मानकर गरीबी को गौरवान्वित करते हैं और ईसा को भी अपने युग का सबसे विपन्न व्यक्ति घोषित करते हैं ? ऐसे सभी लोगों को जमानत देने के लिए क्यों नहीं कहा जाता ? शायद इसीलिए कि वे आर्यसमाज से वास्ता नहीं रखते। क्या धार्मिक उत्पीड़न का यह जीता-जागता उदाहरण नहीं है ? मैं सरकार से पूछता हूँ कि प्रपीड़ित करने के लिए उन्हें अकेला आर्यसमाज ही क्यों दिखाई दिया जबकि अन्य धार्मिक संस्थाओं को सर्वथा छोड़ दिया गया है। क्या इसलिए कि थियॉसॉफिस्टों को शक्तिशाली पौराणिक हिन्दुओं का आश्रय प्राप्त है, मुसल-मानों की पीठ के पीछे ईरान और तुर्की जैसे देश हैं और आपत्ति आने पर ब्राह्मसमाज की सहायता के लिए ईसाइयों का यूनीटेरियन चर्च हाजिर है ? जबकि आर्यसमाज के पास कोई लौकिक शक्ति नहीं है और शासन की दृष्टि में उसकी कोई बाह्य छवि भी नहीं है। उसके पास यदि कोई ताकत है, तो वह इतनी ही कि उसके सदस्य ईश्वर-विश्वासी हैं और सत्य की अन्तिम विजय में भरोसा करते हैं। जिस साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता, यदि उसके अधिकारी इस प्रकार की बेइन्साफी करें, तो वे तिरस्कार के ही पात्र होंगे। इतनी शक्ति-शाली ब्रिटिश सरकार आखिर आर्यसमाज से भयभीत क्यों है ? निश्चय ही ऐसा तो कोई कारण नहीं है कि डर के मारे ही सरकार आर्यों को पीड़ित करती है, किन्तु चूँकि आर्यसमाज के प्रति सरकार का रवैया ही इतना संदेहास्पद तथा अस्पष्ट है, जिसके कि कारण लोगों को नाना प्रकार की शंकाएँ होती हैं और वे विचित्र प्रकार के अनुमान लगा लेते हैं।

यह कहा जाता है कि आर्यसमाज एक राजनैतिक संस्था है और वह वर्तमान सरकार के प्रति लोगों की निष्ठा के भाव को आघात पहुँचा रही है। किन्तु मैं कहता हूँ कि आप किसी यूरोपियन शैली के स्कूल के छात्र से बात करें और उसके बाद गुरुकुल के विद्यार्थी से मिलें, तो दोनों की शिक्षा का अन्तर आपकी समझ में आ जायगा। यदि आर्यसमाज कानून और व्यवस्था का शत्रु होता, तो यह कैसे सम्भव था कि उसके द्वारा शिक्षित छात्र इतने अनुशासित और सदाचरणयुक्त होते ? उनमें विधिवत् गठित अधिकारी-वर्ग के प्रति क्यों तो इतना सम्मान होता और क्यों वे सबको उपकृत करते ?

आर्यसमाज वह संस्था है, जो शान्ति की कला का विकास करती है। इसके द्वारा ऐसी शिक्षण-संस्थाओं का संचालन हो रहा है, जिनके विद्यार्थी आगे चल-

कर स्वयं का सम्मान करनेवाले, उच्च चरित्रवाले तथा साधु-प्रवृत्तिवाले बनेंगे, जिनकी बौद्धिक शक्तियाँ कानून और व्यवस्था के हित में ही होंगी तथा जिनके लोकोपकारी कृत्य समाज के योग-क्षेम की वृद्धि करेंगे। क्या यह राजनीतिमत्ता कही जायगी कि ऐसी संस्था को अपराधी तथा सरकार का दुश्मन समझा जाय ? मैं इसके उत्तर की प्रतीक्षा करूँगा।

धर्म का सार्वभौम स्वरूप

मैं यह कहना चाहता हूँ और बिना किसी प्रतिवाद की कल्पना किये कहूँगा कि संसार के सारे धर्मों में अकेला वैदिक धर्म ही सार्वभौम कहलाने का अधिकारी है। उसके सिद्धान्त सर्वस्वीकार्य हैं और इन्हें अपनाने में किसी प्रकार की भौगोलिक, जातिगत तथा वर्णगत बाधा नहीं है। एक आर्य इंग्लैण्ड के सहिष्णुतायुक्त एवं प्रबुद्ध शासन की तुलना में मूर्तिपूजक हिन्दुओं या गौ-घातक मुसलमानों के आधिपत्य में रहना कभी कुबूल नहीं करेगा। हमारे सिद्धान्त सार्वजनीन हैं। हमें अपने धर्म का प्रचार न केवल इसी देश में करना है, जहाँ हिन्दू, मुसलमान और ईसाई निवास करते हैं, अपितु हम तो धरती के सुदूर कोनों तक अपने धर्म को फैलाने के लिए कृत-संकल्प हैं, क्योंकि हमें वैदिक ज्ञान का प्रकाश कर उस अंधकार को दूर करना है, जो साम्प्रदायिक दुराग्रह, वर्ग-विद्वेष, मूर्खता, कट्टरता, अंधपरम्परा-पालन, बुद्धिहीन सामाजिक संस्थानों तथा त्रुटिपूर्ण नैतिक आदर्शों के कारण उत्पन्न हुआ है। इसके लिए हम तुच्छ साम्प्रदायिक स्वार्थों, यहाँ तक कि राष्ट्रीय हितों की ओर भी नहीं देखेंगे। हमारा लक्ष्य तो संकीर्ण राष्ट्रवाद से भी ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुँचता है।

क्रान्तियाँ और विद्रोह, रक्तपात, अव्यवस्था, वंशगत दुर्भावना तथा जातिगत घृणा-भाव वास्तविक धर्म के प्रचार के बाधक तत्त्व हैं, अतः आर्यसमाज ने उनका विरोध करने का निश्चय कर रक्खा है। तथापि हम स्वराज्य या स्वयं के शासन का समर्थन करते हैं, किन्तु किसी निम्न अर्थ में नहीं। वास्तविक स्वराज्य तो आत्मा का अनुशासन ही है, स्वयं को जीतना, विषयासक्ति और अधोगामी वासनाओं पर पूर्ण नियंत्रण। यदि किसी देश के नागरिक इस प्रकार के स्वराज्य से वंचित हैं, तो राजनैतिक स्वराज्य भी उसके लिए वरदान न होकर अभिशाप हो जाता है, क्योंकि उसके द्वारा तो व्यापक कष्ट और भ्रष्टाचार की ही वृद्धि होती है। सामाजिक सुख, भौतिक लाभ तथा बौद्धिक प्रशान्ति का तो लोप ही हो जाता है।

इस भ्रान्त धारणा से छुटकारा कैसे हो ?

अब यह स्पष्ट हो गया कि आर्यसमाज एक राजनैतिक संस्था तो नहीं ही है, किन्तु वह किसी ऐसे राजनैतिक कार्यक्रम का भी विरोध करती है जो सत्य पर आधारित सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों के प्रतिकूल हो। किन्तु सरकार कुछ भिन्न प्रकार से सोचती है। तब यह प्रश्न होता है कि इस स्थिति का सामना कैसे किया जाय तथा वर्तमान परिस्थिति में क्या किया जाय ? अनेक प्रकार की अफवाहों से वायुमण्डल दूषित हो गया है। इस प्रकार की विचित्र परिस्थितियों के अजीबोगरीब मेल में, जैसा कि प्रायः होता है, अनेक और प्रायः परस्पर-विरुद्ध उपाय सुझाये जा रहे हैं। एक बुजुर्ग सज्जन ने मुझे सुझाया कि पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर की सेवा में एक प्रतिनिधिमण्डल भेजा जाना चाहिए जो उनके समक्ष आर्यसमाज की सही स्थिति पेश करे। किन्तु मेरे ये मित्र भूल गये कि गत वर्ष ही सर डेनजिल इवटसन की सेवा में एक ऐसा प्रतिनिधिमण्डल उपस्थित हो चुका है, किन्तु उसका कोई सुखद परिणाम नहीं निकला।

सज्जनो, यह स्वयं-गठित प्रतिनिधिमण्डल लेफ्टिनेंट गवर्नर के सुझाव के अनुसार ही उनसे मिला था और इसके भेजे जाने में लाहौर के लॉर्ड बिशप का भी हाथ था। इस प्रतिनिधिमण्डल के सदस्यों को कहा गया कि जिलाधीशों की राय में आज आर्यसमाज राजनैतिक षड्यन्त्रों का केन्द्र बन गया है। तब सदस्यों ने सरकार को इस आरोप के निराधार होने का आश्वासन दिलाया। उसके बाद दोनों पक्षों में साधारण-सी बातचीत हुई और डेपुटेशन के सदस्य सन्तुष्ट होकर अपने घरों को लौट आये। किन्तु क्या इससे परिस्थिति में थोड़ा-सा भी सुधार हुआ ? मैं बिना निमन्त्रण डेपुटेशन ले-जाने और फटकार खाकर लौटने के विरुद्ध हूँ। हमारा डेपुटेशन तो देश के शासकों से तभी मिलेगा, जबकि आर्यसमाज के प्रति न्याय करने का सरकार आश्वासन दे तथा इसके बारे में पूरी जाँच कराने के लिए तैयार हो।

आर्यसमाज का एक स्वाभिमानी धार्मिक संस्था है, जिसके सारे कार्य पूर्णतया विधि-सम्मत हैं तथा जो ईश्वर एवं मनुष्य-समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को लेकर पूर्ण जागरूक है। जबकि आर्यसमाज की आत्मा बिलकुल साफ है और वह यह भी जानती है कि उसने कभी कानून की खिलाफत नहीं की है, तो वह अकारण ही सम्राट् के प्रतिनिधियों के समक्ष जाकर अपनी फरियाद क्यों पेश करे ? आर्य लोग भी सम्राट् की ही प्रजा हैं। न्याय का तकाजा है कि अपराधी घोषित करने के पहले उन्हें अपनी सफाई पेश करने का मौका दिया जाय। सरकार को पहले उन्हें विधिवत् आरोप-पत्र देना चाहिए और फिर अपनी सफाई पेश करने के लिए कहना चाहिए। इस प्रकार आर्यसमाज सरकार

से आधे रास्ते तक आकर सम्मानजनक समझौता करने के लिए तैयार है, किन्तु वह बनावटी प्रतिनिधिमण्डल ले-जाने के खिलाफ है ।

आर्यसमाज की स्थिति

शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में आर्यसमाज की स्थिति को सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में इस प्रकार उल्लिखित किया गया है—"परन्तु इसपर नित्य ध्यान रक्खें कि जहाँ तक बन सके, वहाँ तक बाल्यावस्था में विवाह न करने देवें। युवावस्था में भी बिना प्रसन्नता के विवाह न करना-कराना और न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन करना-कराना। व्यभिचार और बहु-विवाह को बन्द करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे।

० ० ० ०

यही समझें कि "वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम" यह यजुर्वेद का वचन है । हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर, भृत्यवत् हैं । वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे, और हमारे हाथ से अपने सत्य-न्याय की प्रवृत्ति करावे ।"

आर्यसमाज चार आश्रमों में विश्वास रखता है। राजनीति गृहस्थों के कर्त्तव्यों का एक अंगमात्र है। संसारभर के स्कूल, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय अपूर्ण रूप में ही सही, ब्रह्मचर्य-आश्रम के प्रतीक हैं। सारे सुधारक और दार्शनिक जो संसार की परेशानियों से छुटकारा पाकर अपना ध्यान जीवन और मृत्यु की समस्याओं पर केन्द्रित करते हैं, वानप्रस्थी हैं। किन्तु संन्यासी कौन है? धर्म-सभाएँ ही संन्यासी हैं, क्योंकि उनका कर्त्तव्य लोगों को निर्भीक होकर सत्पथगामी बनाना है। आर्यसमाज अपने संस्थागत रूप में संन्यासी है, इसलिए उसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि वह राजनीति में प्रविष्ट होता है, तो ऐसा करके वह गृहस्थों के कार्य में हस्तक्षेप ही करेगा।

आर्यसमाज का व्यावहारिक कार्य

आर्यसमाज तो वही कार्य कर रहा है, जो उसे करना चाहिए। जब कभी और जहाँ कहीं अकाल पड़ता है, या कोई और विपत्ति आती है, इस बहु-लांछित संस्था के प्रचारक सहायतार्थ वहाँ पहुँच जाते हैं और सरकार को भी अपने कर्त्तव्य-पालन में एकांश में सहायता पहुँचाते हैं। हाल का एक उदाहरण लीजिये—

सब कोई जानते हैं कि आर्यसमाज के प्रचार की खिलाफत हैदराबाद की निजाम सरकार के द्वारा प्रायः की जाती है। आर्यसमाज के एक सम्माननीय प्रचारक स्वामी नित्यानन्द को इस राज्य से अपमानपूर्वक निकाल दिया गया।

एक अन्य प्रचारक पं० बालकृष्ण शर्मा के साथ भी ऐसा दुर्व्यवहार किया गया। इतना होने पर भी जब इस राज्य में भीषण बाढ़ का प्रकोप हुआ और उससे गाँव के गाँव बह गये तथा किसानों को भारी नुक्सान हुआ, तो वहाँ की स्थानीय आर्यसमाज ने एक बाढ़-सहायता-कोष की स्थापना की। उस समय गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने एक निर्धारित समय तक अपने भोजन में दाल और घी का प्रयोग छोड़कर उनसे जिस धन की बचत हुई, उसे बाढ़-राहत-कोष में अर्पित कर दिया। उस समय वे यह भूल गये कि इसी राज्य में उनके प्रचारकों के साथ अपमानपूर्ण व्यवहार किया गया था।

जोधपुर की घटना

यहाँ मैं एक ऐसी घटना का वर्णन करूँगा जो अत्यन्त दुःखद तो है ही, जोधपुर के अधिकारियों की शान में बट्टा लगानेवाली भी है। जब वायसराय के जोधपुर जाने का समाचार वहाँ के अधिकारियों को मिला, तो आर्यसमाज के मंत्री को बुलाकर कहा गया कि वायसराय की सवारी के रास्ते में आर्यसमाज-मंदिर पड़ता है, अतः आर्यसमाज का नामपट्ट वहाँ से हटा लिया जाय। उन्होंने शायद सोचा था कि पुराने तानाशाहों की भाँति वायसराय महोदय भी आर्यसमाज के नामपट्ट को जलाने का आदेश दे देंगे। समाज के मंत्री ने इस विषय में मेरा परामर्श लिया और इस बात पर दुःख प्रकट किया कि देशी राज्यों में आर्यों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है, मानो वे गुण्डे हैं। मैंने उत्तर में उन्हें लिखा कि न तो आप नामपट्ट को ही उतारें और न ओम् ध्वजा को ही झुकायें। यदि पुलिस अपने पाशविक बल से ऐसा करे, तो हमें इसका प्रतिरोध भी नहीं करना है। किन्तु जैसी सहायता आर्यसमाज ने निजाम राज्य को दी है, यदि वैसी ही विपत्ति जोधपुर राज्य पर भी आती है, तो आर्यसमाज वहाँ भी वैसा ही सहायता-कार्य करेगा। अब मेरे पास समाचार आया है कि पुलिस अपने पैशाचिक कृत्य को करने से बाज नहीं आई और वायसराय की सवारी निकलने के समय से पूर्व पवित्र ओम्-ध्वज को जबरदस्ती हटा दिया गया। (शर्म, शर्म की आवाजें) सज्जनो, शर्म-शर्म चिल्लाने से कोई फायदा नहीं होगा। पवित्र ध्वज को हटाने के कारण आपने शर्म का नारा लगाया, किन्तु जोधपुर की पुलिस ने आर्यसमाज के साथ ऐसा दुर्व्यवहार क्यों किया? जिनमें सोचने की गहरी शक्ति नहीं है, उन्हें लगा होगा कि पवित्र ध्वज हटाया गया है। किन्तु मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि क्या दुनिया में कोई ऐसी ताकत है, जो वैदिक धर्म के सच्चे अनुयायियों के हृदय पर अंकित ओम् के नाम को मिटाकर दिखाये? वहाँ तो ओम् का नाम अग्नि की ज्वालाओं से अंकित है। संसार का कोई राजा उसे वहाँ से हटा नहीं सकता। जब वजीराबाद (पंजाब) में ऋषि दयानन्द पर

पत्थरों की वर्षा हुई थी, तो उस महापुरुष ने मानो भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि कुछ काल पश्चात् इसी नगर में वैदिक प्रचारकों पर पुष्पों की वर्षा होगी। कौन कह सकता है कि यह कथन मिथ्या हो चुका है ? हमारे शत्रु शायद सोचते हैं कि उन्होंने पवित्र ध्वज को नीचे उतार दिया है, किन्तु हम तो उस दिन की प्रतीक्षा में हैं, जबकि यह पवित्र झण्डा अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, तथा फ्रांस, नहीं-नहीं, अफ्रीका के रेगिस्तानों में भी फहराया जायेगा। यह उस समय सम्भव होगा, जबकि वैदिक धर्म की विश्व-विजय सम्पूर्ण हो जायेगी। तब सार्वभौम आर्य साम्राज्य की स्थापना का हमारा स्वप्न भी पूर्ण हो चुकेगा और परमात्मा के इसी प्रमुख ओम् नाम से अंकित ध्वज के समक्ष संसार के बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा आकर अभिवादन करेंगे। एक बार जालंधर के भूतपूर्व डिप्टी कमिश्नर कर्नल हारकोर्ट से वार्तालाप के दौरान मैंने कहा था कि आर्यसमाज का लक्ष्य लोगों के चरित्र को पवित्र करना, उनकी आत्मा को शुद्ध करना तथा उनके हृदय को बुराई से पृथक् करना है। कर्नल ने उत्तर में कहा था कि यदि किसी दिन भारतवासी अंग्रेजों से चारित्रिक और नैतिक दृष्टि से अधिक उच्च बन जायेंगे तो उन्हें इस देश से अपने बोरिया-बिस्तर समेटकर चले जाने में प्रसन्नता ही होगी। आर्यसमाज अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इस कार्य को करने के लिए प्रतिबद्ध है, चाहे इसके कारण उसके बारे में अच्छी धारणा बनाई जाती है या बुरी, और यदि इस इस कार्य को राजनैतिक संस्था का कार्य माना जाता है, तो आर्यसमाज को, अपने-आपको राजनैतिक कहलाने में गर्व का ही अनुभव होगा। इसके परिणामों को भी वह समबुद्धि तथा प्रसन्नतापूर्वक भोगने के लिए तैयार है। क्योंकि वह देशवासियों के चरित्रोत्थान के महान् कार्य के लिए ही कृतप्रतिज्ञ है। आर्यसमाज गुरुकुलों, पाठशालाओं, तथा कॉलेजों की स्थापना करके तथा मद्यपान और मांसाहार के विरोध में आवाज उठाकर इसी प्रकार का कार्य कर रहा है। किन्तु उसका अपने उस पिता परमात्मा के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य है, जो न केवल स्वर्ग में ही निवास करता है, अपितु प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में भी समाया है।

आर्यसमाज : एक संन्यासी के रूप में

आर्यसमाज के सदस्य व्यक्तिशः चाहे गृहस्थ हैं, किन्तु एक संस्था के रूप में तो आर्यसमाज संन्यासी ही है। संन्यासी विभिन्न वर्गों तथा जातियों के पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर शासक और शासित, दोनों को उनके अपने-अपने कर्त्तव्यों का निर्देश करता है। यदि कोई व्यक्ति या व्यक्तिसमूह अतिचारी हो जाता है तो आर्यसमाज को उसकी भर्त्सना करने का अधिकार है। वह यह भी कहने का अधिकारी है कि जो अपनी पाशवी प्रवृत्तियों को काबू नहीं कर सकता, वह

स्वराज्य का उपयुक्त पात्र नहीं है। यदि कोई सरकार भी धर्म के चरम सिद्धान्तों का उल्लंघन करती है, तो आर्यसमाज अपने दैवी विशेषाधिकार का प्रयोग कर सख्त शब्दों में उसे चेतावनी दे सकता है।

आर्य भाइयो, ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिक होने के नाते और गृहस्थ के रूप में तुम मनचाहे डेपुटेशन ले-जा सकते हो, किन्तु आर्यसमाज के नाम पर किसी प्रतिनिधि-मण्डल को गठित करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि यह समाज तो एक शक्तिशाली संन्यासी है। **संन्यासी की सर्वोपरि निष्ठा तो अपने विधाता परमात्मा के लिए ही होती है और वह उन्हीं के चरणों में अपनी अर्जी पेश करता है।** मानवता की सेवा करना ही उसका दैवप्रदत्त अधिकार है। उसकी आत्मा का प्रमुख शृंगार भी विनम्रता के दैवी गुण को धारण करना ही है और इसका तुरीयाश्रम के गौरवयुक्त भाव से कोई विरोध भी नहीं है। इस विनम्रता से ही जन-समाज की प्रेमपूर्ण सेवा करने की चेतना उसे मिलती है। संन्यासी की तुलना एक बादल से की जा सकती है। बादल जितना ऊपर उठेगा, वह उतना ही शुद्ध और पवित्र होता जायगा और वर्षा की झड़ी के रूप में धरती पर बरसने की उसकी उतनी ही सम्भावना बढ़ती जायगी।

संन्यासी को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है। वह अपनी दैवी प्रकृति के प्रति जितना सच्चा और ईमानदार होता है, उसका उतना ही अधिक उत्साह स्वयं की प्रकाशमान् आत्मा की किरणों को अन्य प्राणियों तक पहुँचाने में भी रहता है। इन आत्मिक किरणों से वह महलों और झोंपड़ी में रहनेवाले सभी लोगों के चरित्रगत तमस् का विनाश करता है। हम सर्वशक्तिमान् से प्रार्थना करें कि वह आपको शक्ति प्रदान करे, ताकि गृहस्थ के रूप में आप अपना कर्तव्य-पालन करते हुए आर्यसमाजरूपी संन्यासी संस्था के उच्च आदर्शों की रक्षा करने में भी तत्पर हों, ताकि गृहस्थी और संन्यास का यह समन्वय सफल हो हो सके।

अन्तिम निवेदन

प्यारे भाइयो, आओ, हम सर्वशक्तिमान् से पुनः प्रार्थना करें ताकि वह हमें इन अत्याचारों को सहने की शक्ति देवे, जिससे कि हम लोग बुराई के बदले में बुराई करने की पैशाचिक प्रवृत्ति का दमन करने में सफल हों तथा आर्यसमाज की रक्षा के लिए ओम् परमात्मा में विश्वास रक्खें।

वर्तमान परिस्थिति और हमारा कर्त्तव्य

(आर्यसमाज लाहौर के ३२वें वार्षिकोत्सव पर दिये गये व्याख्यान का सारांश)

ईश्वर-प्रार्थना

ओं तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ यजुर्वेद १९।९

हे परमात्मा! आप तेज के भण्डार हैं, आप उस अपने तेज के अपरिमित अंश में से हमें भी स्वल्प तेज प्रदान कीजिये। आप अपार शक्तिवाले हैं, हमें भी शक्ति-युक्त करें। हे बल के सागर, आप हमें बल प्रदान करें। आपमें मन्यु (सात्त्विक क्रोध) का तत्त्व है, आप हमें भी यही मन्यु दें। आप अत्यन्त सहनशील हैं, हमें भी सहिष्णुता का दिव्य गुण प्रदान करें।

प्रारम्भिक वक्तव्य

देवियो और सज्जनो,

मैं अपनी सीमाओं के प्रति पूर्ण रूप से सजग हूँ, अत: संकोचपूर्वक ही आपके समक्ष कुछ निवेदन करूँगा। आप जैसे राजनीतिविदों तथा भौतिक विज्ञान के मनीषी लोगों के समक्ष बोलने और आपके मस्तिष्क पर कोई स्थायी प्रभाव डालने जैसी योग्यता और अध्ययन मुझमें नहीं है। शारीरिक दृष्टि से मैं इतना दुर्बल हो गया हूँ कि मुझे इस बात का संदेह है कि क्या मेरी आवाज भी आपकी इस विशाल सभा के सब कोनों में पहुँचेगी या नहीं। अपने चिकित्सकों की चेतावनियों के बावजूद मैं यदि आपके समक्ष खड़ा हूँ, तो इसका कारण भी यही है कि इस असाधारण परिस्थिति में मुझे अपने व्यक्तिगत हित की चिन्ता को भी असाधारण रीति से ही त्याग देना पड़ा है। कौन कह सकता है कि आर्यसमाज का यह वार्षिकोत्सव अन्तिम समारोह नहीं होगा किन्तु मैं निराशा की इस बात को आगे नहीं बढ़ाऊँगा। जो भयानक विचार मेरी जिह्वा के अग्रभाग पर बैठा हुआ है, उसे व्यक्त न करने के लिए मैं भगवान् कृष्ण के उस चेतावनीभरे वाक्य के कारण ही विवश हुआ हूँ, जो इस प्रकार है—

संशयात्मा विनश्यति

जिसके मन में संशय पैदा होते हैं, वह अवश्य नष्ट हो जाता है। मैं इस महान् चेतावनी को अनसुना क्यों करूँ ? मेरे कहने का भाव तो यही है कि यदि आप अनुभव करते हैं कि यह समय अपवाद रूप में महत्त्व का है, तो मुझे अपने भावों को आप तक पहुँचाने में आप मेरी सहायता करें तथा मैं जो कुछ कहूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनें।

कुछ कठोर और हठधर्मिता की बातें

शायद आप यह सोचते होंगे कि गत वर्ष की ही भाँति मैं अपने व्याख्यान को एक लम्बी भूमिका से आरम्भ करूँगा। यदि आप ऐसी आशा करते हैं, तो निश्चय ही आपको निराश होना पड़ेगा। मैं सोचता हूँ कि अब किसी परि-चयात्मक भूमिका की आवश्यकता नहीं है। परिस्थितियों का परिचय देने का समय बीत चुका है। वक्ता के लिए बौद्धिक विलास, आलंकारिक चित्रण और शब्दों की चित्रकारी का समय अब नहीं रहा। कल्पना के पंखों पर सवार होकर विचरण करना स्थिति की गम्भीरता के प्रतिकूल होगा। इसलिये इस समय, मैं भाषण की सारी सजावट को छोड़कर आपके समक्ष कठोर तथा वास्तविक तथ्यों को ही प्रस्तुत करूँगा।

एक व्यक्तिगत स्पष्टीकरण

गत वर्ष इसी मंच से मैंने इसी विषय पर कुछ बातें कही थीं और आशा प्रकट की थी कि मेरी प्रार्थना और निवेदन समुद्र-पार महामान्य सम्राट् तक पहुँचेंगे। क्या आज मुझे कुछ अन्य निवेदन करना है ? बिलकुल नहीं। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, जो कुछ मुझे कहना था, वह विगत वर्ष में ही कह चुका हूँ और मैंने उसे मेरे भाई मदनमोहन सेठ द्वारा लिखित पुस्तिका "लॉर्ड मॉर्ले की सेवा में खुला पत्र" की भूमिका में लिख भी दिया है।[1] इस पुस्तिका की एक प्रति महामान्य वायसराय को भेज दी गई है और उनके निजी सचिव द्वारा उसकी प्राप्ति की स्वीकृति भी आ चुकी है। इसकी प्रतियाँ प्रान्तीय प्रशासकों, मुख्य आयुक्तों तथा भारतीय सेना के प्रधान अधिकारियों को भी भेजी गई हैं। मैंने वहाँ जो कुछ कहा है, उसमें कुछ विशेष मुझे जोड़ना भी नहीं है। मुझे तो उसी पुरानी कहानी को दुबारा आपके समक्ष रखना है। किन्तु इसे कितनी बार कहना पड़ेगा, मेरी यह आवाज बार-बार यही कहती है।

१. यह भूमिका ग्रन्थावली के इसी खण्ड में छपी है।

आर्यसमाज एक शक्तिशाली संस्था है

सज्जनो,

प्राय: यह कहा जाता है कि विगत तीन वर्षों में आर्यसमाज ने जो अनुभव किया है, वह दु:ख, कष्ट और पीड़ा की कहानी है। किन्तु मैं इस प्रसंग को भिन्न दृष्टि से देखता हूँ। संसार में यह भी देखा गया है कि छोटी-छोटी संस्थायें, जो प्राय: महत्त्वहीन तथा सदस्यों की गणना की दृष्टि से नितान्त नगण्य होती हैं, किन्तु उन्होंने संसार में महान् आलोडन उत्पन्न कर दिया है तथा व्यष्टि और समष्टि का ध्यान भी अपनी ओर आकृष्ट किया है। वर्षों पूर्व जब अमेरिका के चिन्तक और विचारक जेक्सन डेविस[1] ने घोषणा करते हुए कहा था कि एक दिन आयगा, जब संसार में दयानन्द का नाम सर्वत्र गूँज उठेगा, उस समय उसके इस बयान का उपहास ही किया गया था।

किन्तु आज इस बात को हल्के तौर पर नहीं लिया जा सकता। एक समय के विजयी वैदिक धर्म को मानो किसी पैशाचिक काली और डरावनी छाया ने घेर लिया है। अस्तव्यस्त कल्पनाओं और अनियंत्रित बौद्धिकता ने सारे परि-दृश्य को भयानक बना दिया है। मुकुटधारी सम्राट् अपने सिंहासनों पर बैठे काँप रहे हैं। सभ्य संसार आश्चर्यचकित और दिग्भ्रमित हैं। कोई नहीं जानता कि जिस आन्दोलनात्मक हलचल की इतनी चर्चा है, उसका मूलाधार क्या है? लोग प्राय: नवीन और अनजान वस्तु से भय खाते हैं। चाहे कुछ भी हो, यह तथ्य तो अपरिवर्तित ही रहेगा कि आर्यसमाज इस प्रकार हल्के उपहास और तिरस्कार का पात्र नहीं बनाया जा सकेगा। मुझे इसी बात का संतोष है। तथापि मूल प्रश्न उत्तर चाहता है। अत: मैं आपको संक्षेप में बताऊँगा कि मैंने उक्त पुस्तिका में क्या लिखा था।

आर्य लोग और सेना

यह एक तथ्य है कि सेना की सारी टुकड़ियों में एक आदेश प्रसारित किया गया है, जिसमें कहा गया है कि सेना की बैरकों के आसपास किसी आर्य को आने नहीं दिया जाय। मैंने अपने उक्त निवेदन में प्रधान सेनापति से अत्यन्त विनम्रतापूर्वक कहा है कि एक अत्यन्त निकृष्ट अपराधी तथा दुष्ट व्यक्ति को भी आध्यात्मिक शान्ति और सान्त्वना की आवश्यकता रहती है। यूरोप में अरा-जकतावादी राजाओं की हत्या कर देते हैं। इससे अधिक घृणित अपराध और

---

१. पूरा नाम एण्ड्रू जेक्सन डेविस। आर्यसमाज और उसके संस्थापक के प्रति डेविस की यह श्रद्धाञ्जलि आर्यसमाजी ग्रन्थों में भूरिश: उद्धृत हुई है।
—सम्पादक

क्या हो सकता है ? यदि इनमें से कोई अपराधी रोमन कैथोलिक होता है और वह प्रोटेस्टेंट सरकार से प्रार्थना करता है कि उसे अपनी ईश-प्रार्थना के लिए अपने ही मत के पादरी के मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है, तो उसकी इस इच्छा का सम्मान किया जाकर उसकी प्रार्थना को स्वीकार किया जाता है। आप यह नहीं भूले होंगे कि गत वर्ष एक ब्राह्म अराजकतावादी की अन्तिम इच्छा के अनुसार ब्राह्म उपदेशक पण्डित शिवनाथ शास्त्री[1] को कारागार में भेजा गया था, ताकि फाँसी के पूर्व वे उस अपराधी को ब्राह्म -रीति से ईश्वर-प्रार्थना करायें।

इसकी तुलना आप आर्यसमाज के प्रति किये जानेवाले व्यवहार से करें। आर्य सिपाही, ध्यान दीजिये, अपराधी नहीं हैं। मानव के इस सहज अधिकार से वंचित किये जा रहे हैं और उनके उपदेशकों पर प्रतिबंध लगाये जाते हैं, जिससे कि ये आर्य सैनिक उनके नैतिक उपदेशों से वंचित रहें, जबकि प्रलोभन एवं दुर्बलता के क्षणों में तो ऐसे उपदेशों की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। मैं प्रधान सेनापति[2] से आखरी बार अपील करता हूँ और आशा करता हूँ कि हमारी न्याय और औचित्यपूर्ण माँगें स्वीकार की जायेंगी तथा झूठे और फरेब-भरे प्रतिवेदनों पर आधारित एवं दुर्भाग्यपूर्ण गलतफहमी फैलानेवाले आदेश निरस्त कर दिये जायेंगे। मुझे यह पता नहीं है कि मेरी पहलेवाली अपील का क्या परिणाम निकला, किन्तु मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि छः दिन पहले आर्यसमाजी सिपाही इस बात की चर्चा कर रहे थे कि अभी तक उक्त प्रतिबंध हटाया नहीं गया है। इन बेचारों को यह आदेश अजीबोगरीब लग रहा था और वे उसके मतलब को समझ नहीं पा रहे थे। मैं भी नहीं समझ सका कि ऐसा आदेश क्यों प्रसारित किया गया।

आर्यसमाज प्राणि-मात्र के प्रति प्रेम का प्रचारक है

सज्जनो,

हमपर सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र रचने का आरोप लगाया जाता है, किन्तु जैसा कि मेरे भाई श्री मदनमोहन सेठ ने अपने तर्कपूर्ण वक्तव्य—"लॉर्ड मॉर्ले के नाम खुला पत्र" में लिखा है कि क्या यह आश्चर्यपूर्ण नहीं है कि जो धर्म एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राणी की हत्या को भी पाप मानता है तथा जो "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे" (हम सबको मित्र की दृष्टि से देखते हैं) की शिक्षा देता है, उसपर यह आरोप लगाना कितना हास्यास्पद है कि वह षड्यंत्रकारी है! भाग्य का कैसा

---

१. भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज के विख्यात आचार्य, उपदेशक तथा 'हिस्ट्री ऑफ ब्राह्मसमाज' के यशस्वी लेखक। —सम्पादक

२. तत्कालीन प्रधान सेनापति लॉर्ड किचनर से अभिप्राय है।

विपर्यय है ! एक ओर तो शाकाहार का प्रचार करने के कारण आर्यों को असभ्य कहा जाता है और उधर उनपर अराजकतावादी तथा षड्यंत्रकारी होने का आरोप लगाकर उन्हें उन अधिकारों से वंचित किया जाता है, जो अराजकतावादियों को भी प्राप्त हैं !

मैं इस स्थिति में तो नहीं हूँ कि यह बता सकूँ कि जिम्मेदार प्रशासक आर्यसमाज के बारे में क्या सोचते हैं, मुझे यह भी ज्ञान नहीं है कि लॉर्ड किचनर के आदेश में क्या कहा गया है, किन्तु मुझे यह तो पता है कि मुसलमान, सनातनी, तथा खालसा मतों के अखबार स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि सरकार आर्यसमाज को विद्रोही समझती है। हमें डाकू समझा जाता है। सनातनी, मुसलमान, ईसाई तथा जैन समझते हैं कि हमें कुचलकर चूर-चूर कर देने का समय अब आ गया है। प्रेमसागर-सभा ने अपने वार्षिक समारोह में गोरक्षा के समर्थन में एक प्रस्ताव पास किया और गोशाला के निर्माण के लिए धन की अपील की। एक मुसलमान ने एक इश्तहार छपाया है और उसे लाहौर में भिन्न-भिन्न स्थानों पर चिपकाया है। इसमें कहा गया है कि मुसलमान गोरक्षा के मार्ग में बाधक नहीं बनेंगे किन्तु हिन्दू और मुसलमानों के बीच तबतक सहयोग नहीं हो सकेगा, जबतक कि सभी धर्मों के मतप्रवर्त्तकों की निंदा करनेवाला आर्यसमाज जिंदा है और उसे खत्म नहीं कर दिया जाता। अब तो गली का कोई भी दुष्ट लड़का निर्भीक होकर आर्यों पर गंदगी और कीचड़ फेंक सकता है। क्यों ? इसीलिए कि यह माना जा रहा है कि आर्य लोग कानून भंग करनेवाले डाकू हैं। सज्जनो, यह वह संकटापन्न स्थिति है, जिसका सामना आर्यसमाज को करना पड़ रहा है। दुर्भाग्य और विपदाएँ हमें सब ओर से घेर रही हैं। सरकारी कर्मचारी समझते हैं कि आर्यसमाज का नाम सरकार की काली सूची में अंकित कर दिया गया है। हमें नहीं मालूम कि सरकार क्या सोचती है, किन्तु यह धारणा बलवती हो रही है कि सरकार हमारे विरुद्ध है, और हमारे विरोधी भी इसका लाभ उठा रहे हैं।

संयुक्तप्रान्त सरकार और आर्यसमाज

यह प्रायः समझा जाता है कि संयुक्तप्रान्त की सरकार तो निश्चित रूप से आर्यसमाज की विरोधी है। लोग यह सोचते हैं कि पंजाब में हालात कुछ बेहतर हैं। किन्तु सचाई हमें किसी अन्य नतीजे पर पहुँचाती है। यह एक अच्छा संयोग है कि संयुक्तप्रान्त के सर्वोच्च शासक सर जॉन हिवेट हैं। वे एक संतुलित मस्तिष्क तथा उदार हृदय के व्यक्ति हैं। वे सचाई को जानना चाहते थे, इसलिए उन्होंने एक निष्पक्ष अधिकारी को जाँच के लिए नियुक्त किया। वह सरकार की इस नीति से असहमत था कि आर्यसमाज का बिना सोचे-समझे दमन किया जाना चाहिए और वह यह भी मानता था कि जो सरकार अपनी प्रजा को सर्वथा

क्लीव बना देती है, उसे सरकार ही नहीं कहना चाहिए। उसने पूर्ण निष्पक्षता के साथ जाँच की, और इस बात से संतुष्ट हो गया कि आर्यसमाज के विरुद्ध जो आरोप लगाये गये हैं, वे सभी निराधार हैं और इसी प्रकार की रिपोर्ट उसने सरकार को दे दी। उसकी इस रिपोर्ट पर भी विश्वास नहीं किया गया और वातावरण में पुनः गर्मी आ गई। मैंने गत वर्ष जो व्याख्यान दिया था, तथा जिसका सार-संक्षेप अंग्रेजी में उल्टा किया गया था, उसे एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित भी कर दिया गया। कई अधिकारियों ने उसे पढ़ा भी था। मैं अनेक अधिकारियों से मिला तथा उनसे लम्बे साक्षात्कार किये। मुझे यह जानकर घोर आश्चर्य हुआ कि उनके कानों में क्या कुछ कहकर फूँक भरी गई थी और उनको भी कम आश्चर्य नहीं हुआ, जबकि वास्तविक तथ्यों को उनके समक्ष लाया गया।

हमारे खून की जिम्मेदारी हमारे ही लोगों के माथे पर है

आप शायद यह सोचते होंगे कि हमारी विपत्तियों के लिए ब्रिटिश सरकार उत्तरदायी है। यदि ऐसा है, तो इस भ्रान्त धारणा को अपने मन से हटा लें। हमें अपनी विपदाओं के लिए अपने ही देशवासियों का आभार प्रकट करना चाहिए। आगे की बातें इस तथ्य पर पूर्ण प्रकाश डालेंगी। बिजनौर के जिला मजिस्ट्रेट गुरुकुल को देखने आये। उन्होंने वहाँ के छात्रों से मिलने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने उनकी हथेलियों को अपनी अंगुलियों से दबाकर देखा। जब वह सब-कुछ देख चुके, तो उनका जैसे मोह भंग हुआ, वह देवताओं के लिए भी बिस्मयकारक था। वे घोर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहने लगे, मुझे जैसी अजीब रिपोर्टें मिलती रही हैं, उनके बारे में तुम्हें बताये बिना नहीं रह सकता। मुझे बताया गया था कि गुरुकुल के लड़कों को धनुर्विद्या सिखाई जाती है और इस संस्था का मुख्य उद्देश्य हट्टे-कट्टे पहलवान बनाना है। मुझे अब पता लगा कि यह सब झूठ है। यह तो सही है कि आपके यहाँ के बच्चे अन्य साधारण स्कूलों के विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ हैं, किन्तु ऐसा होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि ये यहाँ खुले वातावरण में रहते हैं। मुझे यह भी बताया गया था कि ये विद्यार्थी अच्छे घुड़सवार हैं और अपने तीरों के द्वारा उड़ते पक्षी को मार गिराते हैं। जब उनसे पूछा गया कि उन्होंने ऐसी झूठी और दुष्टतापूर्ण बातों पर कैसे विश्वास किया, तो मजिस्ट्रेट ने कहा—हमें जीवन-भर जरायमपेशा लोगों के बारे में छानबीन करनी पड़ती है, इसीलिए हम लोग प्रायः शंकाशील हो जाते हैं। और एक बात यह भी है कि इस देश में मेरे साथ इतनी बार धोखा किया गया है कि अब मेरे लिए किसी बात पर विश्वास करना ही असम्भव हो गया है। इसके बाद उन्होंने हँसी और मजाक के लहजे में एक तालुकेदार का किस्सा बयान किया, जिसने

बड़ी चतुराई और धूर्तता से अपनी ईमानदारी, सचाई और साधुता का सिक्का जमा लिया था। उसने मजिस्ट्रेट को बहुत अधिक धोखे में रक्खा, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद ही पता चला कि वह नरपिशाच से कम नहीं था,जो अपने आसामियों का रक्त चूसने में अपार आनन्द अनुभव करता था। मिस्टर फोर्ड[1] ने आगे बताया कि आर्यसमाज के अधिकारी भी अफसरों से मिलने में शर्म महसूस करते हैं, इसलिए अधिकारी भी उनसे दूर-दूर रहते हैं और इस प्रकार गलतफहमी के बादलों को दूर करना कठिन हो जाता है।

एक वकील के वेश में डिप्टी कलेक्टर

कुछ महीने पहले एक डिप्टी क्लेक्टर गुरुकुल में आये। उन्होंने अपना परिचय एक वकील के रूप में दिया था। मुझे इस बात की खबर पहले ही मिल चुकी थी कि एक डिप्टी कलेक्टर गुरुकुल में आयेंगे और वे अपने को एक वकील के रूप में ही परिचित करायेंगे। मुझे इसका समाचार अपने ही गुप्तचर विभाग द्वारा मिला था। (हँसी) हमारा यह गुप्तचर विभाग भी सरकार के जासूसी महकमे से कम सावधान नहीं है।

आधी रात के समय मैंने इन नकली वकील साहब को एक प्रेत की भाँति छात्रों के खेल के मैदान में घूमते देखा, जहाँ हमारे विद्यार्थी गतका-फेरी खेलते हैं। इस खुली जगह के चारों ओर घास-फूस की चहारदीवारी बना दी गई है, ताकि स्त्रियाँ उधर न आयें। परन्तु ऐसा लगता है, इस कानून-पेशा व्यक्ति का दिमाग इतना कुण्ठित हो गया था कि वह दिन को भी रात समझने का भ्रम पाले हुए था। वह उस स्थान पर निश्चेष्ट तथा भावहीन आकृति लेकर निरर्थक घूम ही रहा था कि मैंने उसका हाथ पकड़ लिया और मुस्कराते हुए नटखटपन के साथ कहा, "क्यों दोस्त, क्या हमारे सारे गुप्त रहस्यों को तुमने जान लिया है?" (हँसी) वह भौचक्का-सा रह गया और फौरन अपने चेहरे के भाव को बदलकर बोला—"आपने मुझे ढूंढ ही लिया! ठीक है, मैं वही हूँ जो मैंने आपको बताया था। गुरुकुल तो सत्य और धर्म का केन्द्र है। मैं इसपर अब दोषारोपण नहीं करूँगा।"

ब्रिटिश राज्य के वरदान

सज्जनो,

क्या मुझे आपको आश्वस्त करने के लिए कुछ और तथ्य भी प्रस्तुत करने पड़ेंगे कि हमारा देश नैतिक पतन की इतनी गहराई तक चला गया था, जिसको

१. बिजनौर के जिलाधीश।

कि नापना भी कठिन था ? हम लोग इस समय स्वराज्य के लिए थोड़ी भी पात्रता नहीं रखते । मेरे पिता, जिन्होंने १८५७ के विद्रोह के बाद शान्ति-स्थापना के कार्य में बहुत बड़ा भाग लिया था, कभी-कभी अपने अनुभव मुझे बताते थे। उन्होंने मुझे जो कुछ कहा, उसके आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि देश में शान्तिपूर्ण प्रगति तथा समन्वित विकास के लिए अभी एक शताब्दी तक ब्रिटिश राज्य का रहना आवश्यक है । हाल की घटनाओं ने हमारी राजनैतिक काया पर पड़े कोढ़ के तुल्य दागों को उजागर कर दिया है, जिन्हें हम पहले नहीं जान सके थे । अब मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि इससे पूर्व का मेरा आशावाद उचित नहीं था और मेरी भविष्यवाणी भी ठीक नहीं थी। अब मैं विश्वास करता हूँ कि आनेवाले तीन सौ सालों तक केवल ब्रिटिश प्रभुत्व ही इस देश में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रख सकता है और यदि शान्ति की इस शर्त को हटा दिया जाता है, तो विकास की पद्धति पर उन्नति की सारी सुविधायें और साधन गायब हो जायेंगे । मैं जानता हूँ कि आप में से अनेक मेरे विचार से सहमत नहीं होंगे । किन्तु मैं बिना किसी प्रतिवाद के भय के, यह कहने में संकोच नहीं करूँगा कि मेरी पूर्व-धारणा त्रुटिपूर्ण तथ्यों पर आधारित थी ।

सर जॉन हीवेट के साथ मेरी भेंट

मैं अपने प्रमुख विषय से हट गया हूँ, किन्तु ऐसा करना आवश्यक ही था और इसके द्वारा मैं आपको एक मूल्यवान् पाठ पढ़ाना चाहता था । अब मैं पुनः अपनी दर्दनाक कहानी पर आता हूँ । सर जॉन हीवेट ने मुझे पत्र लिखा कि वे मुझसे मिलना चाहते हैं । मैं एक लम्बी यात्रा से लौटा ही था कि सर जॉन का पत्र मुझे मिला । उनके इस निमंत्रण के आधार पर मैं उनसे मिलने गवर्नर के देहरादून-स्थित कैम्प में चला गया । आप हैरान होंगे कि एक देशी राजा ने मुझसे मिलने में इसीलिए संकोच किया था, क्योंकि उस समय मेरे वस्त्र उसके शाही दरबार की शान के अनुकूल नहीं थे, किन्तु सर जॉन ने पूर्ण हार्दिकता के साथ मेरा स्वागत किया, हालाँकि उस समय मैंने जो वस्त्र पहन रक्खे थे, वे यात्रा से लौटने के कारण अत्यन्त गन्दे हो रहे थे । उन्होंने मुझसे जो कुछ कहा, उससे यह और भी सिद्ध हो गया कि यदि हम अपने दुश्मनों को ढूंढ निकालना चाहते हैं तो उसके लिए हमें अपने घरों के आसपास ही उनकी तलाश करनी होगी । मैंने सर जॉन से कहा कि मुझे जो कुछ कहना था, वह मैं अपने व्याख्यान में कह चुका हूँ और इस समय तो मैं केवल उनके आदेश को मानकर ही उनसे भेंट करने चला आया हूँ । उस समय मेरे हृदय में जो कुछ था, उसे मैंने पूरी तरह उनके सामने उँडेल दिया और इस प्रकार अपने मन के भार को हल्का किया। इस भेंट का कोई समुचित परिणाम निकलता है या नहीं, यह तो ईश्वर ही

जानता है। किन्तु महामान्य गवर्नर ने स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा कि उन्हें गुरुकुल के बारे में कोई शक-शुबहा नहीं है।

पटियाला का मामला

हालाँकि जो कुछ हो रहा है, वह सन्तोषजनक ही है, किन्तु यह स्वीकार करना ही होगा कि हम एक प्रकार की संकटपूर्ण स्थिति से गुजर रहे हैं और इससे त्राण पाने के लिए हमें अपनी सारी नैतिक शक्तियों और गुणों को प्रयुक्त करना होगा। हमारी क्या तकलीफें और शिकायतें हैं, उनका यथार्थ और वास्तविक चित्र मेरे नवयुवक और प्यारे मित्र रामदेव जी ने अंकित कर दिया है।[1] हमारे पास सम्पन्न जातियों के साधन भी नहीं हैं और न वैसा प्रभाव ही है। इसलिए आसन्न विपत्ति को टालने के लिए उस प्रकार के साधनों को प्रयुक्त करने का कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि वे न तो हमारे पास हैं और न हम उनको प्राप्त करने के ही इच्छुक हैं। हमारी शक्ति तो हमारे सत्याचरण तथा हमारे लक्ष्य की सचाई में ही निहित है, इसलिए हे मेरे प्यारे ऋषि-सन्तानो, मुझे आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार की अलौकिक शक्ति और दिव्य बल को पाकर हम बड़े-बड़े सम्राज्यों के सम्मिलित प्रतिरोध को भी सहन कर सकते हैं। हाँ, यह ठीक है कि हम संक्रान्तिकाल से गुजर रहे हैं। हमारी परीक्षा की घड़ी आ चुकी है। अब अनाज का भूसा तो उड़ जायगा और जो अन्न बच रहेगा वही हमारे संगठन की मांसपेशियों और तंतुओं का निर्माण करेगा। हमारे पटियाला के भाइयों के मामले को लीजिए और उन तकलीफों के बारे में सोचिए जो उन्होंने अपने पवित्र धर्म की खातिर उठाई हैं। मैं पुनः इस बात को दोहराता हूँ, मैं यह दावा तो नहीं करता कि मैंने अधिकारी-वर्ग की मानसिक रहस्यात्मक कार्यप्रणाली को भली-भाँति पढ़ रक्खा है, किन्तु जैसा कि मैं कह चुका हूँ, देश में यह धारणा फैलाई जा रही है कि आर्यसमाज एक विशिष्ट चिह्नांकित[2] संस्था है और उसकी मृत्युसूचक घण्टा-ध्वनि अब सुनाई पड़ने ही वाली है। नियति उसके कफन में प्रयुक्त होनेवाले वस्त्र को बुन रही है। शायद उसी प्रकार के खयाल के कारण पटियाले के ८४ आर्य भाई गिरफ्तार किये गये। वे अभी तक नजरबन्द ही हैं और उनके अपराध की सुनवाई भी आरम्भ नहीं हुई है, किन्तु खूनी कुत्ते और हिंसक भेड़िये हमारा खून

---

१. द्रष्टव्य—मूल पुस्तक 'आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स: ए विण्डिकेशन' का पूर्वार्द्ध, जिसके सातों अध्यायों का सार हमने ग्रन्थावली के इसी खण्ड में दिया है। —सम्पादक

२. Black-listed

घूसने के लिए तैयार दिखाई देते हैं। ब्रिटिश संसद में जो प्रश्न पूछे जाते हैं, उनकी शब्दावली इस प्रकार गढ़ी जाती है जिससे यह धारणा बनती है, मानो अभियुक्त (Accused) और अपराधसिद्ध दोषी (Convicted) समानार्थ ही हों। पटियाला राज्य के रखवाले कुत्ते के माफिक मुसलमानी समाचारपत्र बार-बार गुर्राकर मानो अपने शिकार को खा जाने के लिए तैयार हैं। परन्तु उनके बारे में क्या कहा जाय, जो जाति, भावना और सहानुभूति की दृष्टि से हम से पराये हैं! हमारे अपनी ही आदमी हमारे प्रति अनीति का व्यवहार कर रहे हैं। यहाँ तक कि हमारे मित्र मिस्टर मलावारी,[1] जो अपने हृदय की उदारता तथा मस्तिष्क के सन्तुलन के लिए विख्यात हैं, वह भी सामयिक भावनाओं में बह गये और महाराजा[2] से प्रार्थना कर चुके हैं कि षड्यन्त्र की प्रवृत्तियों को सख्ती से दबा दें। जहाँ तक आर्यसमाज का सम्बन्ध है, वास्तविक षड्यंत्र और आरोपित षड्यंत्र में कोई अन्तर नहीं किया जाता, उनके द्वारा भी जिनके लिए वास्तविक स्थिति को जानने की आशा की जाती है। पटियाला में इस अभियोग की सुनवाई करने के लिए जो अदालत गठित की गई, मुझे उसके खिलाफ कुछ भी नहीं कहना है। इसके प्रतिष्ठित न्यायाधीशों से हम दोषरहित न्याय की आशा कर सकते हैं।

किन्तु इस प्रश्न का एक विचारणीय पहलू भी है। पटियाला के आर्य-समाज मन्दिर में आज ताला लगा हुआ है और वहाँ के आर्य भाई हवालात में बन्द हैं। पटियाला के महाराजा अभी युवक ही हैं, शायद बीस की आयु को भी पार नहीं कर चुके हैं। मैं उनके भावों और विचारों की उदारता तथा दयालुता के प्रति आशंका नहीं करता। किन्तु मैं यह सब भयग्रस्त होकर भी नहीं कह रहा हूँ। मेरा मन आशा और भय के बीच दोलायमान हो रहा है। दूर-दूर तक यह खबर फैलाई गई है कि आर्यसमाज के खिलाफ निषेधाज्ञा प्रचारित कर दी गई है। अब सभी नौसिखिए आर्यसमाज को ही अपने आक्रमणों का लक्ष्य बनायेंगे तथा निर्दोष लोगों के हृदयों को छलनी करेंगे। आक्रमणकारियों के धनुषों से छूटे ये तीर सीधे उन लोगों के हृदयों को बींध देंगे तथा उनकी अतिशय भावप्रवणता को आघात पहुँचायेंगे। यदि इनमें से कोई एक न्याय-भावना से प्रेरित होकर पीछे हटेगा तो दूसरा उसका स्थान ले लेगा और इस प्रकार यह आक्रमण चलता ही रहेगा। इसी स्थिति ने आर्यों के हृदयों को पीड़ित और जर्जरित कर दिया है। आर्य भाइयो, मेरी यह आशा निरर्थक नहीं जाएगी कि आप लोग स्वकर्त्तव्य का पालन करेंगे।

---

१. प्रसिद्ध पारसी सुधारक—बहरामजी मलाबारी

२. पटियाला के महाराजा भूपेन्द्रसिंह

आप उन लोगों से परामर्श की आशा न करें, जो अपने को आर्यसमाज के नेता घोषित करते हैं। यदि आप उनकी ओर आशाभरी नजरों से देखेंगे, तो मुझपर विश्वास करें, आपको निराशा ही हाथ लगेगी। मैं आपसे कहता हूँ, यदि ये ही लोग आपकी आशाओं के केन्द्रबिन्दु हैं तो आर्यसमाजों के ताले लगा दीजिये। यदि ये लोग ही आपकी आँखों के ध्रुवतारे हैं तब तो मेरे युवक मित्र ने अपने भाषण के द्वारा आपके हृदय में जो आशाएँ जगाई हैं, वे भ्रमजाल ही सिद्ध होंगी। किन्तु तथ्य तथ्य ही हैं। तथ्य आपको यह बताते हैं कि आर्यसमाज के संस्थागत रूप में नैतिक गुणों का इतना बड़ा एकत्रित भण्डार है, जो हमारे समाज के लिए मूल्यवान् सम्पत्ति के तुल्य है और इसी के द्वारा हम इतने नेताओं की सारी अक्षमताओं और उपेक्षावृत्ति के बावजूद विपत्तियों और संकटों से पार हो जायेंगे। मैं आपके समक्ष एक-दो ऐसे दृष्टान्त उपस्थित करूँगा जो आपके निराश हृदयों में आशा का संचार करेंगे तथा आपकी हतोत्साहपूर्ण मनोदशा को ऊपर उठायेंगे। मैं अपने दुःखी भाइयों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए पटियाला गया। वहाँ जाने पर पता लगा कि इस मुकद्दमे की सुनवाई उसी दिन ३ बजे मध्याह्न में होगी। मैं दुर्बलतावश अदालत तक पैदल नहीं जा सकता था, अतः गाड़ी में गया। जब मेरी घोड़ा-गाड़ी आर्यसमाज मन्दिर के निकट पहुँची, तो उसकी गति धीमी हो गई। इस जनहीन और संतरियों के पहरे लगे उपासनास्थल को देखकर मेरे मन में उदासी भर गई और कई दुःखद स्मृतियाँ उभर आईं। मेरे मन में उस दिन की घटनाओं का स्मरण हो आया, जब मैंने इसी मन्दिर के सभा-कक्ष में आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर भाषण दिया था। उस अवसर पर श्रोताओं के रूप में रीजेंसी कौंसिल के अनेक सदस्य तथा अन्य प्रतिष्ठित पुरुष मौजूद थे। उस अवसर पर दिये गये उस व्याख्यान का लोगों ने प्रसन्नतापूर्वक स्वागत किया था और उस समय किसी के दिल में आशंका का कोई भाव नहीं था। मानो सर्वत्र सूर्य का भव्य प्रकाश और ऋतुराज वसन्त प्रसरित हुआ हो। हमारे हृदय उस समय पुलकित हो रहे थे। हमारे अरमान बुलन्द थे और हम नानाविध मानसिक परि-दृश्यों को देखकर अपनी कल्पना को सन्तुष्ट कर रहे थे। उस अतीत और आज के वर्तमान के बीच इतना अधिक अन्तर्विरोध आ गया था, जिसके कारण मेरा उधर ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। आज समाज-मन्दिर पर ताला लगा हुआ था। बरामदे में चार तलवारें पड़ी थीं। पुलिस की वर्दी के दो कोट भी वहाँ पड़े थे। पुलिस का एक सिपाही इस पवित्र स्थान में धूम्रपान कर रहा था और दूसरा कोई बुनाई का काम कर रहा था। इस दृश्य को देखकर मैं हक्का-बक्का-सा रह गया, पूर्ण रूप से जड़ताग्रस्त हो गया। इस हृदयवेधक दृश्य ने मुझे अत्यधिक दुःखी कर दिया और एक क्षण के लिए मेरे मन में विचार आया

कि आर्यसमाज का घोर अपमान किया गया है। किन्तु इस पवित्र स्थान की निन्दा का यह विचार एक क्षणभर के लिए ही ठहर सका। दूसरे ही क्षण मानो कोई दैवी वाणी रहस्यात्मक ध्वनि तथा मधुर तान के साथ मेरे कानों में गूँज उठी—

"आर्यसमाज का अपमान नहीं हो सकता। यह अपमान, अपकीर्ति और लज्जा तो उनके लिए है, जो मानते हैं कि ओम् परमात्मा को कैद किया जा सकता है और आर्यों के धर्मस्थान के ऊपर यदि तलवार लटका दी जाये तो शाश्वत वेदज्ञान को ताले में बन्द किया जा सकता है। यह अपमान तो उनका है जो सोचते हैं कि ईंटों और गारे के बने पूजास्थल पर पहरा बैठा देने से सचाई को दबाया जा सकता है—उस शाश्वत सत्य को, जिसने बाइबिल और कुरान के लेखन-काल से भी शताब्दियों पूर्व करोड़ों लोगों को मानसिक शान्ति प्रदान की थी। हाँ, वही सत्य, जिसने जरदुश्त्र के जन्म के लाखों वर्ष पहले संसार को अपनी दिव्य, शाश्वत और निर्दोष ज्योति से उद्भासित किया था। निश्चय ही वे लोग अदूरदर्शी हैं, जो यह मानते हैं कि वेदों को कारावद्ध किया जा सकता है।"

पटियाला के आर्यों के निर्दोष होने का सुनिश्चित प्रमाण

जब मैं आगे बढ़ा, तो मैंने देखा कि मेरे अभियुक्त आर्य भाई तीन दलों में विभक्त होकर अदालत की ओर आ रहे हैं। जब मैंने उनकी ओर देखा, तो मुझे पता लगा कि उनके बोलने-चालने, आचरण और व्यवहार में एक विशेष प्रकार की शान है, जिसे देखकर मेरे हृदय में अचानक ही विचार उत्पन्न हुआ कि फाँसी के तख्तों पर ले-जानेवाले शहीदों की आन, बान और शान भी इसी तरह की होती होगी। ऐसा लगता था मानो सुख-दुःख को समान समझनेवाले दार्शनिकों की जमात विजय की मुद्रा में अपनी नियति के समक्ष निर्भीक होकर चली जा रही है और उनके होंठों पर एक ही वाक्य है—**ईश्वर, आपकी इच्छा पूर्ण हो**। लक्ष्मणदास, जो हमेशा से दुबला-पतला था, आज उसके चेहरे पर एक विचित्र प्रकार का ओज और चमक थी, जिसके कारण वह बदला-बदला-सा दिखाई दे रहा था और उसे पहचानना भी कठिन था। उनकी निर्दोषता ही उसके मुख पर अंकित हो रही थी। इनके साथ चलनेवाले पहरेदारों का चेहरा पीला और कालिमायुक्त था, जबकि अभियुक्तों की मुखाकृतियाँ अधिक तेजोयुक्त प्रतीत होती थीं। जब मेरे ये भाई मेरे नजदीक आये, तो उन्होंने उच्च स्वर में मुझसे नमस्ते की। उस समय मैंने सोचा कि ये लोग प्रभु से इतना प्यार करते हैं कि उसकी इच्छा को पूरा करने के लिए निस्संकोच फाँसी के तख्ते पर भी चढ़ सकते हैं। जब मैं दूसरी बार वहाँ गया, तो नन्दलाल नामक एक अन्य

अभियुक्त ने मुझे एक सन्देश भेजा। जब उसका संदेशवाहक मेरे पास आया तो मैंने समझा कि मेरे भाई ने शायद अपनी उन तकलीफों को बयान किया होगा, जो उसके तथा उसके अन्य साथियों द्वारा उठाई जा रही हैं। किन्तु उसके संदेश का भाव यही था कि चूंकि मेरा (मुन्शीराम का) स्वास्थ्य दुर्बल है तथा आर्य-समाज के लिए मेरे जीवन का बहुत मूल्य है, इसलिए मुझे विश्वास करना चाहिए और उन लोगों की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। वे सभी लोग प्रसन्न थे और किंचिन्मात्र भी निराश नहीं थे। सज्जनो, आप सोच सकते हैं कि उनके इस सन्देश ने मुझमें कैसी नवीन स्फूर्ति भर दी थी और भविष्य के प्रति कितना आशावान् बना दिया था। मैं यही बात अब अधिक जोर देकर कहना चाहता हूँ। वे लोग गलती पर हैं जो यह सोचते हैं कि धर्म को कुचला जा सकता है। यह तो परीक्षा की घड़ी है। यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित की जा चुकी है। इस यज्ञाग्नि में आप जितना अधिक घी डालेंगे, इसकी ज्वालाएँ उतनी ही अधिक उद्दीप्त होंगी और अपवित्र वस्तुओं को जला डालेंगी। सच्चे विश्वासियों के हृदय में जलनेवाली धर्म की पवित्र ज्वाला को बुझाने की शक्ति किसमें है?

आर्यसमाज का कर्तव्य

अब यह सोचना है कि इस समय आर्यसमाज का कर्त्तव्य क्या है? कुछ लोग सोचते हैं कि हमें शासकों की सेवा में प्रार्थनापत्र और स्मरणपत्र भेजने चाहिएँ। किन्तु मैं कहता हूँ, नहीं। मैं जानता हूँ कि हम लोग षड्यंत्रकारी नहीं हैं। हमारा किसी के प्रति द्वेष नहीं है। यदि हमारा कोई अपराध है, तो वह यही है कि हम किसी देशवासी के खिलाफ अधिकारियों के कान नहीं भरते। हम न तो मिथ्या कहानियाँ गढ़ते हैं और न साम्राज्य को कृत्रिम खतरों से बचाने की सनसनीखेज खबरें ही बनाते हैं। हमें तो अपने ऊपर अत्याचार करनेवालों के प्रति भी उदार भावना और अच्छे विचार रखने चाहिएँ। सज्जनो, यदि आपका दृष्टिकोण ऐसा रहता है तो धरती की कोई भी शक्ति आपको हानि नहीं पहुँचा सकती। अगर आपमें से कुछ लोग सोचते हों कि हमें अधिकारियों की सेवा में डेपुटेशन लेकर जाना चाहिए और अपनी राजनिष्ठा का बयान करना चाहिए, तो मैं साफ तौर पर कहना चाहता हूँ कि मैं ऐसे प्रतिनिधि-मण्डल में शरीक नहीं होऊँगा। क्यों? हमारे लिए राजभक्ति कोई दिखावे की चीज नहीं है। यह तो इस देश में हमारे अस्तित्व की पहली शर्त है। स्वामी दयानन्द ने एक बार कहा था—यदि अंग्रेज लोग इस देश को छोड़कर आज चले जायें तो हमारे धर्मोपदेशकों के सिर तुरन्त काट डाले जायेंगे। क्या कोई आर्य-समाजी एक क्षण के लिए यह सोच भी सकता है कि ब्रिटिश राज्य को यहाँ से चला जाना चाहिए और उसके स्थान पर सीमान्त प्रदेश की किसी जंगली-

जाति का राज्य स्थापित होना चाहिए। क्या कोई आर्यसमाजो यह चाहेगा कि अंग्रेजी शासन की जगह यहाँ पर अराजकता और गड़बड़ी फैले, क्योंकि हम जानते हैं कि अंग्रेजों में भी कई न्यायप्रिय तथा समझदार लोग हैं। क्या हम परम कृपालु सम्राट् एडवर्ड सप्तम की प्रजा नहीं हैं और क्या हमें अन्य वर्गों के लोगों की ही भाँति समान रूप से विश्वासपात्र नहीं समझा जायेगा ? फिर हमारी राजनिष्ठा के बारे में क्यों शंका की जाती है ?

यदि हमारे हृदय कपटरहित हैं और हमारे हाथ पाक-साफ हैं, यदि यह सत्य है कि आर्यसमाज का आदर्श शासन उस धरती का शासन नहीं है और वह भौतिक लाभों को तुच्छ समझता है, तो यह आर्यसमाज के लिए अपमान की बात होगी कि उसके प्रतिनिधि दुनियावी हाकिमों के सामने हाथ जोड़कर खड़े हों और साँस रोककर उनसे कहें--हम आपके वफादार हैं। आर्यसमाज को न तो डेपुटेशन भेजने चाहिएँ और न प्रार्थनापत्र। इस देश के अंग्रेज शासकों के प्रति आर्यसमाज की लौकिक विषयों को लेकर जो सम्मानास्पद धारणा है, वह यथार्थ है, मात्र पाखण्ड नहीं। यह कोई कल्पना का विषय नहीं है। जैसाकि मैंने कहा, देश के सुचारु संचालन के लिए यह एक अनिवार्य शर्त है। राजनिष्ठा का प्रमाण तो उन्हें देना चाहिए जो सोचते हैं कि काबुल, फारस और तुर्की उनके साथ हैं तथा सम्पूर्ण एशिया में मुस्लिम हुकूमत की स्थापना कुछ दिनों की ही बात है। जिन्हें सांसारिक सत्ता और लौकिक शक्ति चाहिए, वे ही शासकों के सामने जाकर दण्डवत् करें और अपनी राजभक्ति का प्रमाण दें। हमारा लक्ष्य तो धरती पर सचाई का राज्य स्थापित करना है और केवल विचारों की शक्ति से ही दुनिया का शासन करना है। हमें गोलमोल बात कहने, कूटनयिक प्रतिनिधि-मण्डल भेजने अथवा चापलूसी करने की कतई आवश्यकता नहीं है। हम जो कुछ करते हैं, खुलेआम करते हैं। हमें सत्य की विजय पर पूर्ण विश्वास है।

पटियाला अभियुक्त-रक्षाकोष

यदि आपमें इस प्रकार की सचेतनता है तो मैं आपसे रक्षाकोष की अपील नहीं करूँगा। यदि आपके भाई की पीड़ा और उनका निर्दोष होना ही आपके हृदय को नहीं पिघलाता, तो मेरे पास आपकी कर्त्तव्य-भावना को जगाने के लिए कोई भाषा नहीं है।

आप लोग अपने बच्चों को लाड-प्यार करते हुए तथा अपनी भार्याओं से मनोरंजन करते हुए सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। आप यह नहीं जानते कि ८४ बहादुर आर्यसमाजियों की स्त्रियाँ और बच्चे दिन-प्रतिदिन कष्ट और पीड़ा की जिन्दगी जी रहे हैं। उनके आंसुओं से धरती सिंचित हो रही है तथा उनकी

करुण पुकार से आसमान गूँज उठा है। इसमें तो कोई शक नहीं कि जो लोग हवालात में बन्द हैं, वे उत्साह से भरे हैं और उनके चेहरे चमक रहे हैं, किन्तु उनकी पत्नियों को जैसी पीड़ा और दुःख भोगने पड़ रहे हैं, उनका विचारमात्र ही हमें कंपित कर देता है। मुझे यह कहना चाहिए कि सचमुच के षड्यंत्र से मुझे कोई सहानुभूति नहीं है। मैं उसका पक्ष भी नहीं लेता। यदि आर्यसमाज में कोई व्यक्ति राजनैतिक कारणों से हत्या का समर्थन करता है, तो इसे मैं पाप की पराकाष्ठा समझता हूँ। ऐसे आदमी को यदि आप मार भी डालें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। वह आर्य भी नहीं है। यदि कोई सरकार को उखाड़ फेंकने की कोशिश करता है, तो आप उसे सजा दे सकते हैं।

आर्यसमाज ऐसे किसी व्यक्ति का साथ नहीं देता। किन्तु ईश्वर के लिए निर्दोष लोगों को तो हाथ न लगायें! आप उन्हें भी बख्श दें, जो अधर्म और बुराई की निन्दा करते हैं तथा जो सामाजिक कुरीतियों और हानिकर रिवाजों को नष्ट करने में अति उत्साही हैं। आर्य भाइयो, काली घटाएँ आपके चारों ओर फिर रही हैं। आप ही के देशवासी, जिनके हित के लिए आपने निःस्वार्थ-भाव से दीर्घ काल तक काम किया, वे ही आज आपके विरुद्ध हो रहे हैं। मुझे बताया गया है कि सभी ईसाई, मुसलमान और जैन हमारा कट्टर विरोध कर रहे हैं। आर्यों को यह जान लेना चाहिए कि सच्चे और ईश्वरभक्त लोग, चाहे किसी धर्म के माननेवाले हों, हमारे विरुद्ध प्रच्छन्न कार्यवाही करने को अपराध समझते हैं। इससे हमें और अधिक सान्त्वना मिलती है। किन्तु यदि ऐसा नहीं होता, तब भी हमारा कर्त्तव्य तो स्पष्ट है। वे सभी आर्य जो अत्याचार के शिकार होने के कारण गुस्से में हैं, अपने कर्त्तव्य के मार्ग से हट चुके हैं। किन्तु मुझे आप कहने की आज्ञा दें कि सच्चा आर्यत्व तो विपत्ति के भयानक क्षणों में भी अपने मस्तिष्क को सन्तुलित बनाये रखने में है। जब आप अत्याचार से पीड़ित हों, तो यह सोचें कि आप पर अत्याचार करनेवाला एक दिग्भ्रमित व्यक्ति है, जो यह नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि धैर्यवान् पुरुष न्यायोचित मार्ग से कभी अपना पग पीछे नहीं हटाते।[1] आप सबके विचार इसी प्रकार उदार भावापन्न हों। आर्यो, वह दिन दूर नहीं है, जब विपत्तियाँ एक के बाद एक आयेंगी और आपको न केवल कठोर कारावास ही सहन करना पड़ेगा, किन्तु इससे भी खराब स्थिति आ सकती है। उस समय यदि आप थोड़ा भी विचलित हो जाते हैं और आपमें बदले की भावना आ जाती है, या प्रतिशोध का भाव आ जाता है, तो आप आर्य नाम को कलंकित ही करेंगे। ईश्वर आपमें सहनशीलता की शक्ति पैदा करे। प्यारे

---

१. न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः। (नीतिशतक)

भाइयो, आप वेदज्ञान के संरक्षक हैं। आपको आत्मिक शक्ति के विकास का अलभ्य अवसर मिला है, तथा संसार में परमात्मा के ज्ञान वेदों के प्रचार का दायित्व प्राप्त हुआ है। आपको तो आनेवाली पीढ़ी को उस अमृत का पान कराना है, जिससे मानवता में आध्यात्मिक भावना जीवित रहेगी। जो जातियाँ और राष्ट्र नैतिक दृष्टि से मृत तथा आत्मिक दृष्टि से शक्तिहीन हो गये हैं, उन्हें पुनः जीवन प्रदान करना भी आपका ही कर्त्तव्य होगा। आप अपने इन महत्त्वपूर्ण विशेष दायित्वों की बात सोचें और तब मुझे बतायें कि क्या आपको बदले की भावना से कोई कार्यवाही करनी है? लोग चाहे आप पर अत्याचार करें, किन्तु आप अपने ऊपर अत्याचार करनेवालों को आशीर्वाद ही दें। आप इस आशा से अपना कार्य करें कि एक दिन सारा संसार ओम् के झण्डे-तले आ जाएगा। यदि आपको ऐसी रक्तहीन क्रान्ति करनी है, तो अपने में सहनशीलता पैदा करें। केवल आर्यावर्त में ही स्वराज्य स्थापित करने का संकीर्ण विचार नहीं रक्खें। आपका लक्ष्य तो सत्य, धर्म और न्याय पर आधारित स्वराज्य की स्थापना सारे संसार में करने का होना चाहिए—इंगलैण्ड, जर्मनी और अन्य सभी देशों में। हमारी कामना तो यही होनी चाहिए कि ईश्वरीय धर्म की शिक्षाओं को हम प्रत्येक मुकुटधारी राजा तक पहुँचा दें तथा वैदिक और शास्त्रीय अमृतरस की उन बूंदों से मानवता के मस्तिष्क तथा हृदय को सिक्त कर दें, जो नवजीवन तथा नवशक्ति प्रदान करनेवाली है। यदि हमने इन भावों से प्रेरित होकर कार्य किया, तो संसार में स्वर्णिम युग को आने में देर नहीं लगेगी। लोग तो यह सोचने लगे हैं कि आर्यसमाज के अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न हो गया है तथा इससे पहले कि आर्यसमाजरूपी पुष्प पूर्णतया खिलकर अपनी मधुर सुगंध को सर्वत्र फैलाये, वह तो कली के रूप में ही मुरझा जायगा।

आर्यसमाज की विजय का रहस्य

किन्तु आशा की एक किरण अब भी बाकी है, जो आसपास के निराशा के वातावरण को दूर कर सकती है। यद्यपि आर्य लोग बिरादरी के मामलों तथा अन्य मसलों को लेकर अदालतों में झगड़ा कर रहे हैं तथा उनका समाज पारस्परिक मतभेदों के कारण छिन्न-भिन्न हो रहा है, तथापि निराश होने का कोई कारण नहीं है। जो लोग हिन्दू बिरादरियों पर अपना नियंत्रण करना चाहते हैं तथा जन-सेवा का लाभ भौतिक पुरस्कारों के रूप में प्राप्त करना चाहते हैं, वे लोग वैदिक धर्म को नहीं समझते। आर्यों की वैयक्तिक कमजोरियों के उपरान्त भी आर्यसमाज निरन्तर विजयपथ पर आगे बढ़ रहा है, इसका एक-मात्र कारण यही है कि किसी संस्था की सफलता इस या उस नेता के प्रयत्नों

पर निर्भर नहीं है। इसका कारण तो आर्यसमाज के उद्देश्यों की सचाई तथा उसके सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता ही है। वैदिक मन्तव्यों की सत्यता को यूरोप और अमेरिका के लोगों ने भी स्वीकार किया है। इस विश्वास को अपनाकर कि हम सत्य सनातन धर्म की सर्वोच्चता को पुनः स्थापित करने के लिए ही प्रयत्नरत हैं, हमें सारे कष्टों और अत्याचारों को सहर्ष सहन करना चाहिए। यदि मुसलमान और ईसाई आपसे दुर्भावना रक्खें और सरकार को आपके खिलाफ भड़कायें, तब भी उनके प्रति आपके हृदय में करुणा के अतिरिक्त अन्य कोई भाव नहीं आना चाहिए। जब आप इस स्थिति को प्राप्त कर लेंगे, तो संसार की कोई लौकिक सत्ता आपको हानि नहीं पहुँचा सकेगी। यदि आपमें इतनी सहिष्णुता नहीं है, तो बेशक आप आर्यसमाज को त्याग दें। इस धर्म में आपके लिए कोई स्थान नहीं है।

ईश्वर में विश्वास रखकर न्यायोचित कार्य करें

वैदिक धर्म के अनुयायियो, यह मत सोचो कि खतरे के समय आर्यसमाज के प्रधान या मंत्री आपकी रक्षा के लिए आयेंगे। अपने-आपको प्रभु की इच्छा के आगे पूर्णतया समर्पित कर दो। वेद के विश्वासी होने के कारण आपको शंका और संदेह का शिकार होना शोभा नहीं देता। आपमें अविनश्वर आत्मा का निवास है। अग्नि इसे जला नहीं सकती और न हवा इसे उड़ा ही सकती है। कोई शस्त्र इसे काट नहीं सकता।[1] यदि ऐसा है, तो प्रधान या मंत्री की सहायता क्यों चाहते हैं? आप यदि आत्मा को अमृतपुत्र मानते हैं,[2] जैसाकि वेदों ने भी निर्विवाद रूप से कहा है, यदि आप भी ईश्वर की ही भाँति अमर तथा शाश्वत हैं, तो किसी मानवी शक्ति की शरण में क्यों जाते हैं? यदि शरण ही लेनी है, तो हम अपने परमपिता की शरण क्यों न लें? आर्यसमाज के सभासदो, यह परीक्षा की घड़ी है। जिन्होंने आर्यसमाज को बदनाम किया है, उन कायरों को भाग जाने दो। वे अपनी दूषित उपस्थिति से सम्पूर्ण समाज को गंदा और बदनाम न करें। मेरी आशाएँ तो उन लोगों पर केन्द्रित हैं, जिनके मन पूर्ण सन्तुलित तथा वैदिक शिक्षाओं से ओतप्रोत हैं, जिन्होंने आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि के महान् जीवन का अनुशीलन किया है तथा प्रकाशस्तम्भ के तुल्य उसी से अपनी बुद्धि को प्रदीप्त किया है। वास्तव में दयानन्द ही जीवन-यात्रा के पथिक के आदर्श दीपस्तम्भ हैं।

---

१. गीता और कठोपनिषद् में इसी अभिप्राय को व्यक्त करनेवाले वचन आये हैं। —सम्पादक

२. श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः (यजुर्वेद)

पटियाला के उन आर्य पुरुषों के बारे में सोचो, जो अपने धर्म के लिए कष्ट सह रहे हैं। उन्हें ही अपना आदर्श बनाओ। आज लोग विषय-वासना के भँवर में डूब रहे हैं। आप ईश्वर के प्रेम में स्वयं को निमज्जित करें। ईश्वर के राज्य के दरवाजों को खटखटाएँ तो आप उसमें प्रवेश पा सकेंगे। उसी समय आपको मन की वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकेगी और उसी परिस्थिति में आप अपने पीछे ऐसी स्मृति छोड़ जायेंगे, जिसे आनेवाली पीढ़ी कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करेगी। मैं नाम और ख्याति की बात नहीं करता। यह तो क्षणिक तथा नश्वर है।

किन्तु कर्म का तथा उसके फल का सिद्धान्त अटल है। कर्म कभी नष्ट नहीं होता। एक कर्मठ और शक्तिशाली व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का प्रभाव इतिहास पर इस प्रकार छोड़ जाता है, जिसे मिटाना या धूमिल करना काल की प्रबल अंगुलियों द्वारा भी सम्भव नहीं है। मैंने अपने इस व्याख्यान का आरम्भ एक वेद-मंत्र से किया था, जिसमें तेज के लिए प्रार्थना की गई थी। इसे प्राप्त करने के लिए हमें उचित साधन जुटाने होंगे। हृदय की पवित्रता तथा सहिष्णुता अपनानी होगी। अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए कष्ट उठाना सीखो तथा आत्म-निरीक्षण भी करो। ईश्वर के नाम का जप करो, यम तथा नियमों का पालन करो। तब आपको तेज की प्राप्ति होगी। यह तेज आपके मन को शक्तिशाली तथा आत्मा को सुदृढ़ बनायेगा और उसके पश्चात् ही आपकी मानसिक शक्तियाँ आपको उपलब्ध हो सकेंगी।

सज्जनो,

यदि वेद सत्यज्ञान का शास्त्र है और वेद का निर्माता परम सत्यस्वरूप परमात्मा स्वयं है, तब तो दयानन्द का यह युद्धघोष वातावरण में सर्वत्र गूँज उठना चाहिए—**जबतक मैंने सत्य के कवच को पहन रक्खा है, तबतक मैं अपराजेय हूँ।** याद रक्खो, जबतक आर्यसमाज का कार्यक्रम सत्य पर आधारित है, दुनिया की कोई ताकत उसे कुचल नहीं सकती। परमात्मा एक है, वेद समस्त ज्ञान का अद्वितीय भण्डार है, धर्म एक है और इस युग में सत्य का दूत दयानन्द भी एक ही था। सत्य को ही अपना ध्येय बनाओ और दयानन्द को अपना उदाहरण बनाओ, फिर आप किसी से क्यों डरें? भय क्या है?

भय तो कल्पना से ही प्रसूत तथा स्वयंनिर्मित इन्द्रजाल है। यदि आपका अन्त:करण पवित्र है, तो आपको किसी प्रकार का भय नहीं सताएगा। हमारे धर्म की नींव इतनी गहराई पर रक्खी हुई है कि उसे मुसलमान, ईसाई या सरकार—चाहे वे कितने ही बलशाली क्यों न हों, हिला नहीं सकते। आपके सबसे बड़े दुश्मन तो दुर्भावना और दुष्कर्म ही हैं। ये आपका सर्वनाश कर सकते हैं। अत: अपने हृदय को पवित्र करो, अपनी भावना को शुद्ध बनाओ, अपने

चरित्र को ऊँचा उठाओ तथा धर्म की शरण ग्रहण करो। आर्य भाइयो, मैं सुरक्षा-कोष के लिए आपसे अपील नहीं करता। ऐसा करना आपकी दानशील प्रवृत्ति का अपमान होगा। अपना आत्मपरीक्षण करो तथा विद्वेष और शत्रुता को त्यागने की प्रतिज्ञा करो। अहिंसा धारण करो। अपने मनों को पवित्र करोगे तो तुम्हारे आसपास का सारा वातावरण ही शुद्ध, पवित्र और निर्मल हो जायगा। परम शक्तिमान् परमात्मा से प्रार्थना करो, शक्ति के लिए, सहनशीलता के लिए, ताकि आप सभी कन्धे-से-कन्धा मिलाकर लक्ष्य की ओर बढ़ सको। ऐसी संकट की घड़ी में एकता ही शक्ति होती है और संगठन ही जीवन होता है। पौराणिक कथा है कि जलंधर दैत्य के प्रत्येक रक्त-विन्दु से उसी की भाँति शक्तिशाली १६००० तगड़े राक्षस पैदा हो जाते थे। हमारे साथ भी ऐसा ही हो।

आर्यगण, आपमें से कुछ लोगों में धर्म के प्रति आस्था का अभाव है। धर्म के प्रति आस्था पैदा करो। ईश्वर में विश्वास धारण कर अपनी आत्माओं को शक्तिसम्पन्न करो। हम लोग दुर्वलताओं के समूह हैं। किन्तु यह सब होने पर भी यदि हम अपनी जीवन-यात्रा को ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास और वेदों में अटल आस्था के साथ आरम्भ करेंगे, तो हम अपने सभी शत्रुओं पर विजय पाकर उन्हें अपना साथी वना लेंगे। आप अपने प्रेम के द्वारा अपने कट्टर शत्रुओं के दिल को जीत सकते हैं। अपने शत्रु के प्रहार को सहन करने के लिए आपके सिर झुक जायें। चाहे आपकी गर्दनें ही कट जावें, किन्तु आपके मुख से वेदना का कोई स्वर उभरकर बाहर न आये। आप विना किसी आपत्ति के, इस क्रूस (Cross) को, भारी होने पर भी, प्रसन्नतापूर्वक उठायें। यदि ऐसे अवसर पर आपका मुख खुले भी, तो उससे ऊँची और मधुर ध्वनि में यही शब्द निकलें—**हे ईश्वर, आपकी इच्छा पूर्ण हो।**

यदि आप इस भावना से प्रेरित होकर कार्य करते हैं तो हिन्दू, मुसलमान और ईसाई, सभी प्रसन्नता और स्वेच्छा से आपका सम्मान करेंगे। यदि आनेवाले एक दशाब्द तक आपने सिर नवाकर वेद में अपने विश्वास की घोषणा की, तो ईसाई, मुसलमान, अमेरिकन तथा यूरोपियन, सभी लोग आर्यों पर फूलों की वर्षा करेंगे। हम चाहे उस समय इस शरीर में जीवित न रहें, किन्तु यदि पुनर्जन्म का सिद्धान्त सत्य है, तो हम अपने प्रयत्नों की सफलता को अपने ही नेत्रों से देखेंगे। प्रिय भाइयो, क्या आपकी यह इच्छा नहीं है कि ईसाई, मुसलमान तथा अन्य सबको वैदिक धर्म में प्रविष्ट कराया जाये, मूर्तिपूजा तथा मृत पुरुषों के स्मारकों की पूजा को समाप्त किया जाय तथा अन्धविश्वास दूर किये जायँ और उसके साथ-साथ एक ईश्वर की पूजा को पुनः स्थापित किया जाय?

यदि आप उसी स्वर्णयुग को लाने का ईमानदारी के साथ संकल्प करते हैं तो आग और तलवार के वीच में से निकलने के लिए तैयार रहें तथा भाग्य की

शिकायत न करें। जब आपके मन की ऐसी स्थिति हो पायगी, तो आपको दिव्य विजय प्राप्त होगी तथा सफलता और लक्ष्य-प्राप्ति की देवी आदरपूर्वक आपकी प्रदक्षिणा करेगी। आपकी विजय होगी, आर्यसमाज की विजय होगी, वैदिक धर्म की विजय होगी तथा परमात्मा के ध्येय की विजय होगी। हे पिता, ऐसी कृपा करो कि इस विशाल पण्डाल में हम सब भाई-बहिन अपने विनम्र प्रयत्नों के द्वारा विश्वशान्ति के युग का आरम्भ करने का व्रत धारण करें। भाइयो और बहिनो, आप भी यह पवित्र व्रत लें और अपने पवित्र मन से व्रतरक्षक परमात्मा[1] से अपने पवित्र निश्चय को पूरा करने की शक्ति प्राप्त करने की प्रार्थना करें।

१. यजुर्वेद १/५ में परमात्मा को व्रतपति कहा गया है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।।

आर्यसमाज एक राजनैतिक संस्था ?

[श्री मदनमोहन सेठ एम० ए०, एल० एल० बी०, वकील हाईकोर्ट (इलाहाबाद) द्वारा भारतमन्त्री विस्काउंट मॉर्ले ऑफ ब्लैकबर्न के नाम भेजे गये **"आर्यसमाज : एक राजनैतिक संस्था ?"** शीर्षक पुस्तकाकार प्रकाशित खुले पत्र का महात्मा मुन्शीराम, आचार्य गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार द्वारा लिखित प्राक्कथन]

ऐसे आदेश प्रसारित किये गये हैं कि आर्यसमाज को एक षड्यन्त्रकारी, विद्रोही आन्दोलन के रूप में कुख्यात किया जाय। इस नारे को ईसाई प्रचारकों, कट्टरपन्थी हिन्दू और मुसलमानों, शीर्ष स्थान पर विराजमान प्रान्तीय शासकों, मैदानी प्रान्तों के अधीनस्थ अधिकारियों, टुक्कड़खोर हिन्दुस्तानी चापलूसों तथा ऐंग्लो-इण्डियन प्रेस के शरारती गोराशाहों ने हाथों-हाथ अपना लिया। लाला लाजपतराय के देश-निष्कासन के बाद कोई ऐसा सम्भव अपराध नहीं बचा, जिसे आर्यसमाज के निष्ठावान् नेताओं के माथे न मँढ़ा गया हो। हिन्दुओं, मुसलमानों, तत्-खालसा, यहाँ तक कि ईसाई कट्टरपन्थियों के अब तक अवरुद्ध कायरतापूर्ण विक्षोभ का बदला लेने की भावना से आर्यसमाज के विरोध में इसीलिए उभारा गया, क्योंकि इन साम्प्रदायिक तत्त्वों की यह धारणा थी कि आर्यसमाज के द्वारा उनका अत्यन्त अहित हुआ है।

गम्भीर और दूरदर्शी भारतीय देशभक्ति की भावना का स्थान थोड़े समय के लिए एक नये, बड़बोले राष्ट्रवाद ने ले लिया, किन्तु इस राष्ट्रवाद के प्रस्तोताओं को लोगों की दुःखद स्थितियों का वास्तविक ज्ञान उसी प्रकार नहीं था, जिस प्रकार कि क्रान्ति-पूर्व के फ्रांस के गणतन्त्रवादियों को उस देश की जनता की दुर्दशा का सही ज्ञान नहीं था। इस देश के वाचाल किन्तु अज्ञानी वक्ता, जो अजीतसिंह के निष्कासन के बाद कोहरे की भाँति गायब हो चुके थे, भारत के करोड़ों लोगों से कोई वास्तविक सहानुभूति नहीं रखते थे। मिथ्या अभिमान तथा महत्त्वाकांक्षा ने उन्हें "पूर्ण स्वराज्य" का नारा लगाने के लिए बाधित किया था और जब उनकी उपर्युक्त दुर्वृत्तियों की सन्तुष्टि सम्भव नहीं हुई तथा उन्हें भयंकर दमन का शिकार होना पड़ा, तो वे ही लोग सरकार के सामने मिथ्याभाषी और चापलूस जासूसों की भूमिका में आ गये। उस समय

उन लोगों ने परस्पर मन्त्रणा की, और अन्याय तथा उत्पीड़न की आहत देवी को तुष्ट करने के लिए किसी निर्दोष की बलि देने का विचार किया। सोये ब्रिटिश सिंह को जगाया गया और उसे खून पेश करना आवश्यक हो गया, जिसके बिना उसका रोष शान्त होना कठिन था। राष्ट्र के पापों को खून से धोने की साजिश की गई। आर्यसमाज को ही बलि का बकरा बनाने का विचार हुआ और उसी के खून से राजनीतिज्ञों के पाप को धोने का प्रयत्न किया गया।

ऐंग्लो-इण्डियन समाज भयभीत था। सरकारी अधिकारियों ने अपना मानसिक सन्तुलन खो दिया और एक प्रबुद्ध सरकार के लिए सर्वथा अनुपयुक्त सूचना प्रसारित की गई। सरकारी अधिकारियों को राजनीति में जाने से प्रतिबन्धित करनेवाले पुराने आदेशों को तोड़-मरोड़कर उन्हें नौकरशाहों की मनचाही प्रवृत्ति के अनुकूल बनाया गया। यदि दौलतराम के मुकद्मे में साक्षी के रूप में पेश हुए सूबेदार शुभराम की बात का हम विश्वास करें, तो हमें इसी निर्णय पर आना पड़ेगा कि सन्तुलित मस्तिष्क रखनेवाले प्रधान सेनापति लॉर्ड किचनर के साहस को भी दबाया गया और उन्हें एक आदेश प्रसारित करने के लिए कहा गया, जिसका भाव यही था कि किसी आर्यसमाजी की छाया भी ब्रिटिश सैनिक छावनी के इर्द-गिर्द नहीं पड़नी चाहिए। अपने वरिष्ठ अधिकारियों के आदेशों की अवहेलना करने का जो परिणाम इस बेचारे सूबेदार को भुगतना पड़ा उसे, उसी के दर्दभरे शब्दों में सुनिये—"अभियुक्त (दौलतराम) इससे पहले हमारी पलटन में कभी नहीं आया था। हमें उसके आने का पता उसी दिन लगा। मैं यह नहीं जानता कि उसे किसने बुलाया।···अभियुक्त ने कोई भाषण नहीं दिया। करीब डेढ़ मन आटा इकट्ठा हुआ। जानकारी लेने पर उसने बताया कि वह ब्राह्मण है, आर्य नहीं। वह अनाथों को पढ़ाता है और उन्हीं के लिए आटा इकट्ठा करता है। गत वर्ष हमें एक आदेश मिला था, जिसमें कहा गया था कि किसी आर्यसमाजी को पलटन में न आने दिया जाय, तथा न कोई सिपाही आर्यसमाज में जाये। इसलिए मैंने अभियुक्त से पूछा था कि कहीं वह आर्यसमाजी तो नहीं है? सेना में सिपाहियों का आर्यसमाज की सभाओं में जाना प्रतिबन्धित है।··· सारे मामले की रिपोर्ट २४ अगस्त १९०८ को कमांडिंग ऑफिसर के सामने की गई। इस कारण मेरे वेतन में २० रुपये प्रतिमास की कटौती हुई और जमेदार का वेतन १० रुपये प्रतिमास कम कर दिया गया। इस कटौती का कारण यह बताया गया कि हमने उक्त मामले की तुरन्त रिपोर्ट क्यों नहीं की।"

उपर्युक्त कथन पर कोई टिप्पणी करना अनावश्यक है। इस मामले को मुलतान छावनी आर्यसमाज के मामले के साथ जोड़कर देखें। आपको इस दुःखद निष्कर्ष पर पहुँचना ही पड़ेगा कि भारत का सेना-विभाग वैदिक धर्म को नीचा दिखाने के लिए उतारू है। किन्तु क्या भारत के नागरिक प्रशासन-विभाग की

स्थिति कुछ अधिक भिन्न है ? क्या सरकारी अधिकारियों ने अपनी नीति को थोड़ा भी बदला है ? क्योंकि हम देखते हैं कि मई १९०७ से ही दमन का जो चक्र चला है, वह अद्यावधि चल ही रहा है ।

ऐसी स्थिति में वैदिक धर्म के सेवकों के लिए यह सर्वथा उचित ही था कि वे अपनी संस्था की निर्दोषता को सिद्ध करने के लिए सरकार को समझाने का प्रयत्न करें तथा यथासम्भव यह भी बतायें कि वैदिक धर्म को नष्ट करने के प्रयास अन्ततः व्यर्थ सिद्ध होंगे । यों तो अपनी प्रिय संस्था के बचाव में अनेक लेखक सामने आये, किन्तु इस सम्पूर्ण प्रसंग को सुबोध तथा संक्षिप्त रूप में ब्रिटिश सरकार के समक्ष जिस प्रकार श्री मदनमोहन सेठ ने प्रस्तुत किया है, वह अपने-आप में एक मिसाल है । उनका लॉर्ड मॉर्ले को लिखा गया खुला पत्र आर्य-समाज के पक्ष को सशक्त किन्तु शिष्ट भाषा में प्रस्तुत करता है । इसके उपरान्त भी यदि कोई गलतफहमी अवशिष्ट रहती है, और परिणामतः भारत में धर्म का भावी इतिहास अनावश्यक कठोरता के कारण कलंकित होता है, तो आर्यसमाज अपनी पवित्र आत्मा को साक्षी बनाकर यही कहेगा कि उसने अपने कर्त्तव्य-पालन की उपेक्षा नहीं की है ।

अपने आर्यसमाजी भाइयों को अन्तिम परामर्श देने के पहले मैं भारत में ब्रिटिश सत्ता के उत्तरदायी विभागाधीशों से कुछ शब्द कहूँगा । यह तो सही है कि इस विषय पर अभी अन्तिम शब्द नहीं कहे गये हैं, किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि मैंने तो ब्रिटिश सरकार को आखिरी तौर पर जो कुछ कहना था, वह कह दिया है ।

सरकार को एक क्षण के लिए स्मरणीय और कृपालु महारानी विक्टोरिया द्वारा धार्मिक मामलों में तटस्थ रहने की नीति के प्रति अपनी गम्भीर जिम्मेदारी को समझना चाहिए । यहाँ मैं पूछना चाहता हूँ कि १८५७ की हलचल में जिन विद्रोहियों के हाथ बेकुसूर स्त्रियों और बच्चों के खून से रँगे हुए थे, उन्हें भी अभय दान देने की आवश्यकता महारानी को क्यों हुई ? इसमें एक विचारशील तथा अपनी जाति के महान् पुरुष, एक अंग्रेज का ही हाथ था, जिसने दूरदर्शी राज-नीतिज्ञ की दृष्टि से उस स्थिति को भाँप लिया था, जो आगे जाकर भारत सरकार के अधिकार को कमजोर बना देती ।

११ दिसम्बर १८५७ को लॉर्ड ग्रेनविले को लिखे एक पत्र में तत्कालीन वायसराय लॉर्ड कैनिंग ने लिखा था—"मैं कुछ ऐसे खतरों का निराकरण करना चाहता हूँ, यदि समय रहते इनका निराकरण नहीं किया गया, तो ये इंग्लैण्ड द्वारा भारत को शासित करने के प्रयत्नों को अवरुद्ध कर देंगे । मुझे पुनः उसी पुराने अध्याय को खोलकर आपको बताना पड़ेगा कि आनेवाली कई पीढ़ियों तक इस विशाल देश में रहकर राज्य करनेवाले अंग्रेजों की संख्या तो मुट्ठीभर

ही होगी, अत: वे अपने राज्य-संचालन के लिए यदि इस देश के समस्त वासियों पर अविश्वास करते रहे, उन्हें कलंकित करते रहे तथा उनपर नाना प्रकार के प्रतिबन्ध लगाते रहे, तब तो उनका शासन चलाना कठिन हो जायगा। बिना किसी पश्चात्ताप के हम वही करेंगे जो आज तक, जहाँ तक मैं जानता हूँ किसी सरकार ने किसी देश में नहीं किया है। हम भारत में भी वही करेंगे जो हमने उस समय भी नहीं किया था, जबकि इस देश में हमारी स्थिति सर्वाधिक कमजोर थी।''

उपर्युक्त उद्धरण में कितनी सचाई तथा पुरुषोचित साहस का परिचय दिया गया है! और क्या ब्रिटिश साम्राज्य के उस वर्तमान महान् शासक ने अपनी प्यारी माता द्वारा प्रदत्त आश्वासन में ही अपना विश्वास पुन: व्यक्त नहीं किया है? किन्तु भारत-सम्राट् के इन आश्वासनों की उन लोगों को क्या चिन्ता है जो भारत में उनके प्रतिनिधि बनकर राज्य करते हैं? उन लोगों ने सम्राट् के द्वारा धर्म-शास्त्र के वाक्य की भाँति मान्य उस घोषणा का कितना सम्मान किया है, जिसमें कहा गया था कि उनकी प्रजा का कोई भी व्यक्ति केवल इसीलिए कि वह अमुक धर्म का पालन करता है, पक्षपात, अत्याचार तथा उत्पीड़न का शिकार नहीं बनाया जाएगा? किन्तु आज इस आश्वासन के सर्वथा विपरीत बातें हो रही हैं। तब हम शान्तिसंस्थापक सम्राट् एडवर्ड के समक्ष ही अपील क्यों न करें, जो अपनी प्रजा के प्यारे पिता हैं। यह प्रश्न प्राय: मेरे आर्यसमाजी भाइयों द्वारा कई बार पूछा गया है? दु:ख की बात तो यह है कि यूरोप में शान्ति की स्थापना करनेवाले सम्राट् एकवर्ड भी अपनी प्रजा की सहायता करने में सर्वथा अक्षम हैं। प्राच्य देशों के लोगों को यह जानकर कैसा धक्का लगेगा? किन्तु यह एक तथ्य है।

तो क्या पूर्वाग्रह और कट्टरपन के शिकार अभागे लोगों के लिए आशा की कोई किरण नहीं बची है? दुनिया में कितने ही गये-गुजरे हालात क्यों न हों, आशा तो बची ही रहती है। यदि भारत सरकार के शीर्ष पर विराजमान (वायसराय) स्थिति की गम्भीरता को समझें, तो वे अब भी अपने धर्म के प्रति दृढ़ आस्थावाले हजारों-लाखों लोगों की कृतज्ञता अर्जित कर सकते हैं। वे इस राज्य के न केवल एक दृढ़ स्तम्भ ही सिद्ध हो सकते हैं अपितु वे लाखों विषण्ण और निराश व्यक्तियों को ब्रिटिश साम्राज्य का निष्ठावान् और वफादार शुभ-चिन्तक भी बना सकते हैं। उन्हें प्रधान सेनापति को प्रेरणा देनी चाहिए कि वे उस आदेश को वापस लें, जिसके कारण ब्रिटिश सेना के हजारों आर्यसमाजी अपने प्रिय धर्म से सान्त्वना प्राप्त करने से वंचित कर दिये गये हैं। उन्हें एक अध्यादेश निकालकर सम्राट् के सभी नागरिक अधिकारियों को कहना चाहिए कि वे आर्यसमाजियों को हमारे कृपालु सम्राट् की अन्य प्रजा के ही तुल्य समझें।

बस वे केवल इतना ही करें, और मैं उन्हें आश्वासन देता हूँ कि उन्होंने किसी अन्य वायसराय की अपेक्षा भारत में ब्रिटिश शासन के स्थायित्व के लिए बहुत अधिक कर दिया है।

आर्यसमाज के भाइयो, आपकी उचित शिकायतें आपके ही धर्म-भाइयों द्वारा ब्रिटिश सम्राट् के समक्ष रक्खी जा चुकी हैं और उनका एतद्विषयक प्रयत्न पूर्ण हो चुका है। किन्तु क्या आपका काम पूरा हो गया है? क्या आपका धर्म सुनिर्धारित तथ्यों पर आधारित नहीं है? वैदिक धर्म हमारी वासनाओं, इच्छाओं और आशाओं तथा भय के भावों को उत्प्रेरित नहीं कराता, बल्कि वह सन्तुलित मस्तिष्कवाले प्रबुद्ध इन्सान के न्यायपूर्ण निर्णय को अपील करता है। इसका कारण यह है कि यह धर्म सत्य—दैवी सत्य के ठोस आधार पर खड़ा है, जिसके अभाव में जीवन और प्रकाश दोनों ही क्षयग्रस्त हो जाते हैं। किन्तु धर्म के इतिहास में सत्य को उसके सहोदर भ्राता उत्पीड़न से पृथक् कहाँ देखा गया है? सत्य पर आरूढ़ व्यक्ति को सदा ही अनेक पीड़ाओं का सामना करना पड़ा है। क्या आप नैतिक उत्पीड़न की वेदी पर सत्य का बलिदान करेंगे? आर्यों को जेल जाने तथा काले पानी में भेजेजाने की आवाजों को सुनना पड़ेगा। उनपर राजनैतिक साजिशों के प्रणेता होने के आरोप भी लगाये जाते रहेंगे तथा विचार-हीन सामान्य लोगों द्वारा उनके लेखन को भारत में क्रान्तिकारी विचारों का प्रसारक माना जाता रहेगा। यदि आप इस उत्पीड़न को बिना कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किये, सहन करने के लिए तैयार नहीं हैं, यदि आप उन लोगों के आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिए भी कार्य करने को तैयार नहीं हैं, जो आपको ही पीड़ा दे रहे हैं, और यदि आप अपने आत्मा के भीतर से निकली सत्य और ज्ञान की ध्वजा को ऊँचा उठाने की ध्वनि को नहीं सुनते हैं, तो आप अपने आर्य होने के झूठ लबादे को उतार फेंकें तथा जो लोग अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में आपकी अपेक्षा दृढ़तर संकल्पवाले हैं, उनके मार्ग के बाधक न बनें। ध्यान रहे आपका अन्तिम ध्येय ब्रह्म-धाम को प्राप्त करना ही है। यह भी याद रहे कि आप स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता हैं।

—मुन्शीराम

पुरोवाक्

[जर्मन ग्रन्थ हत्यारों का इतिहास (History of the Assassins) के अंग्रेजी अनुवाद के भारतीय संस्करण की स्वामी श्रद्धानन्द लिखित भूमिका]

"हत्यारों का इतिहास" विशेष अभिरुचियोंवाले एक ऐसे समाज का अभिलेख है जिसने दो शताब्दियों से भी अधिक समय तक सम्पूर्ण मुस्लिम जगत् पर अधिशासन किया तथा धर्म-युद्ध करनेवाले रोमन कैथोलिक ईसाइयों के सम्प्रदाय को भी स्वर दिया। लम्बे समय से यह पुस्तक अमुद्रित है। मुस्लिम लेखकों ने भारत में प्रमुख रूप से उभरकर आई मुस्लिम जातियों, विशेषकर आगाखानी खोजा, जो कि नाजरियों की उसी जाति से सम्बन्ध रखते थे, जिनका जन्म हसन-बिन-सब्बाह के द्वारा प्रारम्भ की गई क्रान्ति के अवशेषों से हुआ, के विषय में लिखने के लिए इसकी सामग्री का भरपूर उपयोग किया।

यह एक ऐतिहासिक महत्त्व की पुस्तक है और, जहाँ तक मेरा ज्ञान है, सम्पूर्ण भारतवर्ष में इसकी चार से अधिक प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। इसीलिए अंग्रेजी जाननेवाली जनता के समक्ष इसको प्रस्तुत करने का मैंने प्रयत्न किया है, ताकि उन लोगों को आर्य और सैमेटिक सभ्यता और धर्म की मूल भावना के अन्तर को समझने में सहायता मिल सके। तुलनात्मक धार्मिक इतिहास के इतिहासानुसन्धित्सुओं के लिए यह पुस्तक वरदान सिद्ध होगी।

यदि यह पुस्तक शिक्षितवर्ग में समादृत होती है, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

इस पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन एवं प्रूफ-संशोधन में प्रेस द्वारा जो सुविधाएँ प्रदान की गईं, उनके लिए मैं बाबू शिवप्रसाद गुप्त का आभारी हूँ।

—श्रद्धानन्द संन्यासी

दिल्ली
१६ जनवरी, १६२६

ग्रन्थ-परिचय

अंधश्रद्धा पर आधारित धर्म

'श्रद्धा' का मूलभूत अर्थ है "सत्य के प्रति निष्ठा"। डॉक्टर व्हिटने की सेन्च्युरी डिक्शनरी (शताब्दी शब्दकोष) के पृष्ठ २२२पर 'श्रद्धा' शब्द के विभिन्न अर्थ मिलते हैं। अन्त में डॉक्टर व्हिटने लिखते हैं—श्रद्धा का अर्थ सत्य है (दुर्लभ). वस्तुत: साम्प्रतिक धर्मचिन्तकों में सत्य दुर्लभ हो गया है।

पुन: रीस के विश्वकोष (एनसाईक्लोपीडिया), खण्ड १४ में निम्न टिप्पणी मिलती है—"श्रद्धा, प्राचीनता में श्रद्धा" जैसा कि रोमवासियों ने ईमानदारी अथवा स्वामिभक्ति (श्रद्धा) का दैवीकरण किया एवं इनका प्रतिनिधित्व करने-वाले देवों को खुले आकाश में निर्मित किया, उनको सूक्ष्म, पतली, पारदर्शी पोशाक में दिखाया गया। इसके लिए नुमा पोमपिलीयस ने एक मन्दिर बनवाया, जिसमें पुरोहितों को श्वेत परिधान धारण करने के आदेश दिये गये। हजारों वर्ष पहले विश्व-भाषाओं की जन्मदात्री अर्थात् वैदिक संस्कृत(देववाणी) में अनुसन्धान करने पर हमें यास्क के निरुक्त (३.४) में श्रद्धा की निम्न परिभाषा मिलती है—

'श्रत्-सत्यम्-ददाति यया सा श्रदिति सत्यनामसु पठितव्यम्'।

वस्तुत: श्रद्धा शब्द सत्य धातु से व्युत्पन्न है।

वर्तमान अयन (कल्प) में मानव-जीवन के प्रारम्भिक चरणों की ओर जाते हुए हम वेदों में इसी सत्य को इतना महत्त्वशाली पाते हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

१. ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १५१वें सूक्त के सभी पाँचों मन्त्र बहुत ही सुन्दर और अनुपम भाषा में यही प्रतिपादित करते हैं कि सत्य के प्रति निष्ठा ही मुक्ति का एकमात्र साधन है तथा शब्दजात एवं कार्यजात सम्पूर्ण जगत् सत्यमूलक श्रद्धा पर अवलम्बित है।

२. यजुर्वेद के १९वें अध्याय के ३०वें मन्त्र में श्रद्धा को सत्य तक पहुँचाने-वाला सोपान कहा गया है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते।।

३. सामवेद के पूर्वाचिक में श्रद्धा को माता कहा गया है, तथा;

४. अथर्ववेद में श्रद्धा को विराट् (ब्रह्माण्ड) का प्राण (श्वास) कहा गया है।

वेदों से लेकर उपनिषत्काल तक श्रद्धा का साम्राज्य रहा, तदुपरान्त ह्रास का प्रारम्भ होता है और धार्मिक पाखण्डियों ने मानव की सहज प्रकृति का लाभ उठाना शुरू किया एवं सत्य का स्थान अन्धश्रद्धा ने ले लिया।

भारत में सहस्रों वर्षों तक सत्य का शासन रहा, जबतक पाण्डवों और कौरवों के मध्य स्वजनघातक युद्ध ने छल-कपट को बढ़ावा नहीं दिया और पाशविक प्रवृत्तियों ने ज्ञान और भक्ति का स्थान नहीं ले लिया। भारतवर्ष से सत्य-ज्ञान सम्पूर्ण विश्व में फैला एवं पुनः भारत को ही शेष विश्व को अज्ञान-अन्धकार में निमग्न करने का दोष लगा।

भारत से बाहर सत्य से अन्ध-श्रद्धा में प्रारम्भिक परिवर्तन उस समय हुआ जब यहूदीवाद ने असीरिया और फिलस्तीन के आदिम धार्मिक विश्वासों को निर्वासित कर दिया। यह जिहोवा की अप्रसन्नता की वज्रतुल्य धमकी थी जिसने यहूदी पैगम्बरों को इस योग्य बना दिया कि वे अपने परिचित लोगों को दास बना सकें। यहूदियों के मन्दिर तथा उठाऊ पूजागृह पाखण्डी धर्मोपदेशकों एवं कट्टर यहूदी मतावलम्बियों से परिपूर्ण थे जो उनके जागतिक भोज्य पदार्थों के पूजकों को ठगते थे एवं जिन्होंने भगवान् के घरों को अन्याय-स्थलों में परिवर्तित कर दिया था। भगवान् के मन्दिर में उस समय ऐसी ही स्थिति थी, जबकि ईसा गर्दभोचित समर्पण-भाव और दीनभावना को लेकर जेरुसलम में आया।

यद्यपि जीसस यहूदी माता-पिता की सन्तान था, तथापि उसका भरण-पोषण कैथोलिक धर्म के सिद्धान्तों पर हुआ। उसका बप्तिस्मा जॉन द्वारा जोर्डन के जलों से किया गया। बप्तिस्मा करनेवाला 'जॉन दि बेपटिस्ट' एसीर्यस की उस सभा का सदस्य था, जो बौद्धमतानुयायियों ने फिलस्तीन और अन्य देशों में स्थापित की थी।

ईसा के आख्यानयुक्त उपदेशों में बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट है, तथा आधुनिक अनुसंधानों से यह पता चलता है कि ईसामसीह स्वयं भी उसी भ्रातृत्व-संगठन का सदस्य था। सत्ययुक्त श्रद्धा के आध्यात्मिक शस्त्र से विभूषित होकर "जीसस ईश्वर के मन्दिर में गया और इस मन्दिर में धर्म के नाम पर क्रय-विक्रय करनेवाले सब लोगों को बाहर कर दिया तथा धन-विनिमय करनेवालों की मेजों और फाख्ता-विक्रेताओं के आसनों को फेंक दिया, और उनको कहा—"ऐसा लिखा है—"मेरा घर पूजास्थल के रूप में जाना जायेगा, लेकिन तुम लोगों ने इसे तस्करों का आश्रय-स्थल बना दिया है।" ईसा ने तब लोगों को प्रायश्चित्त का पाठ पढ़ाया और उनको कहा कि वे पूर्ण मन, आत्मा और हृदय से प्रभु ईश्वर

से प्रेम करें। उसने धर्मोपदेशकों और कट्टरपन्थियों को पाखण्डी कहकर उनका विरोध किया और उनपर आरोप लगाया कि उन्होंने जनता के लिए स्वराज्य (स्वर्ग का राज्य) बन्द कर दिया, विधवा-गृहों को हड़प लिया है तथा पर-धर्मानुयायियों के लिए धर्म-परिवर्तन करना नरक बना दिया। उसने उनपर और भी बहुत-से पाप करने के आरोप लगाए और तब उसने उन्हें चेतावनी दी "हे सर्पो! हे नागों की सन्ततियो! तुम नरक की यातनाओं से कैसे बच सकते हो?" जब तक ईसामसीह उपदेश करता रहा, ऐसा लगा मानो लोगों में एक नव (आर्य) जीवन का संचार हुआ है, परन्तु जब शक्ति के प्रति सांसारिक तृष्णा ने उसे सूली पर चढ़ा दिया, तब सैमेटिक अन्धश्रद्धा का पुनः प्रत्यावर्तन हुआ तथा पॉल ने लोगों को पुनः उसी गढ़े की तरफ धकेल दिया जिससे ईसामसीह उनको निकालने का प्रयत्न कर रहा था, और उन्हें बचा रहा था।

रोम के चर्च, जिसे हम गलती से कैथोलिक (अर्थात् उदारवादी) कह बैठते हैं, का प्रारम्भिक इतिहास पोप द्वारा की गई निष्कासन की उन घोषणाओं और सूचनाओं से भरा पड़ा है, जो उसने उन सम्राटों और राजतन्त्रों के खिलाफ की थी, जिनको अपने सत्यापन के लिए उस आम ईसाई पर निर्भर रहना पड़ता था, जिसने पौरोहित्य की वेदी पर अपनी आत्मा की बलि चढ़ा दी थी। धार्मिक न्यायाधीशों और राजतन्त्र ने उस समय घृणास्पद भूमिका का निर्वहन किया और आत्म-स्वातन्त्र्य का कोई महत्त्व नहीं रहा। यद्यपि अन्ध-श्रद्धा ने यूरोपीय लोगों की मानसिकता को दास बनाकर महाविध्वंस की लीला की, तथापि इसके परिणाम इतने विनाशकारी (रक्तूनी) नहीं थे, जितने कि बाद में अरब में इस्लाम की वृद्धि पर हुए।

हमारे पाठक इस पुस्तक के प्रारम्भ में इस्लाम के अरबी पैगम्बर मुहम्मद के संक्षिप्त जीवनवृत्त एवं उसकी शिक्षाओं की रूपरेखा को पायेंगे। उसका काफिरों के खिलाफ जेहाद का उद्घोष समस्त विश्व को सम्यक् रूपेण ज्ञात है। इस सम्बन्ध में उसे यहूदियों का सीधा वंशज कहना उचित होगा, जिनका जिहोवा अपने अनुयायियों के माध्यम से किसी-न-किसी कबीले के खिलाफ जेहाद का फतवा देता रहता था। तिसपर मुहम्मद अरब के उन बिदुईन लोगों में पैदा हुआ, जिनके यहाँ जीवन को बहुत तुच्छ समझा जाता था और जिनके लिए हत्याएँ करना एक दैनन्दिन कार्यक्रम जैसा था। जब वह अपने सुधरे हुए एकेश्वरवाद का प्रचार कर रहा था तब उसे मक्का से भागने के लिए विवश होना पड़ा, क्योंकि वह अपने स्वल्प अनुयायियों को मूर्तिपूजकों की हिंसा से न बचा सका। मदीना में उसने अपने अनुयायियों की संख्या पर्याप्त मात्रा में बढ़ा ली और अपने अतीत के सजातीय मक्का के नागरिकों के विरुद्ध प्रतिकारात्मक आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। तब हिंसा के विरुद्ध हिंसा भड़क उठी तथा नास्तिकों,

किसी भी धर्म में विश्वास न करनेवालों, के खिलाफ खुले जेहाद का प्रचार किया गया। मक्का में समझौते की नीति अपनाई गई थी, जबकि मदीना में यह मुर्तदीन के खिलाफ शाश्वत युद्ध में बदल गई और उन लोगों की नृशंस हत्या की जाने लगी, जो कि चेतावनी मिलने के तीन दिन के अन्दर-अन्दर इस्लाम में नहीं लौटे थे।

उस समय के धार्मिक मुसलमान खुदा के पैगम्बर के आदेशों का निःसन्दिग्ध-रूप से पालन करना अपना कर्त्तव्य मानते थे और यह समझते थे कि पैगम्बर के शत्रुओं को उसके रास्ते से हटाने पर उनका स्वर्ग-प्राप्ति का अवसर सुरक्षित हो जायेगा।

अन्ध-श्रद्धा के उदाहरण

"अशराफ का पुत्र काब मुसलमानों के विरोधी यहूदियों में सबसे अधिक हिंसक था। वह मक्का गया, और बिदार में नष्ट होनेवाले लोगों के दुर्भाग्य पर कुछ करुणामयी कविताएँ सुनाकर मक्कावासियों को हथियार उठाने के लिए उद्यत किया। मदीना वापस आकर उसने उन्हीं कविताओं की निम्नवर्ग के लोगों एवं महिलाओं के समक्ष पुनरावृत्ति की। जब मुहम्मद को इन कृत्यों के बारे में बताया गया तो उसने एक दिन कहा, "मुझे अशराफ के पुत्र से छुटकारा कौन दिलवायेगा?" उनके एक सहायक मुस्लिम के पुत्र मुहम्मद ने उत्तर दिया, "मैं ईश्वर का दूत हूँ और मैं ही यह कार्य करूँगा।" उसने शीघ्र ही सोलम के के पुत्र सलकन और कुछ अन्य मुसलमानों को छिपकर आक्रमण करने के लिए अपने साथ लिया। काब को, जो कि बहुत बलवान् था, उसके किले से फुसला-कर बाहर लाने के लिए उसका धात्री-भ्राता सलकन सायंकाल की वेला में अकेला उससे मिलने गया, और उसके साथ वार्तालाप करने लगा। उसने उसको मुहम्मद की कुछ छोटी-छोटी कहानियाँ सुनाईं, क्योंकि वह जानता था कि इनसे वह (काब) खुश हो जाएगा। जब वह जाने के लिए उठा, काब जैसा कि उसे आशा थी, दरवाजे तक उसके साथ आया। दोनों की बातचीत उस समय तक जारी रही, जबतक कि वह घात में बैठे आक्रमणकारियों के पास तक न पहुँचा। वहाँ पर मुहम्मद और उसके साथी उसपर टूट पड़े और उसको मार डाला।" (ऑकले का, सारसेनों (अरबों) का इतिहास, पृष्ठ ३६)

"सलेम नामक एक यहूदी, पैगम्बर के खिलाफ लोगों को उकसाने में बहुत सक्रिय था, अतः कुछ ईर्ष्यालु लोगों (Casregites) ने उसकी हत्या करने की आज्ञा चाही। आसानी से मिलने पर वे उस यहूदी के घर गये और भोजन-सामग्री खरीदने के लिए आये हैं, ऐसा बहाना बनाकर उसको बिस्तर में ही मार डाला और भाग खड़े हुए।" (वही पुस्तक, पृष्ठ ४२)

अन्धश्रद्धा और उसके हिंसक परिणामों के बहुत उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु यहाँ पर पूर्वोक्त ही पर्याप्त होंगे।

खलीफा कहलानेवाले मुहम्मद के अधिकांश उत्तराधिकारी हिंसा द्वारा मारे गये। उनमें प्राकृतिक मौत से मरनेवालों के उदाहरण तो बहुत विरल हैं। दो या दो से भी अधिक शताब्दियों तक रतुला जेहाद और दिन-दहाड़े हत्याएँ मुसलमानों का अपने विरोधी सहधर्मियों अथवा अन्य मतावलम्बियों से निपटने के मुख्य हथियार रहे। परन्तु १०९७ ईसाब्द में हसन-बिन-सब्बाह का उदय हुआ जिसने हशेशिनों (असेसिन्स, अर्थात् हत्यारों) की नींव रक्खी। यह हिंसक सम्प्रदाय गुप्त रूप से कार्य करता था और यह मुसलमान राज्यों के लिए रुद्बर (Rudbar) और फार्स (Fars) के पड़ोसी मुसलमान राज्यों के लिए अत्यन्त खौफनाक था जहाँ कि उनके मुख्यालय थे। 'हत्यारों का इतिहास' हिन्दुओं के मुसलमान धर्म में परिवर्तन की श्रृंखला की कड़ी ही नहीं है, अपितु यह जीसस के अनुयायियों (Jesuits) के उदय और उनके खूनी कृत्यों को भी आख्यात करता है।

ईसाई धर्म-योद्धाओं की हशेशिनों से पहली मुलाकात जेरूसलम में हुई। इंग्लैण्ड के शेर का-सा दिल रखनेवाले राजा रिचर्ड के बारे में शंका की जाती है कि उसने धर्मयुद्ध करनेवाले अपने भाई, मोण्टसेराड के क्यूरेड (Courad), को अपने रास्ते से हटाने के लिए हशेशिन (Fedavis) फेदवियों के खंजरों की सहायता ली थी। फिलिस्तीन से यूरोप वापस लौटकर आये वीरनायकों के मत-सम्प्रदायों ने अपने विरोधियों का गुप्त रूप से सफाया करने का विचार बनाया था। अन्ततः एक ईसाई हसन-बिन-सब्बाह, इग्नेशियस लोयोला (Ignatius Loyola) के रूप में अवतरित हुआ था, जिसकी आत्मा अभी हाल तक ईसाई जगत् पर शासन करती रही है।

एक भद्र स्पेनिश-परिवार में उत्पन्न इग्नेशियस हथियारों का व्यापार करने लगा था और सुगठित और बलवान् होने के कारण वह औरतों का प्रिय पात्र बन गया। उसकी दाईं टाँग तोप के गोले से टुकड़े-टुकड़े हो गई थी और बाईं टाँग उसके द्वारा लड़ी गई अन्तिम लड़ाई में जख्मी हो गई, जिसके कारण वह जन्मभर के लिए लँगड़ा हो गया। उसका रंग-रूप भी जराजीर्ण होकर मुरझा चुका था, उसके केश कमजोर हो गये थे, एवं कपाल पर झुर्रियाँ पड़ गईं थीं। यह सब लम्बे उत्पीड़न और कष्टदायक पीड़ायुक्त जीवन का ही परिणाम था।

सब ओर से निराश होकर उसने संसार-त्यागी हो, धार्मिक जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। ईसाई सन्तों के जीवनचरितों के पढ़ने के पश्चात् वह अपने निश्चय में और भी दृढ़ हो गया। जीसस के व्यूह अथवा "जीसस के रण-बाँकुरों का समाज" के संस्थापक के रूप में इग्नेशियस लोयोला के रोम में प्रकट होने से पहले स्पेन के विभिन्न कस्बों में उसके द्वारा किये गये साहसिक कार्यों

का विस्तार से वर्णन करने की यहाँ पर कोई आवश्यकता नहीं है, यद्यपि उनका अध्ययन, जैसा कि थियोडोर ग्रिसिजर ने "जीससानुयायियों का इतिहास" नामक पुस्तक में दिया है, अत्यन्त रुचिकर अध्ययन की सामग्री हो सकती है।

१५३८ ईसाब्द के मध्य में इग्नेशियस लोयोला रोम पहुँचा। उसके साथ उसके कुछ उत्साही अनुयायी भी थे जो काले चोगे पहने हुए थे। यह वही समय था जब लूथर ने जर्मनी में अपने सुधारकार्य को प्रारम्भ किया और रोमन चर्च का मुँह बन्द कर दिया। प्रारम्भ में तो अन्य सम्प्रदायों के साधुओं ने, अपने प्रभाव-क्षेत्र में नवागन्तुकों के अधिकार के भय से, इन नवसाम्प्रदायिकों का विरोध किया, लेकिन जब इग्नेशियस की शक्ति और उसके अनुयायियों ने धनाढ्य कुलीनों और सर्वसाधारण को भी एकसाथ जीत लिया, तो वह रोम का नायक बन गया। "काले चोगे" गरीबों को राहत देने तथा पारम्परिक प्रोटैस्टेण्टों को शैतान का दूत और साथी कहकर उनका खण्डन करने में सबसे आगे थे।

पोप ने इस ईश्वर-प्रदत्त सहायता को उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया जो उसे अनायास ही प्राप्त हुई थी और इन लोगों की चर्च के प्रति वफादारी को देखते हुए लोयोला के संगठन को (जीसस की सोसाइटी) का नाम प्रदान किया। पोप पॉल तृतीय ने इग्नेशियस लोयोला को उस संगठन का पहला मुखिया नियुक्त किया और गैर-ईसाई देशों के लोगों का धर्म-परिवर्तन करने के लिए ईसाई मिशन भेजने का फैसला किया। यहाँ मैं थियोडोर ग्रिसिजर द्वारा वर्णित हिन्दुओं को ईसाई बनाने के इतिहास को सर्वप्रथम उल्लेखित करूँगा।

भारत में जीसस मतानुयायी

"मान्य परम्परा के अनुसार ईसा के पट्टशिष्य थॉमस ने सर्वप्रथम भारत में ईसाइयत को फैलाया। यद्यपि कुछ अन्य व्यक्ति इसका श्रेय मैक्स थॉमस नामक एक धनवान् व्यापारी को देते हैं, जो कि छठी शताब्दी में अपने बड़े व्यावसायिक कारोबार के प्रसंग में ईसा मसीह की शिक्षाओं से परिचित हुआ था। चाहे जो कुछ भी हो, इतना तो सुनिश्चित है कि पुर्तगालियों को, वास्को-डि-गामा के मार्गदर्शन में उत्तमाशा अन्तरीप के मार्ग से एशिया की जानकारी लगभग उसी समय मिल गई थी, जब कि अमेरिका की खोज हुई और उन्होंने अपने प्रसिद्ध नौसैनिक वीर अल्फान्सो एलबुकर्क, जो कि काफी समय तक भारत में पुर्तगाल का वायसराय भी रहा था, के नेतृत्व में सम्पूर्ण मलाबार, गोवा, लंका, मलक्का तथा सुण्डा द्वीपों पर अधिकार कर लिया था। इसी समय वे ईसाईमत-विश्वासियों से भारत में मिले थे, यद्यपि १५वीं शती में प्रचलित रोमन कैथोलिक दृष्टिकोण से उन्हें ईसाई नहीं कहा जा सकता था। इसके विपरीत अनेक गैर-ईसाई विश्वास इन लोगों में इतने अधिक घुल-मिल गये थे कि पुर्तगाल

के तात्कालिक ईसाई शासक ने इस प्रकार की ईसाइयत से संक्षुब्ध होकर फ्रांसिस्कन साधुओं को गोवा भेजा, जो कि उस समय उनके अधिकारवाले पूर्वी भारतीय उपनिवेशों[१] की राजधानी थी। प्रयोजन यह था कि सच्चे रोमन कैथोलिक धर्म को इन क्षेत्रों में प्रचारित किया जाए। (पृष्ठ ८५)

इस प्रकार जो फ्रान्सिस्कन साधु धर्म-परिवर्तन के अपने कार्य में जुटे, उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली। हालाँकि सेना के दबाव में आकर कुछ लोग नाम-मात्र के लिए पोप के अनुयायी बन गये, किन्तु ब्रह्मा और विष्णु के अधिकांश उपासक अपनी आस्थाओं पर ही दृढ़ रहे।

पुर्तगाली सम्राट् जॉन तृतीय को इस स्थिति से बहुत धक्का लगा और उसकी धारणा बनी कि उसकी नई अधिगृहीत धरती के निवासी तबतक अच्छे पुर्तगाली नागरिक नहीं बन सकते, जबतक कि वे उस क्रॉस के समक्ष साष्टांग दण्डवत् नहीं करते, जिसके सामने खुद पुर्तगाली सर नवाते हैं। इस समय लगभग १५४० ईसाब्द में उसने जीसस के अनुयायियों के बारे में सुना और यह जानकर कि ईसा के रणबाँकुरों के समक्ष, संसार के समस्त मूर्तिपूजकों को ईसाई बनाने के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य नहीं है, उसने लोयोला को निमंत्रित किया, किन्तु वह पोप पर से अपना प्रभाव समाप्त हो जाने के भय से, रोम को नहीं छोड़ सका और उसने अपने दो सहयोगियों को पुर्तगाल भेजा। ईसा के इन रणबाँकुरों के नाम थे—रोडरीगूज (Rodrjguze) और फ्रांसिस जेवियर। सम्राट् जॉन तृतीय इनके धर्म के प्रति दृढ़ विश्वास से स्वयं को इतना अधिक कृतार्थ अनुभव करता था कि वह उन्हें छोड़ना ही नहीं चाहता था। रोडरीगूज तो लिस्बन में ही रहने के लिए सहमत हो गया, परन्तु फ्रांसिस जेवियर को भारत-यात्रा करने से विमुख नहीं किया जा सका। जेवियर को पोप ने अपना अभिज्ञानपत्र दिया, जिसके फलस्वरूप वह सम्पूर्ण भारत के लिए पोप का प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया गया। गैर-ईसाइयों के धर्म-परिवर्तन का जो अधिकार उसे सौंपा गया, उसके फलस्वरूप एशियायी उपनिवेशों में पुर्तगाली अधिकारियों के लौकिक प्रभाव को प्राप्त करने का अधिकार भी उसे मिल गया। अन्ततः तृतीय अभिलेख में स्वयं सम्राट् जॉन ने उसे केप ऑफ गुड होप से लेकर गंगा तक के क्षेत्रों के सब मुखियाओं, राजकुमारों और सरकारों के लिए स्वकर्त्तव्य-पालन हेतु परिचयपत्र दे दिया। इस प्रकार पूर्णतया सन्नद्ध होकर फ्रांसिस जेवियर ७ अप्रैल १५४१ को भारत की ओर चल पड़ा (पृष्ठ ८७)।

---

१. गोवा को पुर्तगाल का पूर्वी भारतीय उपनिवेश कहने का अभिप्राय यही है कि पुर्तगाल की दृष्टि से भारत उसके पूर्व का देश है, किन्तु भारत में गोवा की स्थिति पश्चिम में ही मानी जायगी। —सम्पादक

समुद्री यात्रा की गति बहुत धीमी थी और जेवियर ७ मई १५४२ से पहले भारत नहीं पहुँच पाया। परन्तु ज्यों ही उसके जहाज ने गोवा के बन्दरगाह का स्पर्श किया, वह शाही साजोसामान तथा राजकीय निवास की चिन्ता को छोड़कर तुरन्त अस्पताल की ओर चल पड़ा ताकि वह स्वयं रुग्ण लोगों की सेवा-शुश्रूषा कर सके और जनता के दान से अपने जीवन-निर्वाह के साधन प्राप्त करे। परन्तु उसकी यह कूट-चाल सफल नहीं हुई। अतः उसने अपने परिचयपत्र गोवा के बिशप डॉल जुआन द अलबुकर्क को दिखाये और उससे गैर-ईसाइयों का धर्म-परिवर्तन करने में सहायता माँगी; तब उसने अपना प्रचार-कार्य आरम्भ किया, लेकिन इस देश के मूर्ख लोगों ने जेवियर के एक शब्द को भी नहीं समझा और पवित्र आत्मा (Holy Ghost) ने भी अपनी वाग्मिता के द्वारा उसकी कोई सहायता नहीं की। अन्ततः उसे यह विश्वास हो गया कि जबतक वह इस देश की भाषा का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक कुछ भी किया जाना सम्भव नहीं है। फलतः उसने अत्यन्त उत्साह के साथ हिन्दुस्तानी भाषा का अध्ययन आरम्भ कर दिया। इस कार्य के साथ-साथ वह अपने जेसुइस्ट होने को बिलकुल नहीं भूला और उसी के अनुकूल उसने अपनी कार्यवाही आरम्भ की, जिसका पहला उदाहरण था एक कॉलेज की स्थापना, जो इस गैर-ईसाई जगत् में खोला जानेवाला प्रथम कॉलेज था। (पृष्ठ ८८)

वह चालाकी-भरा मार्ग कौन-सा था, जिसपर चलकर जेवियर ने अपना कार्य किया? उसने फ्रांसिस के अनुयायियों को अपने कॉलेज के भवन को बनाने के लिए प्रेरित किया और उसका नाम सान्ता फे (Santo Fe) से होली पॉल (Holy Paul) कर दिया। इसके उपरान्त उसने यह भी चेष्टा की कि अबतक जो स्कूल बहुत ही साधारण तथा दरिद्रावस्था में था, उसे एक विशाल और अत्यन्त धन-सम्पन्न शिक्षण-संस्था के रूप में परिवर्तित किया जा सके। इसके लिए उसने लोगों से स्वेच्छापूर्वक दान नहीं माँगा, किन्तु उसका तरीका कुछ इस प्रकार का रहा कि पुर्तगाली वायसराय की सेना की सहायता से उसने गोवा के पासपड़ोस के गैर-ईसाई (हिन्दू) मन्दिरों को तुड़वा दिया और उन्हीं के द्वारा प्राप्त अशेष सम्पत्ति से उसने नया कॉलेज खड़ा कर दिया। (पृष्ठ ८९)

तदुपरान्त जेवियर ने प्रभु परमात्मा के आदेश को मलाबार के मोती के समान सुन्दर तट पर प्रचारित करना आरम्भ किया। उसकी यह प्रचार-यात्रा निम्न प्रकार से चलती थी। वह अपने हाथ में एक घण्टी रखता और सड़कों पर दोपहर के समय वह उसे बजाते हुए दौड़ता। इस प्रकार उत्सुकता से भरे बच्चों और अन्य लोगों का समूह उसके पीछे हो जाता। ये लोग उसका उपहास करते और उसपर हँसते। इस प्रकार जब काफी लोगों का झुण्ड इकट्ठा हो जाता, तो वह एक बड़ी चट्टान पर खड़ा होकर अपना प्रवचन आरम्भ कर देता।

उसका यह भाषण स्थानीय बोली में ही होता, किन्तु उसमें लैटिन, स्पैनिश, इटालियन तथा फ्रैंच भाषाओं के शब्दों की भरमार रहती। इसके साथ ही वह अपने हाथों और पाँवों से विचित्र भाव-भंगिमायें भी बनाता जाता। इसके बाद वह एक बड़े क्रॉस को आगे करता और बड़े भक्ति-भाव से उसको चूमता। वह भीड़ को भी उसे चूमने के लिए कहता। जो उसका आदेश मानता, उसे वह एक सुन्दर माला भेंट करता। ऐसी हजारों मालाएँ, वह पुर्तगाल से अपने साथ लाया था। उसका धर्म-परिवर्तन का यह पहला तरीका था। दूसरा तरीका अधिक प्रभावी रहा। वह पुर्तगाली सेना की सहायता से, जिसे कि उसने प्राप्त कर लिया था, स्थानीय लोगों के मन्दिरों को तुड़वा देता और उनकी मूर्तियों को टुकड़े-टुकड़े कर देता। इसके पश्चात् इस ध्वंस मन्दिर को वह ईसाई गिरजे के रूप में बदल देता और उसमें क्रॉस पर चढ़े ईसा की प्रतिमा स्थापित करता। समीप ही वह बाँस का एक सुन्दर भवन निर्मित करवा देता, जिसमें युवकों की धर्म-शिक्षा की व्यवस्था रहती। (पृष्ठ ८९)

जेवियर ने अपने सहयोगियों को धर्म-परिवर्तन के लिए भेजा। बीस से अधिक इसके सहायक धर्म-प्रचारक आये और अगले ६ वर्षों में पुर्तगाल-अधिकृत देश के सभी प्रमुख स्थानों में बड़े और छोटे विद्यालय स्थापित हो गये। इनमें गोवा का कॉलेज सर्वप्रमुख था, जहाँ देशी धर्म-प्रचारकों को प्रशिक्षित किया जाता था। यूरोप से सहायक प्रचारकों के आने के तुरन्त पश्चात् जेवियर ने सेना की सहायता से हिन्दू परिवारों के १२० लड़कों को पकड़ मँगाया तथा उन्हें इस कॉलेज में इस प्रकार प्रशिक्षण दिया, ताकि भविष्य में वे अपने ही देशवासियों का धर्म-परिवर्तन कर सकें। (पृष्ठ ९०)

परन्तु जेवियर की आशाओं के अनुकूल परिणाम नहीं निकला। यह तो सत्य है कि लोग ईसाई बन जाते, उनके ऊपर बप्तिस्मे के संस्कार का पवित्र जल भी उछाला जाता और यह भी सत्य है कि वे ईसाइयत के बारे में कुछ जानने भी लगते। यहाँ तक कि वे धार्मिक जुलूसों में जाते, ईसाई भजन गाते, तथा अन्य बाह्य कर्मकाण्डों में भाग लेते। किन्तु यह भी सत्य है कि वे अपने पुराने रीति-रिवाज, आचरण और धारणाओं को भी यथावत् रक्खे रहते। ज्यों ही पादरी (अब ईसाई प्रचारक को इसी नाम से पुकारा जाता था) इस धारणा को लेकर अगले पड़ोस में धर्म-प्रचार-हेतु चला जाता कि यहाँ के तो सभी लोग ईसाइयत को स्वीकार कर चुके हैं, तो वहाँ के स्थानीय ब्राह्मण पुरोहित उन ईसाई बने लोगों को पुनः अपने पुरातन धर्म में ले आते, जिनमें कि उनका जन्म तथा पालन-पोषण हुआ था। (पृष्ठ ९१)

जेवियर का एप्टन नामक एक साथी ब्राह्मणों के इस आचरण से अत्यन्त क्रोधित हुआ और उसने उन लोगों को अमानुषिक यंत्रणायें दीं। ब्राह्मणों ने

इन अत्याचारों से दु:खी होकर समीपवर्ती उन प्रदेशों के अपने सहधर्मी भाइयों को एण्टन के अत्याचारों से सूचित किया, जो अभी तक ईसाई शासन के अन्तर्गत नहीं आये थे। उन्होंने इन अत्याचारग्रस्त लोगों के पाप भी बताये तथा अत्याचारों के नमूने भी दिखाये। परिणाम यह हुआ कि एण्टन और उसके थोड़े-से साथी मार डाले गये। थोड़े समय तक तो शान्ति रही, किन्तु जेवियर ने हिन्दुओं की उन हरकतों को रोकने के लिए गोवा में एक धार्मिक अदालत का गठन किया। इसका नमूना स्पैनिशन धर्माधिकरण का-सा ही था। इस अधिकरण पर उसका ही निर्बाध प्रभुत्व रहा और पुर्तगाली सेना की सहायता से उसने उन सभी लोगों का कठोरता से दमन किया, जो ईसाइयत के प्रचार में बाधक हो रहे थे तथा जो बप्तिसमा लिये हुए हिन्दुस्तानी ईसाइयों को पुन: मूर्तिपूजक हिन्दू बना लेते थे। इस प्रकार असंख्य ब्राह्मणों और खास तौर से उनमें के धनाढ्य लोग इन जल्लादों के शिकार हुए। इनमें से अनेक लोगों की सम्पत्ति ईसाई समाज के हित के लिए अधिगृहीत कर ली गई तथा उन्हें देश से निर्वासित कर दिया गया। इस प्रकार पुर्तगाल द्वारा शासित सारे प्रदेशों में ईसाइयत को अंगीकार करने पर होनेवाला सक्रिय प्रतिरोध धीरे-धीरे समाप्त हो गया। इसके विपरीत संत्रस्त हिन्दू खुद ही आगे आकर ईसाई बनने लगे, क्योंकि वे जानते थे कि ऐसा नहीं करने का परिणाम होगा उनका जेल की हवा खाना या अग्नि में जीवित जला दिया जाना। जेवियर और उसके साथियों ने भारत में स्वधर्म-प्रचार के लिए ऐसे ही क्रूर तरीके अपनाये। परिणाम यह निकला कि सभी उपर्युक्त स्थानों पर जेसुइस्ट पादरियों के कॉलेजों की स्थापना हो गई और इनकी सम्पत्ति की वृद्धि उन गैर-ईसाइयों के धन से हुई, जो या तो मार डाले गये थे अथवा देश से निकाल दिये गये थे। और अधिक संख्या में गिरजाघरों का निर्माण हुआ क्योंकि उन्होंने आग और तलवार से गैर-ईसाइयों के मंदिरों को नष्ट करने में तो कोई संकोच किया ही नहीं था। ऐसा लगता है कि क्रूर आचरण करने में जेसुइस्टों ने सैक्सनों के प्रति चार्ल्स महान् द्वारा किये गये अत्याचारों का ही उदाहरण ग्रहण कर लिया था। (पृष्ठ ९२)

भारत में अपने इस प्रचार-कार्य को सुदृढ़ कर फ्रांसिस जेवियर जापान गया और वहाँ से चीन चला गया। यहीं पर उसे ज्वर हो गया और २ दिसम्बर १५५२ को ४६ वर्ष की अल्पायु में ही उसकी मृत्यु हो गई।

फ्रांसिस जेवियर की मृत्यु के पश्चात् जेसुइस्टों ने मूर्तिपूजकों के खिलाफ खुले जिहाद की अपनी नीति को बदला और अब वे इस कार्य में धूर्तता, चालबाजी, पाखण्ड तथा छद्म लीलाओं की सहायता लेने लगे। जेवियर ने उनके लिए रास्ता तो खोल ही दिया था और उन सभी उपयुक्त स्थानों पर जो पुर्तगालियों के अधिकार में थे, जेसुइस्ट धर्म-संस्थानों की स्थापना कर दी गई।

इनकी संख्या निरन्तर बढ़ती ही गई और पूर्वस्थापित संस्थान अधिक विस्तार पाते रहे। प्रचार-संस्थाओं की संख्या बढ़ना कठिन नहीं था, क्योंकि जहाँ कहीं भी पुर्तगाली या अन्य यूरोपीय लुटेरे अपना अधिकार जमा चुके थे, जेसुइस्ट पादरी भी वहाँ आ घुसे और अपने पाँव जमा बैठे। यहाँ उन्होंने ईसाई समाजों को विधिवत् स्थापित कर लिया। यह सब सुगमता से कैसे हो गया ?

ईसाई प्रचार के तरीके कुछ इस प्रकार थे—ये ईसाई प्रचारक भारतीय धर्मयाजकों का रूप धारण किये रहते। ब्राह्मणों की ही भाँति पोशाक पहनते, क्योंकि वे जानते थे कि भारतवासियों को विदेशियों के तौर-तरीकों से अत्यन्त घृणा है ; यदि वे भारतीय धर्माचार्यों की भाँति रहेंगे तो हिन्दुओं को उन्हें पहचानने में भ्रांति होगी। वास्तव में इन प्रचारकों ने जिस ईसाइयत का प्रचार किया, उसमें भारत के स्थानीय लोगों के मत, विश्वास तथा रीति-रिवाजों का भी मिश्रण कर लिया गया था। इस प्रकार बप्तिस्मा लेने और ईसाई नाम अंगीकार कर लेने के पश्चात् भी ये लोग हिन्दू ही रहते थे। यहाँ तक कि कभी-कभी बप्तिस्मा लेते समय नाम बदलने की आवश्यकता भी नहीं समझी जाती थी। ब्राह्मणों का वेश धारण कर देश में घूमनेवाले जेसुइस्टों की सूची बना लेना कठिन नहीं है। तथ्य यह है कि इस प्रकार का छद्म आचरण कर उन्होंने चाहे पवित्र क्रॉस को कुचला तो नहीं, किन्तु उसकी पवित्रता को अस्वीकार अवश्य कर दिया। लेखक इसके दो उदाहरण देना चाहता है।

इनमें से एक का नाम था पेटर कान्स्टेंटिनो वेस्ची। इसने संस्कृत और हिन्दी का पूर्ण तन्मयता से अध्ययन किया और ब्राह्मणों के रीति-रिवाज तथा आचार-विचार का इतनी सावधानी से अनुकरण किया कि दक्षिण के लोग, जहाँ वह बहुत लम्बे समय तक रहा था, उसे एक सन्त ही समझने लगे। इसके साथ-साथ वह स्थानीय भाषा में काव्य-रचना भी करने लगा और इस प्रकार सर्वत्र सम्मानित हुआ। किन्तु इसका परिणाम क्या निकला ? दक्षिण के राजा ने उसे सच्चा ब्राह्मण जानकर अपने राज्य में उच्च अधिकारी तथा मंत्री बना दिया और कान्स्टेंटिनो वेस्ची ने तनिक आभास भी नहीं होने दिया कि वास्तविकता क्या है। इसके विपरीत इस चालाक आदमी ने यूरोपीय तौर-तरीकों का सर्वथा परित्याग कर दिया। वह जनता के समक्ष कभी तो सजे-सजाये घोड़े पर सवार होकर, तो कभी सेवकों द्वारा उठाई जानेवाली पालकी में बैठकर आता। उसके साथ घुड़सवारों की लम्बी पंक्ति रहती, जो उसके रास्ते को साफ करती तथा बिगुलवादन के द्वारा उसके आने और जाने की सूचना दी जाती। कोई सोच भी नहीं सकता था कि यह यूरोपियन है और बप्तिस्मा-लिया ईसाई है। वह अन्त तक जेसुइस्ट रहा और उसके सहधर्मी उसपर गर्व करते थे।

यह तो लेखनी से अंकित किया गया एक चित्र है। दूसरा उदाहरण भिन्न

प्रकार का है। पेटर बार्थेलेमी एकोस्टा बड़े आदमियों के समाज में अधिक घुलता-मिलता नहीं था, किन्तु अत्यन्त निम्नवर्ग के लोगों में उठना-बैठना पसन्द करता था। उसने तो बदनाम वेश्याओं और नर्तकियों के घर भी ढूँढ निकाले और बयादर लोगों की झोंपड़ियों में भी प्रवेश पा लिया, क्योंकि वह जानता था कि ये लोग प्रत्येक क्षण काम के देवता के प्रति अपने को निछावर करने के तैयार रहते हैं। इसी कारण कामी पुरुषों के ऊपर इनका विशेष प्रभाव होता है और इसीलिए उसने इन लोगों से घनिष्ठता कर ली। यह उनके साथ नृत्य करता, मदिरा पीता, क्रीड़ा करता और इस प्रकार उनका प्रियतम तथा विश्वासपात्र बन गया। ये गरीब लोग उससे इतने अधिक संतुष्ट थे और विश्वास करते थे कि इसी के द्वारा वे स्वर्ग में जा सकेंगे, क्योंकि स्वर्ग-प्राप्ति को उसने उनके लिए इतना सहल बना दिया है। ईसाई मत को ग्रहण करने के मार्ग में उनको एक ही कठिनाई थी। उन्हें यह बताया गया था कि जिस देह-व्यवसाय के आधार पर वे जीविका-यापन करते हैं, उसे ईसाई पादरी गर्हित समझते हैं। इसीलिए उनके बप्तिस्मे के संस्कार में, प्रतिदिन विलम्ब ही होता जा रहा था। तब इस आदरणीय पादरी ने क्या किया ? उसने उन्हें बताया कि वे ईसाई तो हो जायें, किन्तु अपने व्यवसाय को न छोड़ें। ऐसा करने से भी उन्हें पाप नहीं लगेगा और वे अपनी कामदेव की उपासना जारी रख सकते हैं। शर्त इतनी ही है कि वे अपनी आमदनी का एक भाग चर्च को दे दें तथा जो लोग उनके रूपाकर्षण में बँध जाते हैं, उन्हें भी ईसाई बनाने के लिए प्रयत्न करें।(पृ० १०३)

केवल भारत में ही नहीं, अपितु अन्य प्राच्य देशों में भी जेसुइस्टों ने यही खेल खेला और उन देशों में प्रचलित धर्म को अपनाने का आडम्बर किया। जापान में उन्होंने ईसाइयत को जापानियों के अनुकूल बदला। जैसाकि ज्ञात होता है, जेसुइस्टों ने ईसा के जीवनवृत्त को ही जापानी अवधारणा के अनुकूल गढ़ने का प्रयास किया। यहाँ उन्होंने बढ़ई की पत्नी (मेरी) के पुत्र (ईसा) को संसार में जूडा के राजा के रूप में नीले रंग के वस्त्रों से आच्छादित होकर आने की कल्पना की और उसकी मृत्यु के दृश्य को अपने राज्य में एक राजा की भाँति मरता हुआ दिखाया। ईसाई मत ग्रहण किये हुए जापानियों को शिक्षित करने के और भी कम प्रयास किये गये। इसके विपरीत उन्हें अपने पहले के अंध-विश्वासों, वासनामूलक पापाचरणों तथा भ्रष्ट आदतों को यथावत् रखने की भी इजाजत दे दी गई। १६३३-३४ के बीच पोप के आदेश से पवित्र धर्मप्रचारक एण्टोनीनस डि मारिया, फ्रांसिस एल्मेडा तथा जॉन बेप्टिस्ट ने सम्पूर्ण पूर्वीय देशों का भ्रमण किया। उनके वक्तव्यों से स्पष्ट है कि जेसुइस्टों ने जापानियों को उनके पुराने मूर्तिपूजा-विषयक रिवाजों को पालने की आज्ञा दे रक्खी थी और वे लोग गुप्त रूप से ही ईसाइयत का पालन करते थे। जेसुइस्ट इसका प्रतिकार

न करते, अपितु इसे स्वीकार करने। इन प्रचारकों ने यहूदियों और अन्य गैर-ईसाइयों के लिए भी यही तरीके अपनाये थे। (पृष्ठ १०७)

चीन और अफ्रीका में तो उन्होंने यह खेल इतनी नफासत के साथ खेला कि उन्हें सर्वत्र सफलता ही मिली। किन्तु इसके द्वारा ईसाई मत के सिद्धान्तों का ही खून हुआ और उन देशों में प्रचलित अंधविश्वासमूलक कल्पित कथाओं को प्रश्रय मिला।

जेसुइस्टों के द्वारा धर्मप्रचार के कार्य में जिस गुप्त खंजर ने अपना भाग अदा किया है, उसका पूरा पता आज के शिक्षित भारतीय को नहीं है। उनके कारनामों की मुसलमानों के असेसियन सम्प्रदाय के लोगों के करतबों से तुलना करना भी काफी मनोरंजक होगा। किन्तु इससे पूर्व कि मैं संसार के विभिन्न देशों में इन धर्मान्ध लोगों द्वारा की गई हत्याओं के इतिहास का संग्रह करूँ, अपने पाठकों को भारत में मुस्लिम प्रचारकों द्वारा किये गये प्रारम्भ-काल के प्रयासों से परिचित कराऊँगा। ईसाई प्रचारकों ने तो अपने तरीकों में अब थोड़ा सुधार भी किया है, किन्तु यह जानना आश्चर्यकर होगा कि कुछ मुस्लिम प्रचारक इस्लाम का प्रचार करने में अब भी उन्हीं तरीकों को अपना रहे हैं जो फादर बार्थेलेमी एकोस्टा ने आविष्कृत किये थे। दिल्ली के ख्वाजा हसन निजामी ने, जिनके ६५ हजार अंध-अनुयायी बताये जाते हैं, अभी हाल ही में मुसलमान वेश्याओं को सलाह दी है कि वे अपनी पाप की कमाई का एक भाग मजहब को फैलाने के लिए दे दें तथा ख्वाजा साहब के धार्मिक पत्रकों के प्रचार में भी आर्थिक सहायता करें। कुछ मौजूदा मुसलमान पीरों ने इन पापाचार में लिप्त स्त्रियों द्वारा दिये गये दान को सहर्ष स्वीकार किया है, क्योंकि इसके द्वारा यदि वे हिन्दुओं को इस्लाम की दीक्षा देने में सफल होते हैं, तो वे इसे धन का सदुपयोग ही मानते हैं।

भारत में मुस्लिम धर्मप्रचारक

आधुनिक इतिहास के विद्यार्थियों को यह पता है कि इस्लाम का प्रचार खुली हिंसा तथा बलात् से ही हुआ है। किन्तु उसके दुश्मनों की आवाज को दबाने तथा अधर्मियों के अंध-विश्वासों को अपने अनुकूल बनाने में जो गुप्त उपाय काम में लाये गये हैं, उनके बारे में लोगों को बहुत कम जानकारी है। असेसियनों का इतिहास हमें इस बात की पूरी जानकारी देता है कि इस्लाम का प्रचार करने में नजारियों (Nazaris) ने क्या भूमिका अदा की और जेसुइस्टों के इतिहास से जो उद्धरण मैंने एकत्र किये हैं, उनसे यह बात स्पष्ट होती है कि अपने मत की अंध-धारणाओं को दूसरों के आक्रमणों से बचाने के लिए उन्होंने क्या-क्या प्रच्छन्न उपाय काम में लिये थे। इसी इतिहास में मैंने यह भी

बताया है कि ईसा के योद्धाओं ने अधर्मियों (Heathens) को अपने मत में प्रविष्ट कराने के लिए कैसी-कैसी चालाकियाँ की हैं। अब यही बताना शेष रहा है कि सैमेटिक मतों के संस्थानों की एक शाखा ने धर्मान्तरण कराने के लिए जो तरीके अपनाये थे, भारत में भी उन्हीं परिस्थितियों में वैसे ही तरीके अपनाये गये हैं।

टी०डब्ल्यू० आर्नाल्ड द्वारा लिखी गई पुस्तक "दि प्रीचिंग ऑफ इस्लाम" एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे मुसलमान धर्माध्यक्षों की आज्ञा से संसार के प्रायः सभी मतावलम्बियों ने उद्धृत किया है। मैं भी भारत में मुसलमान धर्म-तत्त्वज्ञों के द्वारा हिन्दुओं को मुसलमान बनाने में प्रयुक्त तरीकों को बताने के लिए उसी पुस्तक की सहायता ले रहा हूँ। भारत में इस्लाम के प्रचार के विषय पर लिखते हुए आर्नाल्ड ने यह स्वीकार किया है कि हिन्दू-भारत को इस्लाम में दीक्षित करने में ताकत तथा अत्याचार ही प्रमुख कारण रहे हैं, तथापि लेखक यह भी मानता है कि भारत में मुसलमान प्रचारकों ने स्वधर्म में दीक्षित करने के लिए लोगों को समझाने-बुझाने का भी सहारा लिया है। अपने ग्रन्थ के पृष्ठ २५४ पर वह लिखता है—

"इस्लाम की प्रचार-भावना का सही रूप हम ब्राह्मणों के उस पाशविक हत्याकाण्ड में देखते हैं जो गजनी के महमूद द्वारा किया गया। उसे औरंगजेब के अत्याचारों तथा हैदरअली और टीपू सुल्तान द्वारा की गई जोर-जबरदस्ती में भी देखा जा सकता है। किन्तु भारत के साढ़े छह करोड़ मुसलमानों में आपको अधिकांश वे लोग मिलेंगे जिन्होंने इस धर्म को शान्त प्रचारकों द्वारा समझाने-बुझाने के कारण ही स्वीकार किया था।"

हालाँकि प्रसंगवश आर्नाल्ड ने भी ऐसे उदाहरण दिये हैं जहाँ हिन्दुओं को मुसलमान बनाने में ताकत और जोर-जबरदस्ती काम में लाई गई, किन्तु उसका कहना है कि अधिकांश धर्मान्तरण प्रचार और समझाने से ही हुआ है। निम्न उद्धरणों में दोनों प्रकार के धर्मान्तरण उल्लिखित हुए हैं। प्रथम हिंसा के द्वारा इस्लाम के प्रचार का उदाहरण लें—

पैगम्बर साहब की मृत्यु के १५ वर्ष पश्चात् अरबों का एक दल सिंध में भेजा गया और यह सिलसिला १८वीं शती तक चलता रहा। उत्तर-पश्चिम की ओर से मुस्लिम आक्रमणकारियों की एक क्रमिक धारा भारत की ओर बढ़ती रही। इनमें से कुछ महान् साम्राज्यों के संस्थापक थे और कुछ भारत पर आक्रमण करने को साहसिक कर्म ही मानते रहे। कुछ के मत में भारत पर उनका आक्रमण पवित्र धर्मयुद्ध ही माना गया। गजनी के महमूद और तमूर के मन में कुछ ऐसे ही भाव थे। अधिकांश मुस्लिम आक्रमणकारी इसी भावना के वशवर्ती रहे। अल्लाह के नाम पर मूर्तियों को तोड़ा गया, उनके पुजारियों

को मारा गया, उनके मंदिर नष्ट-भ्रष्ट किये गये, और उनके स्थान पर मस्जिदें बनाई गईं। यह सत्य है कि उनपर आक्रमण करने से पहले उन्हें इस्लाम में आने की दावत अवश्य दी गई। प्राय: भय के कारण लोगों ने इस्लाम को कुबूल भी किया, किन्तु इस्लाम के भारत-प्रवेश के आरम्भिक दिनों में भय पर आधारित यह धर्मान्तरण अधिक स्थायी नहीं रहा और आक्रामक के हमले के शान्त होने के पश्चात् उसका प्रभाव भी समाप्त हो गया। यहाँ आर्नल्ड बुलन्दशहर के महाराजा हरदत्त का उदाहरण देता है। इसने महमूद के दसवें हमले के अवसर पर अपने दस हजार अनुयायियों के साथ इस्लाम को उस समय स्वीकार किया, जबकि आक्रमणकारी सुलतान अपने आक्रमण के बाद पीछे हट गया था। मुहम्मद गोरी और फीरोजशाह तुगलक के इतिहास की अनेक घटनायें यह सिद्ध करती हैं कि अनेक लोगों ने इस्लाम को इसलिए स्वीकार किया ताकि वे जजिया कर से बच सकें। कुछ अन्य लोग मुसलमानी दरबारों में प्रमुख स्थान प्राप्त करने के लिए इस्लाम के अनुयायी बने। अनेक राजपूत इसी कारण मुसलमान बन गये और उनके वंश आज भी आभिजात्य वर्गों में परिगणित होते हैं। इनमें सर्वप्रमुख वे हैं, जो बचगोली वंश के कहलाते हैं, जिनका मुखिया अवध का एक बड़ा जमींदार है। इसी श्रेणी में आर्नल्ड गक्खड़ों, लालखानियों (लालसिंह के वंशज), मिर्जापुर के गहरवारों तथा अन्यों को रखते हैं। धर्मान्तरण में औरंगजेब और टीपू सुलतान ने विशेष जोश दिखाया। टीपू ने तो हजारों हिन्दुओं को जबरदस्ती इस्लाम कुबूल करने के लिए विवश किया।

आगरे तथा समीपवर्ती जिलों के मलकाना राजपूत, गुड़गाँव तथा हरियाणा के अनेक जिलों के मूले जाट तथा गूजर इस प्रकार जबरदस्ती बनाये गये मुसलमानों के उदाहरण हैं। ये लोग सदियों तक हिन्दू रीति-रिवाजों को मानते रहे और अब इन्हें पुन: हिन्दू धर्म में लिया जा रहा है। इसके उपरान्त हिन्दुओं का तथाकथित अछूतों के प्रति दुर्व्यवहार भी एक कारण बना, जिससे कि करीब डेढ़ करोड़ अछूत मुसलमान बन गये और लगभग ४५ लाख अछूतों को ईसाइयत की गोद में जाने के लिए विवश होना पड़ा।

इस आवश्यक विषयान्तरण के लिए अपने पाठकों से क्षमा माँगते हुए मैं उन तरीकों का जिक्र करूँगा, जो मुसलमान मुल्लाओं द्वारा अपनाये जाते हैं और जिन्हें प्रोफेसर आर्नल्ड शान्तिपूर्ण प्रचार तथा समझाना-बुझाना कहते हैं। वह लिखता है—"दक्षिण भारत में इस्लाम का प्रथम प्रवेश आठवीं सदी में हुआ जबकि शरणार्थियों का एक जत्था ईराक से चलकर इस देश में आया। मोपला मुसलमान अपने-आपको इन्हीं का वंशज मानते हैं। इन मुस्लिम व्यापारियों और उस समय के शासकों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत मैत्रीपूर्ण रहे। इस्लाम को स्वीकार करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली गई।

यदि स्थानीय लोग इस्लाम ग्रहण कर लेते थे तो उन्हें आगन्तुक विदेशी व्यापारियों के जितना ही सम्मान मिलता था, यद्यपि धर्मान्तरण होने के पहले वे समाज के निम्नतम वर्ग के ही थे।" (पृष्ठ २६३-२६४)

इसके बाद मलाबार के एक हिन्दू राजा का किस्सा आता है जिसने गुप्त रूप से इस्लाम को स्वीकार किया, अरब चला गया और वहीं बीमार होकर मर गया। किन्तु अपनी मृत्यु-शैया पर ही उसने अपने मुसलमान साथियों से कहा—वे मजहब के प्रचार के लिए मलाबार अवश्य जायें। उसने भारत-स्थित अपने सूबेदारों के नाम सिफारिशी पत्र भी लिखकर दिये ताकि उन्हें भारत जाने पर सहायता मिले तथा उनसे यह भी अनुरोध किया कि वे उसकी मृत्यु के समाचार को प्रकट न करें। यद्यपि इस कहानी का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है, किन्तु मलाबार के हिन्दुओं के इस्लाम ग्रहण करने में इस कथा की प्रमुख भूमिका रही है।

कालीकट का राजा जमोरिन अरबों के व्यापार का प्रमुख संरक्षक था। कहा जाता है कि उसने हिन्दुओं के इस्लाम में प्रविष्ट होने को बढ़ावा दिया। इसका कारण यह बताया जाता है कि अपने व्यापार की वृद्धि के लिए वह अरबों के जहाजों पर निर्भर रहता था। उसने एक आदेश यह भी दिया था कि उसके राज्य के मछुवारों के प्रत्येक परिवार में एक या अधिक पुरुष का मुसलमान बनना लाजमी होगा। ऐसा लगता है कि यहाँ हिन्दुओं की लोभ की प्रवृत्ति मुस्लिम मौलानाओं की चालाकी का शिकार बन गई थी।

दक्षिण भारत के अनेक जिलों में धर्मान्तरण का वर्णन करने के पश्चात् आर्नल्ड मुलतान, सिंध तथा अन्य स्थानों के मुस्लिम सन्तों के एतद्विषयक प्रयत्नों का उल्लेख करता है। ऐसा लगता है कि जेसुइस्टों के प्रतिनिधि के रूप फ्रान्सिस जेवियर के आने के एक सदी से भी अधिक समय पूर्व भारत में मुस्लिम प्रचारकों द्वारा धर्मान्तरण का कार्य आरम्भ किया जा चुका था। मुसलमान सन्तों ने यह कार्य चमत्कारों के द्वारा किया।

इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध प्रचारक विख्यात सैयद यूसुफल दीन, अब्दुल-कादिर जिलानी का वंशज था। इसे एक स्वप्न में आदेश हुआ कि वह बगदाद से भारत जाकर वहाँ के लोगों को इस्लाम में दीक्षित करे। वह १४२२ में सिंध आया और दस वर्षों तक परिश्रम करने के पश्चात् उसने लोहाना जाति के ७०० परिवारों को इस्लाम कबूलवाने में सफलता पाई। ये लोग अपनी ही जाति के दो सदस्यों सुन्दरजी और हंसराज का अनुकरण कर मुसलमान बन गये। उक्त दोनों व्यक्तियों ने उक्त सन्त द्वारा प्रदर्शित कुछ चमत्कारों को देखा और इस्लाम को स्वीकार कर लेने पर उनके नाम क्रमशः आदमजी और ताजमुहम्मद रक्खे गये। १४३० के लगभग खोजा सम्प्रदाय के मुखिया, इस्माइली मत के प्रचारक

पीर सदरअलदीन के प्रयत्नों ने भी सिंध को मुसलमान बनाया। अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के मुताबिक उसने हिन्दू नाम अपनाया और हिन्दुओं के कुछ धार्मिक विश्वासों को लेकर भी समझौता कर लिया, क्योंकि ऐसा करके वह उन्हें धर्मान्तरित करना चाहता था। उसने 'दसावतार' नामक एक पुस्तक का प्रचार अपने अनुयायियों में किया, जिसमें यह कहा गया था कि हजरत अली विष्णु के दशम अवतार हैं। प्रारम्भ से ही यह पुस्तक खोजा सम्प्रदाय का स्वीकृत ग्रन्थ माना जाता है। इसे मृत व्यक्ति के निकट पढ़ा जाता है। अन्य अनेक उत्सवों पर भी इसका पाठ होता है। यह सम्प्रदाय विष्णु के हिन्दू धर्म में प्रसिद्ध नौ अवतारों को तो यथावत् मानता है, किन्तु इसकी मान्यता है कि दशावतार की कल्पना तब तक पूरी नहीं हो सकती, जब तक दसवें अवतार के रूप में अली के अवतार को न माना जाये। सम्भवत: वैष्णवों के शाकाहारी होने के कारण ये उन्हें अधूरा मानते हैं, जब कि इस्माइलियों के सिद्धान्त को परिपूर्ण समझते हैं। इनके विचार में ब्रह्मा मुहम्मद, विष्णु अली और आदम शिव का रूप हैं। (पृष्ठ २७४)

वर्तमान में सर आगा खाँ को दसवाँ अवतार माना जाता है। इस्माइलिया प्रचारकों में पीर सदरअलदीन ही पहला नहीं था, जो भारत आया। उसके पहले १०६१ ई० में यमन से अब्दुल्ला आया था। इस्मालियों का दूसरा धर्म-प्रचारक नूरअलदीन, जिसका बहुप्रचलित हिन्दू नाम 'नूर सतगुरु' है, अलामत से भारत में भेजा गया। यह स्थान इस्माइलियों का प्रमुख केन्द्र है। यह गुजरात में हिन्दू राजा सिद्धराज (१०९४--११४३) के राज्यकाल में भारत में आया। उसने एक हिन्दू नाम रक्खा था, किन्तु उसने मुसलमानों को बताया कि उसका वास्तविक नाम सैयद सादात है। उसने गुजरात की कुनबी, खाखा तथा कोरी जैसी निम्न जातियों को मुसलमान बनाया।

कुछ अन्य इतिहासकार बोहरा सम्प्रदाय के प्रथम प्रचारक होने का सम्मान मुल्ला अली को देते हैं। इसके धर्मप्रचार के तरीकों का विवरण एक शिया इतिहासकार ने इस प्रकार दिया है—"उन दिनों गुजरात के लोग काफिर थे और अपने धार्मिक नेता के रूप में एक बूढ़े आदमी को मानकर उसकी शिक्षाओं का अंधानुकरण करते थे। मुल्ला अली ने इस परिस्थिति में यही उचित समझा कि वह उस वृद्ध मनुष्य के निकट जाकर उसे अपना शिष्य बनने के लिए कहे। उसका यह भी विचार था कि वह अपने पक्ष में ऐसे सुदृढ़ प्रमाण पेश करेगा जिसके कारण उक्त व्यक्ति मुसलमान बन ही जायेगा और इसके पश्चात् वह उसके माध्यम से दूसरों को भी इस्लाम में प्रविष्ट करा सकेगा। इसी विचार से उसने उस बूढ़े आदमी की सेवा में कुछ वर्ष व्यतीत किये, और उस देश के लोगों की भाषा सीखकर तथा उनके ग्रन्थों को पढ़कर उनके धर्म-तत्त्व को जान

लिया। धीरे-धीरे उसने उस वृद्ध पुरुष के प्रबुद्ध मस्तिष्क के समक्ष इस्लाम की सचाई को पेश किया और उसे मुसलमान वन जाने की प्रेरणा की। उसने इस्लाम को कुबूल कर लिया और उसके पश्चात् उसके कुछ अनुयायियों ने भी ऐसा ही किया। अन्ततः उस देश के राजा के मुख्यमंत्री को यह पता चला कि इस वृद्ध पुरुष ने धर्मान्तरण कर इस्लाम स्वीकार कर लिया है, तो वह स्वयं भी उसकी सेवा में उपस्थित हुआ और उससे आध्यात्मिक मार्गदर्शन देने की याचना की। परिणामतः वह भी मुसलमान हो गया। इन धर्म-परिवर्तनों की बात राजा से अविदित ही रही, किन्तु अन्ततः उसे इसका पता चल ही गया। एक दिन विना पूर्वसूचना दिये वह मंत्री के घर चला गया। वहाँ उसने मंत्री को सिजदा कर नमाज पढ़ते देखा तो उसपर विगड़ उठा। मंत्री को जव राजा के आने का कारण मालूम हुआ और उसने सोचा कि उसकी प्रार्थना के इस तरीके को देखकर राजा नाराज हुआ है, किन्तु ईश्वरीय प्रेरणा तथा दैवी अनुकम्पा से उसे मौके के अनुसार एक बात सूझ गई और उसने कहा कि वह तो कमरे के एक कोने में छिपे हुए साँप को इस प्रकार झुक-झुककर देख रहा था। जव राजा ने कमरे के उस कोने की ओर नजर घुमाई तो ईश्वर की मर्जी के अनुसार उसे वहाँ सचमुच एक साँप दिखाई दिया। अव उसे अपने मंत्री की बात का विश्वास हो गया और उसका मन संदेहमुक्त हो गया। अन्ततः राजा भी गुप्त रूप से मुसलमान हो गया, किन्तु राजनैतिक कारणों से उसने इसे छिपाये रक्खा। जब उसकी मृत्यु का समय आया तो उसने आदेश दिया कि उसकी मृत देह को काफिरों के रिवाज के मुताबिक जलाया नहीं जाये।

(पृष्ठ २७५-२७६)

मुसलमान फकीरों का यह अन्तिम उदाहरण यह बताने के लिए काफी है कि उनके द्वारा किस प्रकार धर्म-परिवर्तन किया जाता था। पुरोहितों के मार्ग-दर्शन में चलनेवाले हिन्दुओं के भोलेपन का फायदा उठाकर चालाक मुल्लाओं ने अपने अनुयायियों की संख्या को बढ़ाया। और जव यह पता चला कि चमत्कारों की ये सारी दास्तानें तो मुसलमान किस्सा लिखनेवालों की ही कार-स्तानी हैं, जिन्होंने इस्लाम की विजय को प्रदर्शित करने के लिए अतिशयोक्ति करने को अपना धार्मिक कर्त्तव्य माना था, तो समझा-बुझाकर लोगों को मुसल-मान बनाने की उनकी चालाकियों का पर्दाफाश हो गया।

औरंगजेब की मृत्यु और मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् इस्लाम में धर्मान्तरित होने का काम रुक-सा गया और जब भारत में ब्रिटिश हुकूमत की स्थापना हो गई तो ईसाई मिशनरी हिन्दुओं की ही भाँति मुसलमानों के लिए भी चिन्ता के कारण वन गये। किन्तु स्वामी दयानन्द के आविर्भाव तथा वेदों की ओर लौटने के उनके उद्घोष ने ईसाइयत की प्रगति को रोक दिया और भारत

के दोनों महान् धर्म—हिन्दू और मुसलमान, अपने अस्तित्व के विनाश की आशंका से मुक्त हो गये।

हाल के वर्षों में इस बात के अनेक प्रमाण मिले हैं जिनसे जाना जाता है कि इस्लाम को भारत में और अधिक फैलाने के लिए प्रयास किये जा रहे हैं और इसमें सफलता भी मिल रही है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस प्रचार-कार्य-क्रम को अधिक बढ़ावा मिला है। एक वर्ष में धर्मान्तरण के आँकड़े भिन्न-भिन्न रहे हैं—दस हजार, पचास हजार, एक लाख तथा छः लाख। किन्तु इसकी सही जानकारी प्राप्त करना कठिन है, कारण कि मुस्लिम-प्रचार का काम व्यक्तिगत स्तर पर चलाया जाता है और इस कार्य का कोई केन्द्रीय संगठन नहीं है। न इस काम की रिपोर्ट ही उपलब्ध होती है तथा मुस्लिम प्रचारकों की सफलता के विवरण को भी अतिशयोक्तिपूर्वक प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ, कहा जाता है कि पंजाब में हाजी मुहम्मद ने दो लाख हिन्दुओं का धर्मान्तरण किया है। (पृष्ठ २८२-२८३)

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि भारत के मुसलमान प्रचारकों का अधिकांश उत्साह इस्लाम-विरोधी उन प्रवृत्तियों के प्रतिकार करने में ही देखा जाता है, जो ईसाई प्रचारकों तथा आर्यसमाज के द्वारा संचालित हैं। उनके प्रयत्न प्राय: प्रचारात्मक होने की अपेक्षा सुरक्षात्मक ही दिखाई देते हैं। किन्तु इतिहास में नजारियों के इमाम के सीधे वंशज कहे जानेवाले आगाखानी मिशनरी अपने पीर सदरअलदीन तथा मुल्ला अली के पदों का अनुसरण करते हुए आज भी गुप्त रूप से हिन्दुओं का धर्म-परिवर्तन करते देखे जाते हैं।

वर्तमान आगा खाँ के पितामह को फारस के बादशाह की नाराजगी के कारण वहाँ से भाग जाना पड़ा था। उन्होंने अफगान-युद्ध में अंग्रेजों की सहायता की और अपने ही धर्मानुयायियों के विरुद्ध सिंध-विजय में भी वे अंग्रेजों के सहायक बने। इसके पुरस्कार के रूप में अंग्रेजी सरकार ने उन्हें पेंशन देना स्वीकार किया। आगा हसन अली शाह ८४ वर्ष की आयु में मरे और उनकी गद्दी पर उनके पुत्र अलीशाह विराजमान हुए। इनकी मृत्यु १८८५ में हुई और उसके पश्चात् उनके पुत्र सुलतान मुहम्मदशाह इस पद के अधिकारी बने। ११ वर्ष की आयु में ही ये हिज हाइनेस सर आगा खाँ के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी शिक्षा अंग्रेजों के नियंत्रण में हुई और कुछ समय पश्चात् उन्हें अपनी उच्च शिक्षा समाप्त करने के लिए यूरोप जाना पड़ा। उनकी अनुपस्थिति में उनके अनुयायियों में फूट पड़ गई। जो लोग उनसे पृथक् हो गये, वे असना अशहरी खोजा कहलाने लगे। आगा खाँ के यूरोप से लौटने पर उनके कुछ अनुयायियों ने घात लगाकर अपने विरोधियों पर बर्छियों से हमला किया जो उस समय नई मस्जिद में जा रहे थे। इस मुठभेड़ में एक व्यक्ति मरा और कई घायल हो गये। इस प्रकार

उन्होंने अलामत नजारियों की ही परम्परा का निर्वाह किया, किन्तु आगा खाँ ने उनके इस कार्य की भर्त्सना की और उन्हें कहा कि ऐसा करने से उनके अंग्रेज मालिक खफा होंगे और उनके सम्प्रदाय की हानि होगी।

हमारे इस निवन्ध की सीमा में इन सम्प्रदायों के उन आधुनिक आन्दोलनों के इतिहास को समाविष्ट करना कठिन है, जो मानव-प्रकृति के भोलेपन का लाभ उठाते हैं। इसलिए आगाखानी प्रवृत्तियों की समीक्षा का कार्य हम भविष्य के लिए रख छोड़ते हैं। किन्तु जेसुइस्टों द्वारा अपनी अहंभावना की तुष्टि के लिए की गई गुप्त हत्याओं का संक्षिप्त वृत्तान्त यहाँ प्रस्तुत करना अनुपयुक्त नहीं होगा।

ईसाई असेसियन

जेसुइस्ट हत्यारों के उत्थान और पतन की मुस्लिम हत्यारों के इतिहास के साथ विचित्र समानता दिखाई पड़ती है, क्योंकि पूर्व-वर्णित लोग उत्तरवर्तियों के सीधे वंशज हैं। जब हसन-बिन-सब्बाह् के वंशजों ने दो सदियों तक मुस्लिम साम्राज्य का शासन किया और बड़े-बड़े राजा और उनके मंत्रीगण उनके नाम के उल्लेख-मात्र से काँप जाते थे, तब एक समय ऐसा भी आया, जब हलाकू खाँ ने भयंकर प्रतिकार की भावना से इन अत्याचारों का अन्त कर दिया। इसी प्रकार यूरोप के राज्य शताब्दियों तक जेसुइस्टों के नाम के उल्लेखमात्र से काँप जाते थे। फलत: यूरोप के प्रत्येक देश में से जेसुइस्टों को निकाल बाहर किया गया। थ्योडर ग्रिसिंजर के अनुसार—"परिस्थितियाँ ऐसी बनीं कि यूरोप के विभिन्न देशों के शासकों को जेसुइस्ट समाज से इतना अधिक भय हो गया, जिससे वे यह मानने लगे कि यदि उन्हें भविष्य में सुख-चैन की नींद लेनी है, तो उन्हें इस भयानक सम्प्रदाय से ताकत के बल पर छुटकारा पाना ही होगा।"

इसके पश्चात् लेखक ने जेसुइस्ट सम्प्रदाय के धार्मिक विश्वासों के कुछ उदाहरण दिये हैं, जिनमें से कुछ का संकलन मैंने इस प्रकार किया है—

१. यदि कोई राजा अपने से पूर्ववर्ती का सिंहासन हड़पकर सत्ता हथिया ले, तो उसकी प्रजा को उसे मारने का हक है। किन्तु उस राजा ने चाहे सत्ता को हथियाकर प्राप्त न भी किया हो, यदि वह अपनी प्रजा को अनावश्यक करों के भार से लादता है, तो उसे मारा जा सकता है।

२. कोई अवैध आक्रामक, चाहे वह सेनापति, राजकुमार या राजा ही क्यों न हो, उसे मारने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक शासक, जो अपनी प्रजा के साथ दुर्व्यवहार करता है, उसे एक जंगली और हिंसक पशु की भाँति खत्म किया जा सकता है।

३. किसी देश के राजा के खिलाफ उस देश में रहनेवाले पादरी द्वारा किये

जानेवाले विद्रोह को अधिक गम्भीर देशद्रोह नहीं मानना चाहिए, क्योंकि पादरी किसी राजा की प्रजा नहीं होता।

४. यह हमारे मत का सिद्धान्त है कि पोप को अधर्मी और विद्रोही राजाओं को निष्कासित करने का अधिकार है। पोप के द्वारा सिंहासन से हटाये गये राजा को वैध शासक नहीं माना जा सकता। ऐसा राजा निष्कासित किये जाने के बाद यदि पोप की आज्ञा का पालन करने में संकोच करता है तो उसे निरंकुश समझा जाना चाहिए, और उसे मृत्युदण्ड दिया जाना उचित है।

निश्चय ही, राजहत्या का पाठ इससे अधिक स्पष्ट शब्दों में पढ़ाया नहीं जा सकता। पेरिस की संसद तो इन आदेशों को पढ़कर इतनी अधिक भयाक्रान्त हुई कि उसने जल्लाद के हाथों उस पुस्तक को १६ जून १६१४ को जला देने का आदेश दिया, जिसमें इन मन्तव्यों का उल्लेख था। (पृष्ठ ५०९-५१०)

रोम के जेसुइस्ट चर्च के भीतर निम्न शब्द अंकित हैं—

"मैंने समस्त धरती पर एक आग को भेजा है, इसलिए मैं इसके अतिरिक्त और क्या इच्छा कर सकता हूँ कि सारा संसार ही इस आग की ज्वालाओं में जलकर भस्म हो जाये।"

जेसुइस्टों के संस्थापक का यह रूप था! उसकी उपर्युक्त भयंकर मनोवृत्ति का आगे आनेवाले धर्मान्ध जेसुइस्ट शहीदों ने परिष्कार (?) ही किया है, उसी प्रकार, जिस प्रकार पैगम्बर मुहम्मद के बाद आनेवाले खलीफाओं ने अपने धर्मसंस्थापक को बहुत पीछे रख दिया तथा उनके शेखों ने अपनी तलवारों के बल पर मुस्लिम संसार में प्रलय मचा दी। कई सैकड़ों उदाहरणों में से कुछ चुने हुए तथ्य ईसाई फिदवियों के हिंसक और गुप्त जिहाद की धारणा को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं—

१. १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जर्मनी का राजा लियोपोल्ड प्रथम जेसुइस्टों के क्रोध का शिकार हुआ। उसका लालन-पालन दो जेसुइस्ट पादरियों की देखरेख में हुआ था तथा वह इस सम्प्रदाय के प्रति पूर्ण आग्रह भी रखता था, किन्तु उसमें विवेक का स्वल्पांश बच रहा था और यद्यपि वह जेसुइस्टों की प्रत्येक आज्ञा को मानने के लिए तैयार रहता था, किन्तु जब उन्होंने एक सार्व-भौम कैथोलिक राजतन्त्र की स्थापना का विचार उसके सामने रक्खा, जिसमें जेसुइस्ट मत को सर्वाधिक महत्त्व दिये जाने की व्यवस्था थी, तो लियोपोल्ड प्रथम ने उनके द्वारा नियंत्रित होने से इन्कार कर दिया, जिससे कि उसे उनका क्रोधभाजन होना पड़ा। इसपर जेसुइस्टों ने ऐसी मोमबत्तियों के प्रकाश के द्वारा उसे धीमे प्रकार से विष देना आरम्भ किया जो सम्राट् के अस्वस्थ होने पर उसके कक्ष में जलाने के लिए दी जाती थीं। एक सज्जन महानुभाव जो जेसुइस्टों की घृणा का पात्र बन चुका था, उसे आस्ट्रिया में आने पर गिरफ्तार कर लिया

गया। सम्राट् की बीमारी के लक्षण जानकर उसने उसकी चिकित्सा का प्रस्ताव किया, इसपर उसे सम्राट् के कक्ष में ले-जाया गया, जहाँ जाकर उसने कमरे के प्रत्येक कोने का निरीक्षण किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कमरे में जलने-वाली मोमबत्तियों को विषमिश्रित कर दिया गया है। इनसे निकलनेवाला धुँआ राजा के स्वास्थ्य का विनाश कर रहा है और उन्हें मौत के निकट पहुँचा रहा है। इस तथ्य को सत्यापित करने के लिए एक कुत्ता वहाँ लाया गया और मांस के टुकड़ों में उन मोमबत्तियों को डालकर उसे खिला दिया गया। परिणाम-स्वरूप कुत्ता एक घण्टे के भीतर ही घोर यन्त्रणा भोगकर मर गया। इसपर उन मोमबत्तियों को नष्ट कर दिया गया और राजा को उस कमरे से हटाकर अन्यत्र रक्खा गया। उसके स्वास्थ्य में अपेक्षित सुधार होने लगा और जाँच करने पर पता चला कि इन मोमबत्तियों को भेजनेवाले वियेना के जेसुइस्ट सम्प्रदाय के फादर प्रोक्यूरेटर ही थे। इस प्रकार जेसुइस्टों के षड्यंत्र का भण्डाफोड़ हो जाने पर उन्होंने उस फादर को दूर भेज दिया तथा सम्राट् के समक्ष उसकी भरपूर निन्दा करते हुए उसे घृणित बदमाश तक कहा। किन्तु उन्होंने सम्राट् को यह कहकर धोखा दिया कि उन्होंने उक्त फादर की जंजीरों में जकड़कर रोम में जेसुइस्टों के प्रधान पादरी के पास भेज दिया है, तथा उसे एक अपराधी के रूप में सजा दी जायगी। उन्होंने लियोपोल्ड प्रथम के समक्ष घड़ियाल जैसे आँसू बहाये और उसने उनकी इस बात पर विश्वास भी कर लिया। इतिहास हमें बताता है कि जर्मनी में लम्बे समय तक जेसुइस्टों को सर्वोच्चता प्राप्त रही थी।

२. इंग्लैण्ड में हेनरी अष्टम के द्वारा कैथोलिक मत पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। किन्तु उसकी पुत्री खूनी मेरी के शासनकाल में इस मत ने अपना सिर पुन: उठाया और हजारों प्रोटेस्टेंटों को फाँसी के तख्तों पर झुला दिया गया। उसकी उत्तराधिकारिणी महारानी ऐलिजाबेथ (प्रथम) के राज्य में यह खूनी अत्याचार बन्द हुआ। ऐलिजाबेथ प्रोटेस्टेंट थी, किन्तु वह इतनी समझदार थी कि उसने कैथोलिक मत को भी सहन किया और उसके दृष्टि-कोण में कोई अन्तर नहीं आता, यदि जेसुइस्टों ने उसे परेशान न किया होता। जेसुइस्टों ने पोप को ऐलिजाबेथ को ईसाई धर्म सेव हिष्कृत करने के लिए एक बिल लाने के लिए प्रवृत्त किया। जब प्रोटेस्टेंट मत को माननेवाले इंग्लैण्ड पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तो उन्होंने यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया और लोगों को कहने लगे कि इंग्लैण्ड के सिंहासन का अधिकार ऐलिजाबेथ को न मिलकर मेरी स्टुअर्ट को मिलना चाहिए।

१५८१ में जेसुइस्टों ने ऐलिजाबेथ को मार डालने का षड्यंत्र किया तथा कैथोलिक युवकों द्वारा फ्रांस और स्पेन में खोले गये कॉलेजों की सहायता से

मेरी स्टुअर्ट को सिंहासन पर बिठाने का विचार किया। ऐलिजाबेथ ने अपने पाँच विश्वासपात्र नौकरों को वास्तविक तथ्यों को जानने के लिए भेजा। उन्होंने अपने-आपको निष्कासित कैथोलिक बताकर जेसुइस्ट संस्थाओं में प्रवेश पा लिया और शीघ्र ही षड्यन्त्र की जानकारी प्राप्त कर ली। इस षड्यन्त्र को सफल बनाने के लिए जिन तीन जेसुइस्टों ने इंग्लैण्ड में प्रवेश किया था, वे गिरफ्तार कर लिये गये और एक दिसम्बर १५८१ को उन्हें फाँसी दे दी गई। इस प्रकार यह षड्यंत्र आरम्भ में ही कुचल डाला गया। जेसुइस्टों के विरुद्ध कानूनों को सख्त बनाया गया किन्तु उन्होंने भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए और आगे कुचालें चलने की सोची।

उनका अगला कदम अधिक सोच-विचार के पश्चात् रक्खा गया था। विलियम पेरी नामक एक अंग्रेज संभ्रान्त पुरुष कुछ विपरीत परिस्थितियों में पड़ जाने के कारण यूरोपीय महाद्वीप में गया और जेसुइस्टों से जा मिला। इस प्रसंग में उसकी घनिष्ठ मैत्री फादर बेनेडिक्ट पालिमयो से हो गई। दोनों ने एक-दूसरे को भलीभाँति समझ लिया और इस नये बने जेसुइस्ट ने प्रतिज्ञा करते हुए कहा कि ईश्वर के गौरव की रक्षा के लिए तथा इंग्लैण्ड के कैथोलिकों को भयानक उत्पीड़न से बचाने के लिए वह महारानी ऐलिजाबेथ के प्राणहरण करने के लिए अपनी जान को भी दाँव पर लगा देगा। इसके बाद वह पालिमयो से धन और सिफारिशी पत्र लेकर पेरिस के लिए चल पड़ा और अपने इस दुस्साहस की सुरक्षा का वचन लेकर वह १५८४ की फरवरी में इंग्लैण्ड लौट आया।

लन्दन आकर उसने अपने-आपको एक उत्साही प्रोटेस्टेंट के रूप में प्रसिद्ध किया और रानी ऐलिजाबेथ से भेंट का समय भी माँग लिया। इसके लिए उसने बहाना बनाया कि वह कैथोलिकों द्वारा रचे गये एक षड्यंत्र का भण्डाफोड़ करने के लिए महारानी से मिलना चाहता है। इस प्रकार उसने महारानी की भी कृतज्ञता उपार्जित की तथा अपने-आपको बचाकर निकाल ले-जाने के लिए अपने एक गरीब रिश्तेदार नेविल को तैयार किया। किन्तु ज्यों ही इस षड्यंत्र को क्रियान्वित करने का अवसर आया, नेविल का एक धनी रिश्तेदार मर गया, और मृत व्यक्ति की सम्पत्ति को प्राप्त करने की आशा में नेविल ने इस षड्यंत्र का भण्डाफोड़ कर दिया। पेरी को गिरफ्तार कर लिया गया और नेविल के सामने खड़ा करने पर उसने अपना अपराध कुबूल कर लिया। विलियम पेरी को फाँसी हो गई, किन्तु जेसुइस्ट फादर लोग भाग गये।

दो वर्ष पश्चात् ऐलिजाबेथ की हत्या का एक और प्रयत्न हुआ। इसे बेबिंगटन के द्वारा जॉन सेवेज नामक एक कट्टरपन्थी की सहायता से पूरा किया जाना था। जब षड्यंत्र में भाग लेने को तैयार लोग घबराने लगे तो जेसुइस्ट पादरियों ने इस पैशाचिक कृत्य को पूरा करने के फलस्वरूप उन्हें स्वर्ग में आनन्द

और अमरत्व की प्राप्ति का प्रलोभन दिया और इस कार्य हेतु उन्हें सन्नद्ध किया। इस षड्यंत्र की भी पोल खुल गई और फादर बुलार्ड सहित दोनों षड्यंत्रकारी मार डाले गये। दो अन्य प्रयत्न भी हुए, किन्तु इस बार भी षड्यंत्रकर्त्ताओं को फाँसी पर लटका दिया गया।

ऐलिजावेथ की मृत्यु के पश्चात् जेम्स प्रथम इंग्लैण्ड के सिंहासन पर विराजमान हुआ। जेसुइस्टों को आशा थी कि ऐलिजावेथ द्वारा उनपर लगाये गये प्रतिबन्ध अब हटा लिये जायेंगे, किन्तु जेम्स दृढ़ रहा। इसपर जेसुइस्टों ने न केवल राजा, किन्तु समस्त संसद-सदस्यों की हत्या करने की योजना बनाई। इसका परिणाम उस बारूद के षड्यंत्र के रूप में सामने आया, जो इंग्लैण्ड के इतिहास में प्रसिद्ध है। यह एक संयोग ही था कि इस षड्यंत्र का भण्डाफोड़ हो गया और षड्यंत्रकर्त्ताओं को ३० जनवरी १६०६ को फाँसी दे दी गई। इस बार जेसुइस्ट पादरियों को भी पकड़ा गया। यद्यपि उन्होंने लड़ने की कोशिश की, किन्तु अन्ततः वे गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया।

इसके पश्चात् तो अंग्रेज लोग जेसुइस्टों के कट्टर शत्रु ही बन गये और यदि उनमें कोई निरपराध भी होता तो पकड़े जाने पर उसे भी मार डाला जाता। चार्ल्स प्रथम और चार्ल्स द्वितीय के शासनकाल में उन्होंने इंग्लैण्ड में प्रविष्ट होने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें निराशा ही हाथ लगी। इंग्लैण्ड ने अब इस ईसाई हत्यारों से निजात पा ली थी।

नीदरलैण्ड्स में इनका पहला शिकार ऑरेंज का राजकुमार विलियम प्रथम था, जिसने उस राष्ट्र को कैथोलिक मत की गुलामी से आजाद कराया। उन्होंने एक दिवालिया युवक जॉन-जारगे को पकड़ा जिसने गुप्त कार्य के लिए यूसुका (Yusuka) तथा एनास्त्रो (Anastro) नामक दो अन्य व्यक्तियों की सेवा इसके लिए ली। विलियम को कहा गया कि एक प्रार्थी उनसे मिलना चाहता है। अतः वह भोजनकक्ष से समीपवर्ती कमरे में जाने के लिए उठा। ज्योंही वह उस कमरे में घुसा, उसे एक गोली की आवाज सुनाई दी और उसके दाहिने कान पर बन्दूक की गोली आकर लगी। इससे उसकी भीतरी रक्त-धमनी और बायाँ गाल जख्मी हो गये। वह गिर पड़ा, किन्तु उसने अपना होश नहीं खोया। सावधान होने पर उसे बताया गया कि एक हत्यारे ने उसपर गोली चलाई थी। वह चिल्लाकर बोला, "उसे गोली मत मारना, किन्तु मेरे सामने पकड़कर ले आओ, क्योंकि मैं स्वयं देखूँगा कि वह कौन है?" दुर्भाग्यवश इस आदेश के दिये जाने में मात्र पाव घण्टे की देर हो गई थी, क्योंकि ऑरेंज राज्य के अतिथियों ने गोली की आवाज सुनते ही हत्यारे को काबू कर लिया और अपनी तलवारों से उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे (पृष्ठ ५४७-५४८)। दो अन्य जेसुइस्ट पादरियों को भी ढूंढ निकाला

गया और उन्हें फाँसी दे दी गई। १५८३ में उसपर विश्वासघात करके एक और आक्रमण किया गया, किन्तु इस बार वह बच नहीं सका। ऑरेंज राज्य का राजकुमार मॉरिस अपने पिता की गद्दी पर बैठा तो जेसुइस्टों ने उसके प्राण-हरण का भी षड्यन्त्र किया। इस बार उनका भण्डा फूट गया। हत्या करने के लिए तैयार किये गये व्यक्तियों को फाँसी हुई और जेसुइस्टों के हाथ से हालैण्ड सदा के लिए चला गया।

पेरेग्वे, पुर्तगाल, स्पेन तथा फ्रांस में जेसुइस्टों द्वारा की गई राजाओं की हत्या ने प्रलय मचा दी और षड्यन्त्रों को बढ़ावा दिया। परिणामस्वरूप वे इन सभी देशों से निकाले गये। फ्रांस की संसद ने इस सोसाइटी को धर्म के प्रत्येक सिद्धान्त का विनाशक तथा ईसाइयत के नैतिक उपदेशों का अपमान करनेवाली ठहराया और कहा—

"ऐसी सोसाइटी को कभी सहन नहीं किया जा सकता, इसलिए फ्रांस से तो इसका सर्वथा उन्मूलन ही कर दिया जाय। किन्तु अब तक जो लोग इसके सदस्य रहे हैं, वे यदि रोम-स्थित इसके मुखिया से सदा के लिए और सचमुच अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहें और अपने कॉलेज तथा मकानों को राज्य के सुपुर्द कर दें, तो फ्रांस में उन्हें रहने की इजाजत दी जा सकती है। यदि वे भविष्य में वफादार नागरिक बनकर रहना चाहें और देश के कानूनों का पालन करें तो उन्हें उपयुक्त पेंशन दी जा सकती है।" जेसुइस्टों ने इन शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया और उन्हें दो महीने के भीतर फ्रांस छोड़कर चले जाने का आदेश मिला। १७४३ में इस आदेश पर सख्ती से अमल हुआ।

किन्तु जेसुइस्टों ने एक बार और अपना सिर उठाया और पोप क्लीमेंट १४वें को जेसुइस्ट सम्प्रदाय को ही खत्म करने के आदेश जारी करने पड़े। इस आदेश पर २१ जुलाई १७७३ की तिथि अंकित है, किन्तु इसे तुरन्त प्रचारित नहीं किया गया। जब इसे लागू किया गया, तो जेसुइस्ट लोग भड़क उठे और उन्होंने पोप क्लीमेंट १४वें को विष दे दिया, जिससे वह २२ सितम्बर १७७४ को मर गया।

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नेपोलियन बोनापार्ट के पतन के बाद जेसुइस्टों ने अपना सिर पुनः उठाया और रोम के पोपों के विश्वासपात्र बन गये। फ्रांस, स्पेन, नेपल्स तथा इटली में उनकी शक्ति बढ़ी, अन्ततः जर्मनी के राजकुमार बिस्मार्क ने १८७१ में उनकी सारी चालबाजियों को खत्म कर दिया।

निष्कर्ष

यहाँ मैं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ। मैं सैमेटिक मतों की भूलभुलैया में पाठकों को ले गया हूँ और संसार के ईश्वरवादियों को यह बताना चाहता हूँ

कि किस प्रकार ईश्वर के पवित्र विचार को सैमेटिक मजहबों के भीतर संगठित सम्प्रदायों ने दूषित कर दिया है। इस विचारधारा की तुलना, धर्म की, आर्यों द्वारा उपदिष्ट धारणा से की जानी चाहिए, ताकि धार्मिक जगत् के भविष्य को आशा-प्रद बनाया जा सके। किन्तु इस कार्य के लिए किसी अन्य अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी।

91489

दिल्ली
२६ फरवरी १९२५

—श्रद्धानन्द संन्यासी

R081,BHA-S
91489